श्रीमद्भट्टोजिदीक्षितविरचिता

वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी

[सविमर्श 'ध्रुवविलासिनी' हिन्दीव्याख्योपेता]

(आत्मनेपद-परस्मैपद-कृदन्तकृत्यप्रकरण
सहितं संज्ञाविवेचनम्)

व्याख्याकारः सम्पादकश्च
डॉ० रामविलास चौधरी

मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली वाराणसी पटना बंगलौर मद्रास कलकत्ता

श्रीमद्भट्टोजिदीक्षितविरचिता

वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी

[सविमर्श 'ध्रुवविलासिनी' हिन्दीव्याख्योपेता]

(आत्मनेपद-परस्मैपद-कृदन्तकृत्यप्रकरणसहितं संज्ञाविवेचनम्)

बी० ए० (प्रतिष्ठा)-एम० ए०-पाठ्यक्रमनिर्धारितम्

व्याख्याकारः सम्पादकश्च

डॉ० रामविलास चौधरी

अध्यक्ष

संस्कृतविभाग

बिहार नेशनल कालेज, पटना

(पटना विश्वविद्यालय)

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली वाराणसी पटना बंगलौर मद्रास कलकत्ता

पुरोवाक्

वाक्यकारं वररुचिं भाष्यकारं पतञ्जलिम् ।
पाणिनिं सूत्रकारञ्च प्रणमामि मुनित्रयम् ॥

× × ×

रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम् ।

पतञ्जलि का यह वाक्य व्याकरणशास्त्र के पाँच मुख्य प्रयोजनों को निर्दिष्ट करता है। व्याकरण ज्ञान के बिना आमुष्मिक फल प्राप्ति के साधनभूत वेदमन्त्रों की रक्षा या ज्ञान तथा यज्ञ का सम्पादन सम्भव नहीं है। इसी प्रकार ऐहिक फल दायक विषय के ज्ञान में भी व्याकरण उतना ही उपयोगी है। इसके ज्ञान के बिना काव्य एवं शिक्षा तथा धर्मशास्त्र आदि विषय के ग्रन्थों को कौन कहे, ज्योतिष तथा आयुर्वेद जैसे वैज्ञानिक विषयों को भी सम्यक् प्रकारेण नहीं समझा जा सकता है। व्याकरणशास्त्र भाषाशिक्षा का अपरिहार्य साधन है। वेदाङ्गों में व्याकरण की प्रमुखता के कारण ही इसे वेद रूप पुरुष का मुख कहा गया है—'मुखं व्याकरणं स्मृतम्'। इस शास्त्र की रचना में संसार की कोई जाति भारतीय आर्यों की समकक्षता में नहीं आती है।

व्याकरणशास्त्र की आरम्भिक स्थिति पर विचार करने के सन्दर्भ में हम पाते हैं कि अन्य शास्त्रों की भाँति इसका भी उद्गमस्थल वेद है। ऋग्वेद के मन्त्र—'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादाः' की व्याख्या में 'चत्वारि शृङ्गाः' का अर्थ है—'नामाख्यातोपसर्गनिपाताः'। ये नाम, आख्यात आदि व्याकरण शास्त्र से सम्बद्ध हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर व्याकरणशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली के उल्लेख मिलते हैं। सामवेद संहिता के मन्त्रों में महर्षिगण व्याकरण निर्दिष्ट पदचतुष्टय का उल्लेख कर आराध्य देवों की स्तुति करते थे। वेदों में, निर्दिष्ट स्वरों के सम्यक् उच्चारण के लिये उस समय व्याकरण की उपयोगिता अनुभूत हुई।

व्याकरणशास्त्र का आविर्भाव कब हुआ, और इसके प्रथम आचार्य कौन थे इस बारे में प्रौढ विचारों तथा अनेकानेक शोधकार्यों के बावजूद आज भी आधिकारिक रूप में कुछ भी नहीं कहा जा सकता, यद्यपि कुछ लोग ब्रह्मा को ही आदिम आचार्य बताते हैं। पतञ्जलि के महाभाष्य में दिये गये विवरण के अनुसार देवगुरु बृहस्पति ने देवराज इन्द्र की इच्छा जानकर उन्हें प्रतिपद व्याकरण पढ़ाना आरम्भ किया। हजारों वर्ष बीत गये,

किन्तु व्याकरण का अध्ययन एवम् अध्यापन समाप्त नहीं हुआ[1]। इन्द्र के नाम पर ऐन्द्र व्याकरण का उल्लेख मिलता है। इनके साथ सात और वैयाकरणों का नाम वोपदेव ने अपने ग्रन्थ कविकल्पद्रुम में गिनाया है। उनका पद्य इस सन्दर्भ में इस प्रकार है—

ऐन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशाली शाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः॥

इस श्लोक में गार्ग्य, गालव आदि प्रसिद्ध वैयाकरणों की गणना नहीं होने तथा नामोल्लेख में पौर्वापर्य का ध्यान नहीं रखे जाने के कारण ऐतिहासिकता का अभाव स्पष्ट दीख पड़ता है जिसके कारण इसकी प्रामाणिकता सन्देहास्पद हो जाती है।

सम्प्रति उपलब्ध व्याकरण ग्रन्थों में पाणिनि की अष्टाध्यायी सर्वाधिक रूप में मान्य है। यद्यपि पाणिनि से पूर्व भी अनिकानेक वैयाकरण हुए जिनका उल्लेख पाणिनि ने अपनी रचना में यत्र तत्र किया है। पाणिनि के बाद भी व्याकरण ग्रन्थों का प्रणयन होता रहा। अतः व्याकरण ग्रन्थों के रचनाकाल को विभिन्न कालखण्डों में अधोलिखित रूप में विभाजित किया जा सकता है—

(क) पूर्वपाणिनि काल।
(ख) त्रिमुनि काल।
(ग) व्याख्याकाल।
(घ) प्रक्रियाकाल।

(क) पाणिनि के पहले अनेक वैयाकरण हुए जिनका उल्लेख पाणिनि ने अपने सूत्रों में किया है। विवरण अग्रलिखित है—

वैयाकरण	सूत्र
आपिशलि	६-१-९१
काश्यप	१-२-२५ तथा ८-४-६७
गार्ग्य	७-३-९९ तथा ८-३-२०
चाक्रवर्मण	६-१-१२८
गालव	६-३-६१
शाकल्य	१-१-१६ तथा ६-१-१२५

---

१. एवं हि श्रूयते बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच नान्तं जगाम। बृहस्पतिश्च प्रवक्ता इन्द्रश्चाध्येता दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालो न चान्तं जगाम।

वैयाकरण	सूत्र
शाकटायन	८-४-५०
सेनक	५-४-११२
स्फोटायन	६-१-१२१
भारद्वाज	७-२-६३

इनके अतिरिक्त अनेक सम्प्रदाय पाणिनि से पूर्व में प्रचलित थे। वे हैं—महेश, इन्द्र, भारद्वाज, बादरायण, व्याडि तथा सुनाग आदि। इनके अतिरिक्त यास्क ने अपने निरुक्त में अनेक व्याकरणों का नाम दिया है—उदुम्बरायण, औपमन्यव, काठक्य, चर्मशिरा, शाकपूणि, शतवलक्ष, मौद्गल आदि। यास्क पाणिनि से पूर्ववर्ती थे। अतः यास्क द्वारा गिनाये गये नाम पाणिनि से पूर्व के हैं।

विद्वानों का एक बड़ा समूह महेश व्याकरण को आदि व्याकरण के रूप में मानता है जिसके कर्ता स्वयं भगवान् शिव हैं। इसी व्याकरण में प्रथमतः प्रत्याहार बनाने के लिये अइवण् आदि १४ प्रत्याहार सूत्रों की उत्पत्ति हुई थी। इस विषय में एक श्लोक है—

नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्॥

कालान्तर में महेश व्याकरण प्रचलन में नहीं रहा। बाद में शिव की आराधना करने पर पाणिनि को शिव के प्रसाद से लुप्तप्राय महेश के १४ प्रत्याहार सूत्र प्राप्त हुए जो (सूत्र) अष्टाध्यायी के प्राण हैं।

इन्द्र व्याकरण का उल्लेख वररुचि एवं ह्वेनसांग ने किया है किन्तु आजकल वह उपलब्ध नहीं है। इसी प्रकार भागुरि की चर्चा सायणाचार्य तथा वराहमिहिर आदि ने की है। व्याडि, कर्मण्य आदि का उल्लेख विभिन्न विद्वानों द्वारा किया गया है।

(ख) **त्रिमुनिकाल**—व्याकरण शास्त्र में त्रिमुनि शब्द बहु प्रचलित है। त्रिमुनि से तात्पर्य है तीन वैयाकरण अर्थात् पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि। इनमें पाणिनि काल एवं महत्ता की दृष्टि से सर्वप्रथम हैं। इनका समय ५०० ई० पू० के लगभग माना जाता है। इनका जन्मस्थान शालातुर था। अतः ये शालातुरीय कहे जाते हैं। शालातुर नामक स्थान लाहौर में था। इनकी माता का नाम दाक्षी था। पञ्चतन्त्र के अनुसार इनकी मृत्यु सिंह के द्वारा हुई।

पाणिनि की रचना आठ भागों में विभक्त होने के कारण अष्टाध्यायी कही जाती है। इस ग्रन्थ में लगभग चार हजार सूत्र हैं। पाणिनि प्रतिभा के धनी थे। वे न केवल वैदिक

एवं लौकिक संस्कृत व्याकरण के प्रौढ एवं पारङ्गत वैयाकरण थे, किन्तु उन्हें तत्कालीन भूगोल तथा इतिहास आदि का भी आधिकारिक ज्ञान था। अष्टाध्यायी की शैली संक्षिप्त है एवं पूर्णतः वैज्ञानिक है। इसी कारण उनके सूत्रों में एक वर्ण या मात्रा भी अनर्थक नहीं है: अपने विवेचन को संक्षिप्त एवं वैज्ञानिक बनाने के क्रम में उन्होंने अनेक संज्ञाओं (टि, घु, घि आदि) की कल्पना की है तथा गणपाठ की भी व्यवस्था दी है।

इस प्रकार पाणिनि ने अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों के मतों की समीक्षा करते हुए उनके नाम का उल्लेख आदर के साथ किया है। पाणिनि ने शब्दानुशासन द्वारा संस्कृत व्याकरण को एक वैज्ञानिक एवं परिष्कृत स्वरूप प्रदान किया है जो आज भी उसी रूप में समादृत है।

कात्यायन—व्याकरणशास्त्र में कात्यायन का नाम वार्तिककार के रूप में प्रख्यात है। पाणिनि के ग्रन्थ पर अब तक जितनी समालोचनायें लिखी गयी हैं उनमें कात्यायन द्वारा रचित वार्तिक का प्रमुख स्थान है। इससे पूर्व पाणिनि सूत्रों पर किसी ने हस्तक्षेप नहीं किया था। इनके वार्तिक एक तरह से अष्टाध्यायी के सूत्रों के पूरक हैं। पाणिनि की आलोचना में अपने वार्तिक उपस्थापित करते हुए कात्यायन ने अपूर्व प्रतिभा और दक्षता का परिचय दिया है। अष्टाध्यायी के लगभग १५०० सूत्रों पर कात्यायन के ४००० वार्तिक हैं।

कात्यायन पाणिनि के परवर्ती थे। अतः इनका समय ४०० ई० पू० के लगभग माना जा सकता है। पतञ्जलि के संकेत के अनुसार कात्यायन दाक्षिणात्य थे।

वार्तिकों की रचना के साथ कात्यायन ने शुक्ल यजुर्वेद संहिता के माध्यन्दिन प्रातिशाख्य, सर्वानुक्रमणी तथा वैदिक कल्पसूत्र की रचना की थी। अतः स्पष्ट है कि कात्यायन विविध विषयों में निष्णात थे। पाणिनि व्याकरण के विकास और परिष्कार में इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। पाणिनि के सूत्रों को अधिक व्यापक और परिपूर्ण बनाने के लिये इन्होंने वार्तिकों का निर्माण किया जिनमें भाषा के विकास की झलक दृष्टिगत होती है। पाणिनि के सूत्रों में दोष दिखाना इनका लक्ष्य नहीं था। डा० वेलवलकर ने ठीक ही कहा है—'कात्यायन के वार्तिकों का लक्ष्य पाणिनि के सूत्रों में संशोधन और परिवर्धन है'।

पतञ्जलि—त्रिमुनि व्याकरण के तीसरे मुनि पतञ्जलि हैं जिनकी रचना महाभाष्य है। महाभाष्य में पाणिनि के सूत्रों तथा कात्यायन के वार्तिकों की सोदाहरण व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। पाणिनि के प्रति उनकी असीम श्रद्धा है। पतञ्जलि को शेषनाग का अवतार माना जाता है। इसलिये कहीं-कहीं उनके लिये फणिभृत्, अहिपति आदि शब्दों का प्रयोग भी देखा जाता है। उन्होंने अपने को गोनर्दीय कहा है। इससे व्यक्त है कि वे गोनर्द प्रदेश के निवासी थे जो आजकल सम्भवतः गोण्डा (अयोध्या से बीस मील उत्तर पश्चिम में स्थित)

कहा जाता है। पतञ्जलि की माता का नाम गोणिका था। भाष्यकार के द्वारा पुष्यमित्र का यज्ञ कराने का उल्लेख होनेसे इनका समय १५० ई० पू० माना जाता है।

कात्यायन कृत पाणिनि की समालोचना के औचित्य का प्रतिपादन एवं परीक्षण महाभाष्य में देखा जाता है। पतञ्जलि जहाँ भी वार्तिककार को पाणिनि की भावना के विपरीत पाते हैं उन्हें वारण करते हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा कात्यायन के वार्तिक होने पर भी व्याकरण में विवेचन पक्ष की पूर्णता पतञ्जलि के महाभाष्य से आती है। व्याकरण जैसे नीरस विषय को अपनी सहज एवं सरस शैली के द्वारा पतञ्जलि ने अत्यन्त रोचक एवं ग्राह्य बना दिया है। उनकी शैली अपने खास ढंग की तथा अद्वितीय है। इसमें नाटकीयता के साथ बोलचाल की मुहावरेदार भाषा का लालित्य भी है। महाभाष्य को पढने से लगता है कि आचार्य के सामने छात्र बैठे हुए हैं। वे एक सिद्धान्त वाक्य बोलते हैं। उस पर शिष्य प्रश्न करते हैं और फिर आचार्य उसका समाधान करते हैं। उदाहरणार्थ इस ग्रन्थ का आरम्भ देखा जा सकता है, जो इस प्रकार है—

'अथ शब्दानुशासनम्।'
'केषां शब्दानाम्' ?
'लौकिकानां वैदिकानाञ्च'।

पतञ्जलि का विविध ज्ञान विषयक भाण्डार असीम है। समाज के जीवन का, देश का, दर्शन का अथवा साहित्य का शायद ही कोई पक्ष हो जिस पर पतञ्जलि की सूक्ष्मेक्षिका नहीं गयी हो। खेती से सम्बद्ध उनका उदाहरण अवलोकनीय[1] है—

अन्यार्थमपि प्रकृतमन्यार्थं भवति। तद् यथा शाल्यर्थं कुल्याः प्रणीयन्ते। ताभ्यश्च पानीयं पीयते, उपस्पृश्यते च शाल्यश्च भाव्यन्ते।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पाणिनि ने अष्टाध्यायी में शब्द रचना आदि का विवेचन सूत्र के द्वारा किया है। कात्यायन ने पाणिनि के उन नियमों में व्यापकता लाकर उनकी कमियों को वार्तिक द्वारा पूरा किया है। तथा पतञ्जलि ने महाभाष्य का निर्माण कर शब्द रचना की गुत्थियों को खोला है। वस्तुतः पातञ्जल महाभाष्य तक पहुँच कर संस्कृत व्याकरण अपनी चरम सीमा को प्राप्त कर चुका है।

(ग) **व्याख्याकाल**—व्याकरण शास्त्र का प्रौढ एवं वैज्ञानिक विवेचन पाणिनि से आरम्भ हुआ और पतञ्जलि तक अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया, किन्तु इनके बाद भी उनकी व्याख्या, टीका, टिप्पणी आदि लिखने का कार्य चलता रहा। इसलिये पतञ्जलि के बाद व्याकरण शास्त्र में व्याख्याकाल आरम्भ होता है।

---

१. महाभाष्य ६-१-५०।

इस काल के सबसे बड़े प्रौढ़ एवं प्रतिभापूर्ण विद्वान् भर्तृहरि हुए। इनका काल सप्तम शती माना जाता है। महाभाष्य पर उनकी टीका का एक अंश बर्लिन के ग्रन्थागार में सुरक्षित है। उस टीका का नाम त्रिपदी है। यह ग्रन्थ उच्च कोटि का रहा होगा। इनकी दूसरी प्रकाण्ड रचना वाक्यपदीय है जो व्याकरणशास्त्र का अत्यन्त मार्मिक एवं विदग्ध ग्रन्थ है। इस पुस्तक में तीन काण्ड हैं जिनमें प्रथम काण्ड आगम काण्ड या ब्रह्म काण्ड कहा जाता है। दूसरा भाग वाक्य काण्ड है और तीसरा पदकाण्ड या प्रकीर्णक नाम से प्रख्यात है। वे वाक्य को भाषा की आधार भूत इकाई मानते हैं इसलिये ग्रन्थ के नामकरण में पहले 'वाक्य' शब्द को रखते हैं और बाद में 'पद' को। व्याकरण के दर्शन पक्ष पर लिखा गया यह ग्रन्थ अपने ढंग का अकेला है।

संस्कृत वाङ्मय में भर्तृहरि के नाम से कई रचनायें उपलब्ध हैं। उनमें महाभाष्य-दीपिका तथा शतकत्रय प्रमुख हैं।

इस काल के अन्य प्रौढ विद्वान् हैं—वामन और जयादित्य। इनकी रचना 'काशिका' से व्याकरण शास्त्र की वास्तविक व्याख्या आरम्भ होती है। ये दोनों विद्वान् बौद्ध आचार्य थे। पाणिनि की अष्टाध्यायी पर 'काशिका' नामक टीका अपनी विशदता तथा पाणिनि के पाठ में आये परिवर्तनों के साक्ष्य के लिये प्रशंसनीय है। इस ग्रन्थ में अत्यन्त सरल शैली में पाणिनि के सभी सूत्रों का भाष्य किया गया है। सूत्रों में अनुवृत्तियों का निर्देश एवं प्रत्येक नियम के साथ अनेक उदाहरण का होना इनकी व्याख्या की अपनी विशेषता है। 'काशिका' ग्रन्थ वामन और जयादित्य दोनों के सम्मिलित प्रयास का फल है। जयादित्य ने आरम्भ के पाँच अध्याय लिखे और सम्भवतः उनकी मृत्यु के पश्चात् वामन ने अन्तिम तीन अध्यायों का प्रणयन किया। इत्सिंग के अनुसार जयादित्य की मृत्यु ६६० ई० के आस-पास हुई थी।

उदाहरण-प्रत्युदाहरण देने में काशिकाकार की सूक्ष्म दृष्टि आस्तिक साहित्य से लेकर नास्तिक साहित्य के कोनों में भी जा पहुँचती है। वस्तुतः काशिकाकार का पाण्डित्य उद्भट है और उनकी पहुँच असीम है।

'काशिका' के बाद इस सन्दर्भ में 'न्यास' का नाम आता है। यह 'काशिका' की व्याख्या है। इसे काशिकाविवरणपञ्जिका कहते हैं। यह जिनेन्द्रबुद्धि (७०० ई०) की कृति है। वे कहते हैं—

अन्यतः सारमादाय कृतैषा काशिका यथा।
वृत्तिस्तस्या यथाशक्ति क्रियते पञ्जिका तथा॥

'काशिका' पर दूसरी बृहत् टीका पदमञ्जरी है जो हरदत्त द्वारा रचित है। इस रचना में लेखक का नवीन दृष्टिकोण जगह-जगह प्रस्फुटित होता है। हरदत्त तमिल प्रदेश के निवासी थे। इनका काल नवमी शताब्दी माना जाता है।

इस काल की अन्तिम रचना महाभाष्य पर लिखी गयी 'प्रदीप' नामक टीका है जो कैयट द्वारा रचित है। कैयट का काल ग्यारहवीं सदी है। ये सम्भवतः कश्मीर के निवासी थे और काव्यप्रकाशकार मम्मट के छोटे भाई एवं शिष्य थे।

(घ) **प्रक्रियाकाल**—व्याकरण ग्रन्थों पर लिखी गयी विभिन्न व्याख्याओं तथा टीकाओं के कारण व्याकरणाध्ययन और दुरूह होता गया। इसलिये इस काल में अध्ययन की सुगमता के लिये वैयाकरणों ने पाणिनि के सूत्रों को विषय क्रम से व्यवस्थित एवं संकलित किया। इस क्रम का आरम्भ धर्मकीर्ति (बारहवीं सदी) से होता है। इनके ग्रन्थ 'रूपावतार' में अष्टाध्यायी के लौकिक भाग के सूत्रों को प्रकरण के अनुसार संकलित कर उनकी व्याख्या की गयी है।

इस काल की सर्वप्रमुख रचना 'सिद्धान्तकौमुदी' है जिसके प्रणेता भट्टोजिदीक्षित हैं। प्रक्रिया-पद्धति का यह सर्वोत्तम ग्रन्थ माना जाता है। इस ग्रन्थ में अष्टाध्यायी के लगभग चार हजार सूत्रों को विविध प्रकरणों में व्यवस्थित एवं संकलित कर उनकी वृत्ति एवम् उदाहरण दिये गये हैं। इसी के अन्तर्गत सभी लगभग दो हजार धातुओं के रूपों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। लौकिक संस्कृत के व्याकरण के विश्लेषण के अनन्तर वैदिक प्रक्रिया एवं स्वरप्रक्रिया विवेचन के पश्चात् लिङ्गानुशासन का विवरण भी दिया गया है। इस रचना में स्थान-स्थान पर परिभाषाओं, वार्तिकों तथा भाष्येष्टियों को भी सम्मिलित किया गया है। मुनित्रय के मतों के साथ दीक्षितजी ने अपना मन्तव्य भी आवश्यकतानुसार व्यक्त किया है। साथ ही कालिदास एवं माघ आदि महाकवियों के व्याकरणदृष्ट्या विवादास्पद प्रयोगों का साधुत्व प्रतिपादन भी किया है।

कालक्रम से सिद्धान्तकौमुदी की लोकप्रियता इतनी बढ़ गयी कि अष्टाध्यायी पद्धति से अध्ययन एवम् अध्यापन का कार्य प्रायः बन्द सा हो गया और महा भाष्य की महत्ता भी गौण पड़ने लगी। व्याकरण के विद्यार्थियों में यह उक्ति अत्यन्त प्रचलित हो चली—

कौमुदी यदि कण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः।
कौमुदी यद्यकण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः॥

भट्टोजिदीक्षित का काल १६०० ई० से १६५० ई० के बीच माना जाता है। ये महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम लक्ष्मीधर था। इनके गुरु थे नृसिंह के पुत्र शेषकृष्ण।

भट्टोजिदीक्षित ने अनेकानेक ग्रन्थों की रचना की है अपनी सिद्धान्तकौमुदी पर उन्होंने स्वयं ही प्रौढमनोरमा नामक टीका लिखी। काशिका के समान आधार भूमि पर शब्दकौस्तुभ

का निर्माण उनके द्वारा हुआ। इनके अतिरिक्त पाणिनीयधातुपाठ तथा लिङ्गानुशासन पर टीका इन्होंने लिखी है।

सिद्धान्तकौमुदी के आधार पर वरदराज ने मध्यसिद्धान्तकौमुदी, लघुसिद्धान्तकौमुदी तथा सारसिद्धान्तकौमुदी नामक तीन ग्रन्थों का प्रणयन किया जो आरम्भिक छात्रों के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं।

इस पद्धति में नागेश भट्ट (१८वीं सदी) ने लघुशब्देन्दुशेखर, परिभाषेन्दुशेखर, लघुमञ्जूषा, परमलघुमञ्जूषा आदि ग्रन्थों की रचना द्वारा व्याकरणशास्त्र के भाण्डार की श्रीवृद्धि की है।

अस्तु, अलमतिविस्तरेण।

विनयावनत
रामविलास चौधरी

आत्मनिवेदनम्

गहने शब्दशास्त्रे यो धत्तेऽप्रतिहतां गतिम् ।
पूज्याय गुरवे नमो रामकरणशर्मणे ॥

शब्दशास्त्र के ग्रन्थों में आचार्य पाणिनि की अष्टाध्यायी सर्वश्रेष्ठ रचना के रूप में मान्य है, किन्तु सम्प्रति महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में अष्टाध्यायी का अध्ययन एवम् अध्यापन नहीं होकर, भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्तकौमुदी के कुछ अंश बी० ए० तथा एम० ए० कक्षाओं में पढ़ाये जाते हैं । साथ ही पाणिनि की विविध संज्ञाओं का ज्ञान भी आलोचनात्मक रूप में अपेक्षित समझा जाता है ।

अन्तेवासियों के आग्रह पर कुछ समय पूर्व गुरुप्रवर विद्यावाचस्पति पं० रामकरण-शर्माजी के अमूल्य निर्देश एवं सतत सहयोग से स्त्रीप्रत्यय प्रकरण की छात्रोपयोगी व्याख्या लिखी गयी थी । स्नातकोत्तर कक्षा के विद्यार्थियों द्वारा उस ग्रन्थ को भूरिशः उपयोगी बताये जाने पर तथा शेष प्रकरणों की व्याख्या लिखे जाने का पुनः-पुनः अनुरोध आने पर उन प्रकरणों पर व्याख्या लिखने की शुरुआत की गयी, किन्तु दुर्दैववशात् असमय में आश्विन कृष्ण चतुर्थी, सम्वत् २०४९ (१६-९-९२ ई०) को पूज्यचरण गुरुदेव के गोलोकवासी हो जाने के कारण मैं बहुत मर्माहत हो उठा । कालान्तर में कुछ संयत होने पर उनके आशीर्वाद एवं प्रेरणा को सदा ध्यान में रखते हुए ग्रन्थ को पूरा करने में प्रवृत्त हुआ । मुझ पर उनकी भद्र भावना का ही प्रतिफल है कि यह ग्रन्थ आज मूर्तरूप ग्रहण कर सका है । अतः एक बार उन्हें पुनः नमन करता हूँ ।

बाल्यकाल से व्याकरणाध्ययन के प्रति मुझमें रुचि जगाने वाले तथा ग्रन्थ लेखन के लिये प्रेरित करने वाले वन्दनीय अग्रजद्वय श्री ब्रह्मदेव चौधरी एवं श्री विष्णुदेव चौधरी, ग्राम गोनुचक, बछवारा, बेगूसराय, मेरे जीवन के पथप्रदर्शक रहे हैं । अतः उनके प्रति मैं सतत श्रद्धावनत हूँ । गृहस्वामिनी ध्रुवकुमारी चौधरी घरेलू कार्यों से मुझे सदा मुक्त रखकर ग्रन्थ को शीघ्र पूरा करने के लिये नोक-झोंक करने में भी कभी हिचकती नहीं रही हैं तथा अध्यवसाय में शिथिल पाने पर मुझे आलसी एवम् बातूनी भी कहती रही हैं । उनकी तर्जना का भय नहीं होता तो कुछ और अधिक विलम्ब ग्रन्थ पूरा होने में लगता । अतः इसमें उनके योगदान को नकारा नहीं जा सकता ।

हमारे वे प्रिय छात्र भी धन्यवादार्ह हैं जिन्होंने इन प्रकरणों के अध्यापन के लिये मुझसे निवेदन किया तथा इनकी व्याख्या लिखने के लिये मुझ पर वे अनुरोध पूर्वक दबाव

डालते रहे। मोतीलाल बनारसीदास, पटना के व्यवस्थापक श्री कमलाशंकर सिंह जी भी धन्यवाद के पात्र हैं जो इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि शीघ्र तैयार करने का आग्रह मुझसे करते रहे। इस प्रकाशन के स्वामी श्री जैनेन्द्र प्रसाद जैन के प्रति आभार व्यक्त करना अपेक्षित है जिन्होंने इस ग्रन्थ के त्वरित प्रकाशन में रुचि प्रदर्शित की है।

समाप्त करने से पूर्व मैं उन सब विविध कृतियों का कृतज्ञ हूँ जिनसे इसको तैयार करने में मुझे सहायता प्राप्त हुई है। वैसे ग्रन्थों में सिद्धान्तकौमुदी की बालमनोरमा टीका, प्राभाकरी टीका एवम् रत्नप्रभा व्याख्या का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

अन्त में अपने महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय के विभागीय सहकर्मियों तथा शुभाकांक्षियों के प्रति विनयावनत हूँ जिन्होंने समय-समय पर मेरी शंकाओं का समाधान कर उचित मार्गदर्शन किया है।

इस ग्रन्थ के सन्दर्भ में विद्वज्जनों के सत्परामर्श मेरी सारस्वत-साधना में प्रेरणाप्रद एवं पाथेय होंगे।

विद्वद्विधेय

राम विलास चौधरी

संस्कृत विभागाध्यक्ष, बि. एन. कालेज पटना
पटना विश्वविद्यालय।

मेष संक्रान्ति,
सम्वत् २०५० वि०

विषय-विवरणिका

अकाराद्यनुक्रमेण परिभाषित-संज्ञा-सूची

अकाराद्यनुक्रमेण व्याख्यात-सूत्र-विवरणम्

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी

सविमर्श 'ध्रुवविलासिनी' हिन्दीव्याख्योपेता

अथ तिङन्ते आत्मनेपदप्रकरणम्

अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (सू० २१५७)

आस्ते । शेते ।

धातु से आत्मनेपद और परस्मैपद विधान करने वाले सूत्रों का उल्लेख भ्वादि प्रकरण में हुआ है। विस्तार से उनका विवेचन करने के लिये व्याख्यात सूत्रों का पुनः यहाँ उपस्थापन किया गया है। इस सूत्र में बताया गया है कि अनुदात्त स्वर और 'ङ्' की इत्संज्ञा जिन धातुओं में हो उन (धातुओं) से आत्मनेपद होता है। आत्मनेपद विधान के लिये दूसरा सूत्र है स्वरितञितः 'कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' २१५८। इसमें कहा गया है कि जिन धातुओं के स्वरित स्वर तथा 'ञ्' की इत्संज्ञा हो उन धातुओं से कर्तृगामी क्रियाफल व्यक्त होने पर आत्मनेपद होता है। कर्तृगामी से तात्पर्य है— जहाँ क्रिया के व्यापार और फल दोनों का आश्रय कर्ता ही हो। आत्मनेपद विधान के लिए यह सामान्य नियम है।

आत्मनेपदी धातु से प्रत्यय विधान के लिये सूत्र है —'तङानावात्मनेपदम्' २१५९। अर्थात् धातु से आने वाले तङ् प्रत्यय (त, आताम्, झ, थास्, आथाम्, ध्वम्, इट्, वहिङ् और महिङ्) एवं शानच् तथा कानच् प्रत्यय आत्मनेपद प्रत्यय कहे जाते हैं। तात्पर्य है कि आत्मनेपदी धातु से लट्, लोट् आदि लकारों के स्थान में त, आताम् आदि प्रत्यय होते हैं, साथ ही शानच् और कानच् भी होते हैं। अनुदात्त इत्संज्ञक का उदाहरण है—आस् धातु से आस्ते एवम् ङित् का उदाहरण है—शीङ् धातु से शेते।

रूपसिद्धि :—

आस्ते—'आस् उपवेशने' धातु अनुदात्त इत्संज्ञक है। अतः 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' २१५७ से यहाँ आत्मनेपद का विधान होने से लट् लकार के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर आस्ते पद निष्पन्न होता है।

शेते—'शीङ् स्वप्ने' धातु में 'ङ्' की इत्संज्ञा होने से इस धातु के ङित् होने के कारण 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' २१५७ से आत्मनेपद होने पर शीङ् धातु से त प्रत्यय आता है। 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' २१६६ से 'त' की सार्वधातुक संज्ञा होने पर 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' २१६८ से 'ई' का गुण ('ए') हो जाता है तथा 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ सूत्र से टि (अ) का एत्व होने पर शेते पद सिद्ध होता है।

२६७९। भावकर्मणोः १।३।१३।

बभूवे। अनुबभूवे।

यहाँ से आरम्भ होकर आत्मनेपद प्रकरण में आये प्रायः सभी सूत्रों में 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' २१५७ से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति होती है। अतः सूत्र का अर्थ है कि भाव एवं कर्म अर्थ में धातु से लट्, लोट् आदि लकारों के स्थान में आत्मनेपद संज्ञक प्रत्यय होते हैं। भाव का अर्थ है भावना या क्रिया। अकर्मक धातु से भाव में तथा सकर्मक धातु से कर्म रूप अर्थ में आत्मनेपद के प्रत्यय (त, आताम् आदि) होते हैं। व्यापार एवं फल का आश्रय जहाँ एक ही व्यक्ति हो उसे अकर्मक धातु कहते हैं। इस प्रकार व्यापार फल समानाधिकरण वाचक भू धातु अकर्मक है। अतः भाव में भू धातु से लिट् लकार के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर बभूवे रूप बनता है। अकर्मक भू धातु अनुभव रूप अर्थ में सकर्मक हो जाता है। अतः अनुपूर्वक भू धातु से लिट् लकार में कर्मवाच्य में अनुबभूवे रूप होता है। यहाँ सकर्मक भू धातु है। कर्ता की प्रधानता रहने पर कर्तृवाच्य में 'सः प्रसादम् अनुभवति' तथा कर्म प्रधान रहने पर कर्मवाच्य में तेन प्रसादः अनुभूयते—ऐसा प्रयोग होता है। कर्तृवाच्य में भवति एवम् अनुभवति रूप होते हैं।

प्रयोग सिद्धि :—

बभूवे—भू धातु से लिट् लकार में भाव अर्थ में 'भावकर्मणोः' २६६९ से आत्मनेपद होने पर 'त' प्रत्यय आता है। 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' २२४१ से 'त' का 'ए' आदेश होने के बाद 'भुवो वुग्लुङ्लिटोः' २१७४ से 'वुक्' का आगम होने पर अनुबन्ध लोप के अनन्तर भूव् ए की स्थिति में 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' २१७७ से अवयव सहित धातु का द्वित्व होने पर 'भूव् भूव् ए' की स्थिति में 'पूर्वोऽभ्यासः' २१७८ से पूर्व (भूव्) की अभ्याससंज्ञा होने पर 'हलादिशेषः' २१७९ से आदि हल् का शेष करने तथा अन्य हल् का लोप करने पर 'ह्रस्वः' २१८० से आदि हल् में लगे स्वर (ऊ) का ह्रस्व (उ) करने पर 'भवतेरः' २१८१ से उकार का अकार आदेश होने के बाद 'अभ्यासे चर्च' २१८२ से अभ्यास (पूर्व) में स्थित झल् (भ) का चर् एवं जश्त्व (ब) होने के बाद बभूवे पद बनता है।

अनुबभूवे—अनु पूर्वक भू धातु से लिट् लकार में कर्म अर्थ में 'भावकर्मणोः' २६६९ से आत्मनेपद होने पर 'त' प्रत्यय आता है। 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' २२४१ से 'त' का 'एश्' आदेश होने पर 'भुवो वुग्लुङ्लिटोः' २१७४ से 'वुक्' का आगम होने के बाद अनुबन्धलोप के अनन्तर 'भूव् ए' की स्थिति में 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' २१७७ से अवयव सहित धातु का द्वित्व होने पर 'भूव् भूव् ए' की स्थिति में 'पूर्वोऽभ्यासः' २१७८ से पूर्व (भूव्) की अभ्याससंज्ञा होने पर 'हलादिशेषः' २१७९ से आदि हल् का शेष करने तथा अन्य हल् का लोप करने पर 'ह्रस्वः' २१८० से आदि हल में लगे स्वर (ऊ) का ह्रस्व (उ) करने पर 'भवतेरः' २१८१ से उकार का अकार आदेश होने के बाद 'अभ्यासे

चर्च' २१८२ से अभ्यास (पूर्व) के झल् (भ्) का चर्त्व एवं जश्त्व (ब्) होने पर अनुबभूवे पद बनता हैं। अतः वाक्य प्रयोग होगा—रामेण दुःखम् अनुबभूवे। अर्थात् राम के द्वारा दुःख का अनुभव किया गया है। यहाँ कर्म दुःख है। अतः कर्म अर्थ में आत्मनेपद प्रत्यय हुआ है।

२६८०। कर्तरि कर्मव्यतिहारे १।३।१४।

क्रियाविनिमये द्योत्ये कर्तर्यात्मनेपदं स्यात्। व्यतिलुनीते। अन्यस्य योग्यं लवनम् अन्यः करोतीत्यर्थः। 'श्नसोरल्लोपः' (सू० २४६९), व्यतिस्ते। व्यतिषाते। व्यतिषते। 'तासस्त्योः–' (सू० २१९१), इति सलोपः, व्यतिसे। 'धि च' (सू० २२४९), व्यतिध्वे। 'ह एति' (सू० २२५०), व्यतिहे। व्यत्यसै। व्यत्यास्त। व्यतिषीत। व्यतिराते ३। व्यतिभाते ३। व्यतिबभे।

सूत्र में कर्म शब्द क्रिया के अर्थ में है। कर्म की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—करोति कर्तृकर्मादिव्यपदेशात् यत् तत्कर्म। अर्थात् धात्वर्थ क्रियायें कर्ता, कर्म आदि संज्ञाओं की प्रवृत्ति में निमित्त हैं। कर्म का अर्थ यहाँ कर्मकारक नहीं, अपितु क्रिया है। व्यतिहार का अर्थ है—विनिमय। इस प्रकार से सूत्र का अर्थ है कि क्रिया का विनिमय अर्थ द्योतित होने पर कर्ता अर्थ में आत्मनेपद होता है। इसका उदाहरण है—व्यतिलुनीते। अर्थात् दूसरे के छेदन (काटना) योग्य कार्य को दूसरा करता है। क्रिया का विनिमय अर्थ द्योतित होने से यहाँ 'लूञ् छेदने' १५८१ धातु से आत्मनेपद हुआ है।

वि + अति पूर्वक अस् धातु का प्रयोग क्रिया-विनिमय अर्थ में होने पर आत्मनेपद में 'त' प्रत्यय होने से 'श्नसोरल्लोपः' २४६९ से 'अ' लोप होने पर व्यतिस्ते रूप होता है। 'व्यतिसे' पद में 'अ' लोप के बाद 'तासस्त्योर्लोपः' २१९१ से 'स्' का लोप हो जाने पर मात्र 'से' बचता है। 'व्यतिध्वे' में भी आकार लोप एवं 'धि च' २२४९ से सकार का लोप हो जाने पर 'ध्वे' मात्र बचता है। वि+अति पूर्वक अस् धातु के स्' का 'ह एति' २२५० से 'ह' होने से व्यतिहे पद बनता है। इसी प्रकार व्यत्यसै आदि रूप होते हैं। लिट् लकार में व्यतिबभे रूप होता है।

रूपसिद्धि :—

व्यतिलुनीते—वि + अति पूर्वक 'लूञ् छेदने' १५८१ धातु से काटना क्रिया का व्यतिहार या विनिमय अर्थ द्योतित होता है। इस पद का अर्थ है कि दूसरे के काटने योग्य वस्तु को दूसरा व्यक्ति काटता है। अतः 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' २६८० से आत्मनेपद का विधान होने पर लट् लकार के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर लूञ् धातु का पाठ क्र्यादिगण में होने से 'क्र्यादिभ्यः श्ना' २५५४ से श्ना (ना) विकरण होने पर 'ई हल्यघोः' २४९७ से 'आ' का ईत्व एवं 'प्वादीनां ह्रस्वः' २५५८ से धातु का ह्रस्व होकर 'वि अति लु नी त' की स्थिति में

'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने के बाद यण् करके व्यतिलुनीते प्रयोग होता है।

व्यतिस्ते—यहाँ वि + अति पूर्वक 'अस् भुवि' धातु से दूसरे (ब्राह्मणादि) द्वारा किये जाने वाले (तपस्या) कार्य का दूसरे (चाण्डालादि) द्वारा किया जाना अर्थ द्योतित होता है। अतः क्रिया विनिमय अर्थ होने से 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' २६८० से आत्मनेपद का विधान होने पर लट् लकार के स्थान में 'त' प्रत्यय आता है। 'वि अति अस् त' की स्थिति में 'श्नसोरल्लोपः' २४६९ से 'अ' लोप होने पर यण् के बाद 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर व्यतिस्ते पद बनता है।

२६८१। न गतिहिंसार्थेभ्यः १।३।१५।

व्यतिगच्छन्ति। व्यतिघ्नन्ति। 'प्रतिषेधे हसादीनामुपसंख्यानम्' (वा० ८९८)। हसादयो हसप्रकाराः शब्दक्रियाः। व्यतिहसन्ति। व्यतिजल्पन्ति। 'हरतेरप्रतिषेधः' (वा० ८९६), सम्प्रहरन्ते राजानः।

यह सूत्र 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' २६८० का अपवाद है। इस सूत्र का अर्थ है कि क्रिया के विनिमय अर्थ में गत्यर्थक तथा हिंसार्थक धातु के रहने पर 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' से प्राप्त आत्मनेपद नहीं होता है। इसका उदाहरण है—व्यतिगच्छन्ति, व्यतिघ्नन्ति। अर्थात् दूसरे के गमन योग्य व्यापार को दूसरा करता है तथा दूसरे की हनन योग्य क्रिया को दूसरा करता है। संयोगजनक व्यापारार्थक गम् धातु तथा प्राणवियोगजनक क्रियार्थक हन् धातु से आत्मनेपद 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' २६८० से प्राप्त था जिसका निषेध प्रकृत सूत्र से होने पर परस्मैपद में व्यतिगच्छन्ति तथा व्यतिघ्नन्ति पद बना है।

हस आदि धातु का भी आत्मनेपद प्रतिषेध हो जाता है। अर्थात् हस आदि धातुओं से भी आत्मनेपद नहीं होता है। हसना क्रिया से शब्द करना क्रिया का बोध होता है। इसलिये शब्दकर्मक धातुओं (जल्प आदि) का भी आत्मनेपद निषेध के प्रसंग में ग्रहण होता है। अतः वि + अति पूर्वक हस धातु से परस्मैपद में व्यतिहसन्ति तथा वि + अति पूर्वक जल्प धातु से व्यतिजल्पन्ति रूप होता है।

हृ धातु से प्राप्त आत्मनेपद का प्रतिषेध नहीं होता है। अर्थात् इससे आत्मनेपद हो जाता है। इसका उदाहरण है—सम्प्रहरन्ते राजानः। अर्थात् राजा लोग परस्पर युद्ध में एक दूसरे पर प्रहार करते हैं, यहाँ सम् पूर्वक हृ धातु से आत्मनेपद में 'झ' प्रत्यय करने पर सम्प्रहरन्ते रूप बना है।

रूपसिद्धि :—

व्यतिगच्छन्ति—इस पद का अर्थ है—दूसरे के गमन योग्य व्यापार को दूसरा करता है। अतः क्रियाविनिमय अर्थ द्योतित होने से वि + अति पूर्वक 'गम्लृ गतौ' १०५१ धातु से आत्मनेपद का विधान 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' २६८० से प्राप्त होता है, किन्तु गत्यर्थक धातु

होने से 'न गतिहिंसार्थेभ्यः' २६८१ से आत्मनेपद का निषेध हो जाने के कारण परस्मैपद होने से लट् के स्थान में 'झि' प्रत्यय आने पर झ का अन्तादेश आदि कार्य के बाद व्यतिगच्छन्ति पद बना है।

व्यतिघ्नन्ति—इसका अर्थ है—परस्पर एक दूसरे का हनन करते हैं। अतः क्रिया का विनिमय अर्थ द्योतित होने के कारण वि + अति पूर्वक 'हन हिंसागत्योः' १०८२ धातु से आत्मनेपद की प्राप्ति 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' २६८० से होने पर हिंसार्थक धातु का प्रयोग होने के कारण 'न गतिहिंसार्थेभ्यः' से उसका निषेध होकर परस्मैपद होता है। अतः लट् के स्थान में 'झि' प्रत्यय आने पर अन्तादेश आदि के बाद व्यतिघ्नन्ति रूप सिद्ध होता है।

व्यतिहसन्ति—इसका अर्थ है—परस्पर एक दूसरे पर छींटाकसी करते हैं। यहाँ क्रिया का विनिमय अर्थ द्योत्य होने से वि + अति पूर्वक 'हसे हसने' ७६७ धातु से आत्मनेपद की प्राप्ति 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' २६८० से होने पर 'प्रतिषेधे हसादीनामुपसंख्यानम्' ८९८ वार्तिक से आत्मनेपद का निषेध होने के कारण परस्मैपद होने से लट् के स्थान में 'झि' प्रत्यय में 'झोऽन्तः' २१६९ से अन्तादेश आदि कार्य के बाद व्यतिहसन्ति पद बनता है।

व्यतिजल्पन्ति—इसका अर्थ है—परस्पर एक दूसरे को बहुत हँसते या बोलते हैं। यहाँ क्रिया का विनिमय अर्थ द्योत्य होने से वि + अति पूर्वक 'जल्प व्यक्तायां वाचि' ४२५ धातु से आत्मनेपद की प्राप्ति 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' २६८० से होने पर बोलने तथा हँसने में शब्द क्रिया के सादृश्य के कारण 'हसादीनामुपसंख्यानम्' वार्तिक से आत्मनेपद का निषेध होकर परस्मैपद में लट् के स्थान में 'झि' प्रत्यय आने से अन्तादेश आदि के बाद व्यतिजल्पन्ति पद बनता है।

सम्प्रहरन्ते राजानः—हृ धातु परस्मैपदी है। अतः लट् के स्थान में झि प्रत्यय में हरन्ति रूप होता है किन्तु क्रियाविनिमय अर्थ द्योतित होने पर 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' से आत्मनेपद का विधान होता है। यहाँ सम्प्रहरन्ते राजानः का अर्थ है—राजा लोग युद्ध में परस्पर प्रहार करते हैं, अतः क्रिया विनिमय होने से आत्मनेपद प्राप्ति की स्थिति में प्रहार में हिंसा होने से 'न गतिहिंसार्थेभ्यः' से प्राप्त निषेध का बाध 'हरतेरप्रतिषेधः' वार्तिक से होने के कारण आत्मनेपद ही होता है। अतः सम् + प्र पूर्वक हृ धातु से लट् लकार के स्थान में झि प्रत्यय में 'झोऽन्तः' २१६९ से झ् का अन्तादेश एवं टि का एत्व होने पर सम्प्रहरन्ते रूप बना है। अतः 'सम्प्रहरन्ते राजानः' यह वाक्यप्रयोग है।

२६८२ इतरेतरान्योऽन्योपपदाच्च १।३।१६।

'परस्परोपपदाच्चेति वक्तव्यम्' (वा० ९००)। इतरेतरस्यान्योऽन्यस्य परस्परस्य वा व्यतिलुनन्ति।

कर्मव्यतिहार अर्थ रहने पर इतरेतर तथा अन्योन्य (शब्द) उपपद में रहे तब धातु से आत्मनेपद नहीं होता है। वार्तिक के अनुसार परस्पर शब्द यदि उपपद में

रहे तब भी धातु से आत्मनेपद नहीं होता है। तात्पर्य है कि जहाँ उसकी क्रिया को यह करता है और दूसरे की क्रिया को दूसरा करता है। इस प्रकार आपस की क्रिया को आपस में ही परस्पर कर लेते हैं वहाँ आत्मनेपद नहीं होता है। यथा—व्यतिलुनन्ति। अर्थात् एक दूसरे की छेदन क्रिया को परस्पर आपस में एक दूसरे कर लेते हैं।

रूपसिद्धि :—

व्यतिलुनन्ति—यहाँ परस्पर एक दूसरे के छेदन कार्य को एक दूसरे के द्वारा करना व्यक्त होता है। अतः वि + अति पूर्वक 'लुञ् छेदने' धातु से आत्मनेपद का निषेध होकर परस्मैपद में लट् लकार के स्थान में झि प्रत्यय में अन्तादेश आदि के बाद व्यतिलुनन्ति पद बनता है।

२६८३। नेर्विशः। १।३।१७।

निविशते।

नि उपसर्ग पूर्वक विश् धातु से लकार के स्थान में आत्मनेपद प्रत्यय होता है। उदाहरण है—निविशते।

सूत्र में 'नि' उपसर्ग पढा गया है। अतः 'प्र' आदि के रहने पर परस्मैपद हीं होता है। जैसे—प्रविशति। शिशुपालवध में माघ का पद्य है—'नवाम्बुदश्यामवपुर्न्यविक्षत' (१-१९)। यहाँ शंका उठायी जाती है कि नि पूर्वक विश धातु के मध्य में अडागम होने से व्यवधान हो जाने पर आत्मनेपद प्रयोग यहाँ कैसे हुआ ? समाधान दिया जाता है कि लकार में धातु से अडागम होता है। अतः 'अट्' धातु का अंग है इसलिये अङ्ग होने के कारण 'अट्' से व्यवधान नहीं माना जाता है अतः व्यवधान नहीं होने से आत्मनेपद हो जाता है। भाष्यकार का भी यही मत है।

दूसरा समाधान and यह वार्तिक है—

'उपसर्गनियमेऽड्व्यवाये उपसंख्यानम्'। अर्थात् उपसर्ग और धातु के मध्य में 'अट्' का व्यवधान रहने पर भी कार्य होता है।

रूपसिद्धि :—

निविशते—'विश प्रवेशने' १५१८ धातु परस्मैपदी है। अतः विशति प्रयोग होता है। किन्तु नि पूर्वक 'विश प्रवेशने' धातु का प्रयोग रहने पर 'नेर्विशः' २६८३ से आत्मनेपद का विधान होता है। अतः लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर निविशते रूप होता है।

२६८४। परिव्यवेभ्यः क्रियः १।३।१८।

अकर्त्रभिप्रायार्थमिदम्। परिक्रीणीते। विक्रीणीते। अवक्रीणीते।

परि, वि तथा अव उपसर्ग रहने पर 'डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये' १५६७ धातु से आत्मनेपद होता है। यद्यपि ञित् धातु से आत्मनेपद होता ही है किन्तु कर्तृगामी क्रियाफल रहने पर

ही ऐसा होता है। इस सूत्र का अभिप्राय है कि क्रियाफल कर्ता में नहीं रहने पर भी आत्मनेपद होता है। इसके उदाहरण अग्रलिखित हैं—

परि+क्री+त=परिक्रीणीते (धर्म के लिये खरीदता है)।

वि+क्री+त=विक्रीणीते (समाज सेवा के लिये बेचता है)।

अव+क्री+त=अवक्रीणीते (दूसरे की हानि के लिये भाव गिराता है)।

रूपसिद्धि :—

परिक्रीणीते—यहाँ 'डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये' धातु के ञित् होने से 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' २१५८ सूत्र से कर्ता अर्थ में आत्मनेपद विधान है, किन्तु, परगामी क्रियाफल होने पर भी 'परिव्यवेभ्यः क्रियः' २६८४ से परि उपसर्ग पूर्वक क्री धातु से आत्मनेपद विधान होने से लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर परिक्रीणीते रूप बनता है। इसका अर्थ है—परोपकार के लिये खरीदता है।

विक्रीणीते—वि पूर्वक क्री धातु के रहने पर परगामी क्रियाफल रहने से भी 'परिव्यवेभ्यः क्रियः' २६८४ से आत्मनेपद विधान होने से लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय होने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २१३३ से एत्व होने पर विक्रीणीते प्रयोग होता है। अर्थात् समाज सेवा के लिये बेचता है।

अवक्रीणीते—अव पूर्वक क्री धातु से परगामी क्रियाफल होने से भी 'परिव्यवेभ्यः क्रियः' २६८४ से आत्मनेपद विधान के बाद लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से एत्व होने पर अवक्रीणीते रूप होता है। अर्थात् दूसरे की हानि के लिये मूल्य गिराता है।

२६८५। विपराभ्यां जेः १।३।१९।

विजयते। पराजयते।

वि अथवा परा उपसर्ग से परे 'जि जये' ६०१ धातु से आत्मनेपद होता है। जैसे विजयते (उत्कर्ष को प्राप्त करता है)। पराजयते (अपकर्ष को प्राप्त करता है)।

रूपसिद्धि :—

विजयते—'जि जये' ६०१ धातु से लट् के स्थान में तिप् होने से परस्मैपद में जयति रूप होता है, किन्तु जि धातु से पूर्व में 'वि' उपसर्ग के रहने पर 'विपराभ्यां जेः' से आत्मनेपद विधान होने से लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर विजयते पद बनता है।

पराजयते—जि धातु से परस्मैपद में जयति रूप होता है, किन्तु 'विपराभ्यां जेः' २६८५ से परा पूर्वक जि धातु के यहाँ रहने से आत्मनेपद विधान होने पर 'त' प्रत्यय होने पर 'परा जि त' की स्थिति में शप् (अ) का विकरण होने से अयादेश के बाद 'टित आत्मनेपदानां टेरे' से टि (अ) का एत्व होने पर पराजयते पद बनता है।

२६८६। आङो दोऽनास्यविहरणे १।३।२०।

आङ्पूर्वाद्दातेर्मुखविकसनादन्यत्रार्थे वर्तमानादात्मनेपदं स्यात्। विद्यामादत्ते। 'अनास्य'—इति किम्? मुखं व्याददाति। आस्यग्रहणमविवक्षितम्। विपादिकां व्याददाति। पादस्फोटो विपादिका। नदीकूलं व्याददाति। 'पराङ्गकर्मकान्न निषेधः' (वा० ९०३)। व्याददते पिपीलिकाः पतङ्गस्य मुखम्।

आङ् पूर्वक दा धातु से आत्मनेपद होता है यदि मुखविकसन या मुँह का खुलना अर्थ वहाँ नहीं हो। जैसे—विद्याम् आदत्ते। अर्थात् वह विद्या को ग्रहण करता है। मुख के विकसन अर्थ में परस्मैपद होता है। सूत्र में 'अनास्य' ग्रहण क्यों किया गया? इसके उत्तर में बताते हैं—मुखं व्याददाति। अर्थात् मुँह खोलता है। यहाँ मुख का विकसन अर्थ होने से परस्मैपद हुआ है। भट्टोजिदीक्षित का मत है कि 'आस्य' ग्रहण यहाँ अनिवार्य नहीं है। विकसन अर्थ रहने पर यह निषेध हो जाता है। जैसे—विपादिकां व्याददाति। पैर की बेवाई को विपादिका कहते हैं। क्षार, औषध आदि से उसका विदारण करता है यह अर्थ होने से यहाँ परस्मैपद हुआ है। नदी कूलं व्याददाति' (नदी किनारे को काटती है)—में केवल विकसन अर्थ होने से मुख का विदारण अर्थ नहीं रहने पर भी आत्मनेपद नहीं हुआ है।

मुख विकास का कर्म यदि दूसरे का अङ्ग हो तब आत्मनेपद का निषेध नहीं होता है। अर्थात् वहाँ आत्मनेपद हो जाता है। जैसे—व्याददते पिपीलिकाः पतङ्गस्य मुखम् (चींटी पतङ्ग के मुख को खोलती है)—में विकसन का कर्म दूसरे (पतङ्ग) का अङ्ग (मुँह) है। अतः आत्मनेपद हुआ है। 'आस्यविकसने न'—इस निषेध की प्रवृत्ति यहाँ नहीं होती है। अतः आत्मनेपद का विधान हो जाता है।

रूपसिद्धि :—

विद्यामादत्ते—'डुदाञ् दाने' ११६६ धातु के ञित् होने के कारण कर्तृगामी क्रिया फल रहने पर इससे आत्मनेपद होता ही है। अतः परगामी क्रिया फल अर्थ व्यक्त होने पर भी आत्मनेपद का उदाहरण है यह।

यहाँ आङ् पूर्वक दा धातु का अर्थ (विद्या) ग्रहण करना है जिससे गुरु का यश भी बढ़ता है। यहाँ मुख विदारण अर्थ नहीं रहने से 'आङो दोऽनास्यविहरणे' २६८६ सूत्र से आङ् पूर्वक दा धातु से आत्मनेपद का विधान होता है। फलतः लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आता है तथा 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से एत्व होने पर आदत्ते रूप सिद्ध होता है।

इस आत्मनेपद विधायक सूत्र में 'अनास्यविहरणे' पद का प्रयोग होने से मुखविदारण अर्थ रहने पर परस्मैपद ही होता है। यथा—मुखं व्याददाति।

नदी कूलं व्याददाति—आङ् पूर्वक दा धातु का मुख विदारण से भिन्न अर्थ होने पर 'आङो दोऽनास्यविहरणे' २६८६ से आत्मनेपद होता है। जैसे—विद्यामादत्ते (विद्या ग्रहण

करता है) भट्टोजिदीक्षित ने इस सूत्र के विवेचन में कहा है—'आस्यग्रहणमविवक्षितम्'। अर्थात् आस्य (मुह) का ग्रहण यहाँ आवश्यक नहीं है, केवल विकसन अर्थ रहने पर भी परस्मैपद हो जाता है। यथा—नदी कूलं व्याददाति। यहाँ नदी का विकास (फैलाव) व्यक्त होता है। विकसन अर्थ होने से 'आङो दोऽनास्यविहरणे' २६८६ से आत्मनेपद नहीं होने पर वि + आङ् पूर्वक दा धातु से परस्मैपद में लट् के स्थान में 'तिप्' प्रत्यय आने पर व्याददाति पद बनता है।

व्याददते पिपीलिकाः पतङ्गस्य मुखम्—

आत्मनेपद प्रकरण में 'आङो दोऽनास्यविहरणे' २६८६ सूत्र से अनास्यविहरण (मुख विदारण अर्थ नहीं) रहने पर ही आङ् पूर्वक दा धातु से आत्मनेपद होता है। यथा—विद्यामादत्ते।

इस सूत्र के सन्दर्भ में एक वार्तिक आता है—पराङ्गकर्मकान्न निषेधः। अर्थात् आस्य विहरण का कर्म यदि दूसरे का अङ्ग हो तब आत्मनेपद का निषेध नहीं होता है। यानि, आत्मनेपद हो जाता है। इसी वार्तिक का उदाहरण है—'व्याददते पिपीलिका पतङ्गस्य मुखम्'। अर्थात् चींटी पतङ्ग के मुख को विदारती है। यहाँ कर्म पतङ्ग का मुख है जो पराङ्ग है। अतः वि आङ् पूर्वक दा धातु से प्रकृत वार्तिक से आत्मनेपद विधान होने पर लट् के स्थान में 'झ' प्रत्यय होने पर 'झ्' का 'अत्' एवं टि (अ) का एत्व होने पर व्याददते प्रयोग बना है।

२६८७। क्रीडोऽनुसम्परिभ्यश्च १।३।२१।

चादाङः। अनुक्रीडते। संक्रीडते। परिक्रीडते। आक्रीडते। अनोः कर्मप्रवचनीयान्न, उपसर्गेण समा साहचर्यात्। माणवकमनुक्रीडति। तेन सहेत्यर्थः। 'तृतीयार्थे' (सू० ५५०) इत्यनोः कर्मप्रवचनीयत्वम्। 'समोऽकूजने' (वा० ९०४)। संक्रीडते। कूजने तु संक्रीडति चक्रम्। 'आगमेः क्षमायाम्' (वा० ९०५)। ण्यन्तस्येदं ग्रहणम्। आगमयस्व तावत्, मा त्वरिष्ठा इत्यर्थः। 'शिक्षेर्जिज्ञासायाम्' (वा० ९०६) धनुषि शिक्षते। धनुर्विषये ज्ञाने शक्तो भवितुमिच्छतीत्यर्थः। 'आशिषि नाथः' (वा० ९१०) आशिष्येवेति नियमार्थं वार्तिकमित्युक्तम्। सर्पिषो नाथते। सर्पिर्मे स्यादित्याशास्त इत्यर्थः। कथं—'नाथसे किमु पतिं न भूभृताम्' इति। 'नाधसे' इति पाठ्यम्। 'हरतेर्गतताच्छील्ये' (वा० ९०८)। गतं प्रकारः। पैतृकमश्वा अनुहरन्ते। मातृकं गावः। पितुर्मातुश्चागतं प्रकारं सततं परिशीलयन्तीत्यर्थः। ताच्छील्ये किम्? मातुरनुहरति। 'किरतेर्हर्षजीविकाकुलायकरणेष्विति वाच्यम्' (वा० ९०७)। हर्षादयो विषयाः। तत्र हर्षो विक्षेपस्य कारणम्' इतरे फले।

अनु, सम् तथा परि उपसर्ग से युक्त 'क्रीड् विहारे' ३७३ धातु से आत्मनेपद होता है। 'च' से 'आङ्' उपसर्ग का भी ग्रहण होता है। अतः आङ् पूर्वक क्रीड धातु से भी

आत्मनेपद होता है। उदाहरण है—अनु पूर्वक क्रीड धातु से 'त' प्रत्यय होने पर अनुक्रीडते। सम् + क्रीड + त = संक्रीडते। परि + क्रीड + त = परिक्रीडते। आ + क्रीड = त = आक्रीडते। यहाँ कर्म के साहचर्य से अकर्मप्रवचनीय गृहीत है। जहाँ 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा 'तृतीयार्थे' ५५० से होती है वहाँ आत्मनेपद नहीं होता है। अतः प्रयोग है—माणवकम् अनुक्रीडति। अर्थात् मानव बालक के साथ खेलता है। यहाँ 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से उसमें आत्मनेपद का निषेध हो गया है। कूजन से भिन्न अर्थ में सम् पूर्वक क्रीड धातु से आत्मनेपद होता है। यथा—संक्रीडते। अर्थात् खुलकर खेलता है। कूजन अर्थ होने पर तो परस्मैपद ही होता है। यथा—संक्रीडति चक्रम्। अर्थात् चक्र यन्त्र = चर्खी आवाज करता है।

आङ् पूर्वक गम् धातु से क्षमा अर्थ व्यक्त होने पर आत्मनेपद होता है। यहाँ ण्यन्त का ही ग्रहण अभीष्ट है। जैसे—'आगमयस्व तावत्'। अर्थात् उसे आने दो, जल्दी मत करो।

'शिक्ष विद्योपादाने' ६४५ धातु से जिज्ञासा अर्थ में आत्मनेपद होता है। यथा—धनुषि शिक्षते। अर्थात् धनुर्विद्या के ज्ञान में समर्थ होने की इच्छा करता है।

शुभकामना रूप आशीर्वाद अर्थ में ही 'नाथ' धातु से आत्मनेपद होता है। अतः अन्य अर्थ में नहीं होता है। इस नियम के लिये ही यह वार्तिक है। जैसे—'सर्पिषः नाथते'। इसका अर्थ है—घी मुझे प्राप्त हो, इसके लिये इच्छा करता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि—'नाथसे किमु पतिं न भूभृताम् (पर्वतों के स्वामी (हिमालय) से क्यों नहीं माँगते हो?)—इस वाक्य में नाथ धातु याचना के अर्थ में है, आशीर्वाद के अर्थ में नहीं, तब फिर आत्मनेपद में नाथ धातु का प्रयोग कैसे हुआ? भट्टोजिदीक्षित का मत है कि यहाँ 'नाधसे' पाठ उचित है, 'नाथसे' नहीं।

गत ताच्छील्य (उसके शील के भाव के अनुगमन) अर्थ में अनु पूर्वक हृ धातु से आत्मनेपद होता है। 'गत' शब्द का अर्थ प्रकार है और प्रकार सादृश्य को कहते हैं। इसका उदाहरण है—'पैतृकम् अश्वा अनुहरन्ते, मातृकं गावः'। अर्थात् घोड़े पिता के स्वभाव का अनुसरण करते हैं और गाय माता के स्वभाव गुण का। तात्पर्य है कि घोड़े और गायें क्रमशः पिता और माता के गुणों के स्वभाव का निरन्तर परिशीलन करते हैं। ताच्छील्य से भिन्न अर्थ में परस्मैपद होता है।

हर्ष, जीविका और कुलायकरण (आश्रय, सम्पत्ति, ठहरने का स्थान) अर्थ में कृ धातु से आत्मनेपद होता है। हर्ष आदि अर्थ कृ धातु के विषय हैं। यह (हर्ष) विक्षेप क्रिया में कारण है। दूसरे, जीविका और कुलायकरण विक्षेप के साध्य हैं। इस प्रकार हर्षादि बोध अनुभव का विषय हो तभी आत्मनेपद होता है। भाष्य में भी इसी को ध्यान में रखकर उदाहरण दिये गये हैं।

प्रयोगसिद्धि :—

अनुक्रीडते—'क्रीड़ विहारे' ३७३ धातु परस्मैपदी है। अतः क्रीडति रूप होता है,

किन्तु क्रीड धातु से पूर्व में जब अनु आदि उपसर्ग रहते हैं तब, 'क्रीडोऽनुसम्परिभ्यश्च' २६८७ से आत्मनेपद विधान होने से लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर अनुक्रीडते रूप बनता है।

इसी प्रकार सम् पूर्वक क्रीड धातु से आत्मनेपद होने पर 'त' प्रत्यय में **संक्रीडते** तथा परिपूर्वक क्रीड् धातु से 'त' प्रत्यय में **परिक्रीडते** एवम् आङ् पूर्वक क्रीड धातु से आत्मनेपद में **आक्रीडते** रूप होते हैं।

संक्रीडति चक्रम्—क्रीड धातु परस्मैपदी है। अतः क्रीडति रूप होता है, किन्तु सम् उपसर्ग पूर्वक क्रीड धातु रहने पर 'क्रीडोऽनुसम्परिभ्यश्च' २६८७ से आत्मनेपद विधान होने से संक्रीडते पद बनता है।

इस प्रसंग में एक वार्तिक है—'समोऽकूजने' इसका अर्थ है कि कूजन = शब्द करना अर्थ नहीं रहने पर ही आत्मनेपद होता है। यहाँ 'संक्रीडति चक्रम्' का अर्थ है—चक्र यन्त्र आवाज करता है। अतः कूजन अर्थ होने के कारण आत्मनेपद क्रीड धातु से नहीं होता है। फलतः परस्मैपद में लट् के स्थान में तिप् आने पर संक्रीडति पद बनता है।

धनुषि शिक्षते—शक्तुम् इच्छति इस विग्रह में 'शक्लृ शक्तौ' १३४३ धातु से 'धातोः कर्मणः समान- कर्तृकादिच्छायां वा' २६०८ सूत्र से सन् प्रत्यय होने पर 'सनि मीमाघु—' २६२३ से 'इस्' प्रत्यय होने के बाद अभ्यास (स्) लोप तथा षत्व एवं क् + ष् = क्ष होने पर शिक्ष धातु से परस्मैपद में शिक्षति रूप होता है।

यहाँ शिक्ष धातु का अर्थ सीखने की इच्छा रूप जिज्ञासा है। अतः 'शिक्षेर्जिज्ञासायाम्' इस वार्तिक से शिक्ष धातु आत्मनेपदी हो जाता है। फलतः लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर शिक्षते प्रयोग होता है। अतः धनुषि शिक्षते वाक्य प्रयोग है। अर्थात् धनुष विषयक ज्ञान में समर्थ या सफल होना चाहता है। 'धनुषि शिक्षते' इस वाक्य प्रयोग में 'शिक्ष विद्योपादाने' ६४५ धातु का ग्रहण नहीं है क्योंकि भ्वादि में पठित यह धातु अनुदात्तेत् होने के कारण 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' २१५७ से ही आत्मनेपदी सिद्ध है।

सर्पिषः नाथते—इसका अर्थ है घृत की प्राप्ति हो इसके लिये इच्छा करता है। यहाँ नाथ धातु का प्रयोग आशीर्वाद अर्थ में है। अतः 'आशिषि नाथः' इस वार्तिक से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने से एत्व होकर नाथते पद बनता है।

याचना अर्थ में नाथ धातु परस्मैपदी है अतः लट् के स्थान में तिप् आने पर नाथति पद होता है।

भट्टोजिदीक्षित ने प्रश्न उठाया है कि 'नाथसे किमु पतिं न भूभृताम्'—इस कालिदास के प्रयोग में याचना अर्थ में प्रयुक्त नाथ धातु आत्मनेपदी कैसे हुआ? इसका समाधान वे स्वयम् देते हैं कि यहाँ 'नाथसे' के स्थान पर 'नाधसे' पाठ उचित है।

२६८८ । अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने ६।१।१३९ ।

अपात्किरतेः सुट् स्यात् । 'सुडपि हर्षादिष्वेव वक्तव्यः' (वा० ३७०६) । अपस्किरते वृषो हृष्टः, कुक्कुटो भक्षार्थी, श्वा आश्रयार्थी च । हर्षादिषु इति किम्—अपकिरति कुसुमम् । इह तङ्सुटौ न । हर्षादिमात्रविवक्षायां यद्यपि तङ् प्राप्तस्तथापि सुडभावे नेष्यते इत्याहुः । गजोऽपकिरति । 'आङि नुप्रच्छ्योः' (वा० ९०९) । आनुते । आपृच्छते । 'शप उपालम्भे' (वा० ९११) । आक्रोशार्थात् स्वरितेतोऽकर्तृगेऽपि फले शपथरूपेऽर्थे आत्मनेपदं वक्तव्यमित्यर्थः । कृष्णाय शपते ।

चौपाया एवं पक्षिविशेष अर्थ गम्यमान रहने पर खनन अर्थ में अप पूर्वक कृ धातु से सुट् का आगम होता है । जिन हर्ष आदि अर्थों में 'किरतेर्हर्ष—' इत्यादि वार्तिक से आत्मनेपद का विधान किया गया है उन्हीं से सुट् का आगम भी होता है—ऐसा कहना चाहिये । यथा—'अपस्किरते वृषो हृष्टः ।' अर्थात् प्रसन्न होकर बैल खुर से जमीन खरोचता हुआ धूल फेंकता है । यहाँ हर्ष कारण है । उसका कार्य है विक्षेप (फेंकना) । मुर्गा भक्ष्य वस्तु की खोज में पृथ्वी खोदता है और कुत्ता आश्रय (बैठने) के लिये खोदता है । अतः 'सुट्' होकर अपस्किरते प्रयोग है । जहाँ हर्षादि अर्थ नहीं हो वहाँ आत्मनेपद तथा 'सुट्' नहीं होता है । जैसे—अपकिरति कुसुमम् । अर्थात् फूल बिखेरता है । यहाँ आत्मनेपद तथा सुट् नहीं हुआ । यद्यपि हर्ष की विवक्षा होने पर ही आत्मनेपद प्राप्त हुआ, किन्तु सन्नियोगशिष्ट न्याय से 'सुट्' नहीं होने के कारण आत्मनेपद भी नहीं हुआ । गजोऽपकिरति (हाथी स्वभाव से झूमता है) इस उदाहरण में हर्ष की प्रतीति होती है, किन्तु वैसा स्वभावतः है । अतः सुट् एवम् आत्मनेपद यहाँ नहीं हुआ ।

आङ् पूर्वक नु एवं प्रच्छ धातु से आत्मनेपद होता है । यथा—आनुते, आपृच्छते । उपालम्भ अर्थ में शप् धातु से आत्मनेपद होता है । आक्रोशार्थक शप धातु स्वरितेत् है । अतः 'शप आक्रोशे' धातु में 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' २१५८ से ही कर्तृगामी क्रियाफल रहने पर आत्मनेपद-सिद्धि होने पर परगामी क्रियाफल रहने पर भी उपालम्भ अर्थवाचक शप धातु से आत्मनेपद कहना चाहिये इसीलिये 'शप उपालम्भे' वार्तिक पढ़ा गया है । उदाहरण है—कृष्णाय शपते (कृष्ण पर आक्रोश व्यक्त करती है)—में आक्रोश अर्थ होने से आत्मनेपद हुआ है ।

'नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण, सख्यः शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि'—इस वाक्य में 'शपामि' का अर्थ है—निजाशयं प्रकाशयामि । अतः शपथ अर्थ नहीं होने से यहाँ आत्मनेपद नहीं हुआ ।

रूपसिद्धि :—

अपस्किरते वृषो हृष्टः—इस वाक्य का अर्थ है—प्रसन्न बैल मिट्टी को खुरच कर फेंकता है । बैल चौपाया जानवर है तथा उसके द्वारा हर्षपूर्वक खनन अर्थ व्यक्त है । अतः 'किरतेर्हर्षजीविकाकुलायकरणेष्विति वाच्यम्' इस वार्तिक से आत्मनेपद होने पर

'अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने' २६८८ से अप पूर्वक कृ धातु से सुट् का विधान होने से 'त' प्रत्यय आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर अपष्किरते प्रयोग बना है।

अपकिरति कुसुमम्—कॄ विक्षेपे धातु परस्मैपदी है। अत किरति रूप होता है, किन्तु 'किरतेर्हर्षजीविकाकुलायकरणेष्विति वाच्यम्' इस वार्तिक से हर्षादि अर्थ में आत्मनेपद का विधान किया गया है एवम् ('अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने' २६८८ से सुट् का आगम होता है। वह 'सुट्' भी हर्ष आदि अर्थों में ही हो—ऐसा नियम 'सुडपि हर्षादिष्वेव वक्तव्यः इस वार्तिक से किया गया है। इसका उदाहरण है—'अपस्किरते वृषो हृष्टः' (बैल प्रसन्न होकर भूमि खुरचता है)

अपकिरति कुसुमम् (बैल रोग से ग्रस्त होकर फूल बिखेरता है)—में फूल बिखेरने में कारण हर्ष नहीं, रोग है। अतः 'किरतेर्हर्ष'—आदि वार्तिक से न तो आत्मनेपद हुआ और न 'अपाच्चतुष्पा' से 'सुट्' ही हुआ। इसलिये 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' से परस्मैपद में 'तिप्' होने पर अपकिरति पद बना है।

आपृच्छते—'प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्' १५०७ धातु परस्मैपदी है। अतः पृच्छति रूप होता है। आत्मने पद प्रकरण में वार्तिक आया है—'आङि नुपृच्छयो.'। अर्थात् आङ् पूर्वक 'नु' या 'पृच्छ' धातु से आत्मनेपद होता है। अतः यहाँ आङ् पूर्वक पृच्छ धातु से आत्मनेपद उपर्युक्त वार्तिक से होने पर 'त' प्रत्यय आने से 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से एत्व होने पर आपृच्छते प्रयोग होता है।

कृष्णाय शपते—(कृष्ण के प्रति उपालम्भ देती है)

शप आक्रोशे १०६९ धातु स्वरितेत् है। अतः कर्तृगामी क्रियाफल रहने पर आत्मनेपदी तथा परगामी क्रिया फल रहने पर परस्मैपदी होता है, किन्तु जब शप् धातु का अर्थ उलाहना हो तब 'शप उपालम्भे' वार्तिक से शप धातु आत्मनेपदी हो जाता है। अतः 'त' प्रत्यय आने पर टि (अ) का एत्व होने पर शपते या कृष्णाय शपते रूप होता है।

'सख्यः शपामि' प्रयोग में उपालम्भ अर्थ नहीं रहने से आत्मनेपद नहीं हुआ है।

२६८९। समवप्रविभ्यः स्थः १।३।२२।

सन्तिष्ठते। 'स्थाघ्वोरिच्च' (सू० २३८९)। समस्थित। समस्थिषाताम्। समस्थिषत। अवतिष्ठते। प्रतिष्ठते। वितिष्ठते। 'आङः प्रतिज्ञायामुपसंख्यानम्' (वा० ९१२) शब्दं नित्यमातिष्ठते। नित्यत्वेन प्रतिजानीते इत्यर्थः।

सम्, अव तथा वि पूर्वक स्था धातु से आत्मनेपद होता है। यथा—सन्तिष्ठते (समाप्त होता है उत्सव)। सम् पूर्वक स्था धातु से आत्मनेपद होने पर लुङ्लकार में 'त' प्रत्यय होने पर 'स्थाघ्वोरिच्च' २३८९ से आकार का इकारादेश आदि कार्य होने पर समस्थित रूप बनता है। द्विवचन 'तस्' में समस्थिषाताम् तथा 'झ' प्रत्यय में समस्थिषत पद होता है। अव पूर्वक

स्था धातु से 'त' प्रत्यय होने पर अवतिष्ठते (नीचे लुढ़कता है) और प्र पूर्वक स्था धातु से प्रतिष्ठते (प्रतिष्ठित होता है तथा वि + स्था + त = वितिष्ठते) विशेष रूप से ठहरता है पद बनता है।

आङ् पूर्वक स्था धातु से प्रतिज्ञा अर्थ में आत्मनेपद कहना चाहिये। इसका उदाहरण है शब्दं नित्यम् आतिष्ठते। अर्थात् नित्य रूप से शब्द विषयक प्रतिज्ञा करता है। आङ् पूर्वक स्था धातु से 'त' प्रत्यय करने पर आतिष्ठते पद बना है।

रूपसिद्धिः—

सन्तिष्ठते—'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' ९९४ धातु परस्मैपदी है। अतः तिष्ठति रूप होता है, किन्तु इस धातु से पूर्व में 'सम्' उपसर्ग रहने पर 'समवप्रविभ्यः स्थः' २६८९ से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने के बाद 'पाघ्राध्मास्था' २३६९—से 'स्था' का 'तिष्ठ' आदेश होने पर टि (अ) का एत्व होने पर परसवर्ण के बाद सन्तिष्ठते पद बनता है।

आतिष्ठते—स्था धातु के परस्मैपदी होने से तिष्ठति रूप होता है, किन्तु 'समवप्रविभ्यः स्थः' सूत्र के सन्दर्भ में आये वार्तिक—'आङः प्रतिज्ञायामुपसंख्यानम्' से आत्मनेपद विधान होने पर लट् के स्थान में 'त' आने से 'स्था' का 'तिष्ठ' आदेश के बाद टि (अ) का एत्व होकर आतिष्ठते पद सिद्ध होता है। अतः वाक्य प्रयोग है—शब्दं नित्यमातिष्ठते।

समस्थित—स्था धातु के परस्मैपदी होने से तिष्ठति रूप होता है, किन्तु सम् पूर्वक स्था धातु का प्रयोग रहने पर 'समवप्रविभ्यः स्थः' २६८९ से आत्मनेपद विधान होने पर लुङ् लकार के स्थान में 'त' प्रत्यय में अडागम तथा सिच् के बाद 'सम् अ स्था सत' की स्थिति में 'स्थाघ्वोरिच्च' २३८९ से 'आ' का 'इ' आदेश तथा ह्रस्वादङ्गात्' २३६९ से सिच् के 'स्' का लोप होने पर समस्थित पद बनता है।

२६९०। प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च १।३।२३।

गोपी कृष्णाय तिष्ठते। आशयं प्रकाशयतीत्यर्थः। 'संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः' कर्णादीन्निर्णेतृत्वेनाश्रयतीत्यर्थः।

यहाँ 'समवप्रविभ्यः स्थः' से 'स्थः' की अनुवृत्ति होने पर सूत्र का अर्थ है कि प्रकाशन तथा स्थेय अर्थ में वर्तमान स्था धातु से आत्मनेपद होता है। प्रकाशन का अर्थ है—अपने भाव को प्रकट करना तथा स्थेय का अर्थ है—विवादपूर्ण विषय का निर्णय करने वाला। स्थेय की व्युत्पत्ति है—तिष्ठन्तेऽस्मिन् विवादपदनिर्णयार्थम्। यहाँ स्था धातु से यत् प्रत्यय करने पर स्थेय शब्द बना है। मेदिनीकोष में कहते हैं—

'स्थेयो विवादस्थानस्य निर्णेतरि पुरोहिते।' प्रकाशन का उदाहरण है—गोपी कृष्णाय तिष्ठते। अर्थात् गोपी कृष्ण से अपना आशय व्यक्त करती है। स्थेय का उदाहरण है—संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः। अर्थात् विचार में सन्देह होने पर कर्ण आदि को निर्णय के लिये जो आश्रयण करता है। स्थेय की अभिव्यक्ति के कारण यहाँ आत्मनेपद हुआ है।

रूपसिद्धि :—

तिष्ठते गोपी कृष्णाय—'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' ९९४ धातु का अर्थ ठहरना है। इस अर्थ में यह परस्मैपदी धातु है। अतः तिष्ठति रूप होता है। उपर्युक्त वाक्य—'गोपी कृष्णाय तिष्ठते' का अर्थ है—गोपी कृष्ण के प्रति अपना आशय प्रकट करती है। यहाँ स्था धातु का अर्थ है—प्रकाशन या अभिप्राय प्रकट करना। अतः 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' २६९० से यहाँ स्था धातु आत्मनेपदी हो जाता है। फलतः लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'पाघ्राध्मास्था' २३६० से 'स्था' का तिष्ठ आदेश होने पर टि (अ) का एत्व होकर तिष्ठते प्रयोग होता है।

'संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः'—यहाँ तिष्ठते का अर्थ है विवादपूर्ण विषय में निर्णय के लिये आश्रयण करना। अतः इस स्थेय (निर्णय के लिये आश्रयण) अर्थ के कारण 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' २६९० से स्था धातु आत्मनेपदी हो जाता है। इसलिये लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर तथा स्था का तिष्ठ आदेश होने के बाद टि (अ) का एत्व होकर तिष्ठते पद बना है।

२६९१। उदोऽनूर्ध्वकर्मणि १।३।२४।

मुक्तावुत्तिष्ठते। अनूर्ध्व इति किम् ? पीठादुत्तिष्ठति। 'ईहायामेव' (वा ९१३)। नेह—ग्रामाच्छतमुत्तिष्ठति।

यहाँ 'समवप्रविभ्यः स्थः' २६८९ से 'स्थः' की अनुवृत्ति होने पर इस सूत्र का अर्थ है कि ऊर्ध्वगमन (ऊपर जाना) से भिन्न कर्म के रहने पर उत् उपसर्ग पूर्वक स्था धातु से अत्मनेपद होता है। यथा—मुक्तौ उत्तिष्ठते। अर्थात् मुक्ति के लिये गुरुजी के पास जाने का प्रयत्न करता है। यहाँ ऊपर उठना क्रिया नहीं होने से स्था धातु आत्मनेपदी हो गया है।

सूत्र में 'अनूर्ध्वकर्मणि' पाठ होने के कारण पीठादुत्तिष्ठत (पीठ के ऊपर की ओर उठता है)—इस वाक्य में ऊर्ध्व (ऊपर) कर्म है उठना क्रिया का। अतः प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद नहीं हुआ है। अतः परस्मैपद हुआ है।

ईहा (इच्छा पूर्वक चेष्टा) अर्थ में ही स्था धातु से आत्मनेपद होता है। इसलिये 'ग्रामात् शतम् उत्तिष्ठति' (गाँव से सौ रुपये प्राप्त करता है)—इस वाक्य में स्था धातु से आत्मनेपद नहीं होकर परस्मैपद हुआ है।

रूपसिद्धि :—

मुक्तावुत्तिष्ठते—स्था धातु परस्मैपदी है। अतः तिष्ठति रूप होता है। यदि उत् पूर्वक स्था धातु का कर्म ऊपर उठना नहीं हो तब 'उदोऽनूर्ध्वकर्मणि' २६९१ से स्था धातु आत्मनेपदी हो जाता है। इसका उदाहरण है—मुक्तौ उत्तिष्ठते। अर्थात् मुक्ति के लिए प्रयत्न करता है। यहाँ उठने का कर्म ऊपर नहीं है। अतः उत् पूर्वक स्था धातु से आत्मनेपद उक्त सूत्र से होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने से स्था का तिष्ठ आदेश 'पाघ्राध्मास्था' २३६० से होने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' से एत्व होकर उत्तिष्ठते रूप होता है।

पीठादुत्तिष्ठति—उत् पूर्वक स्था धातु का कर्म ऊपर उठना नहीं रहे तब 'उदोऽनूर्ध्व-कर्मणि' २६८१ से स्था धातु आत्मनेपदो हो जाता है, किन्तु यहाँ पीठ से ऊपर की ओर उठना अर्थ होने से उठना क्रिया का कर्म 'ऊपर' है। अतः उक्त सूत्र से आत्मनेपद नहीं होने पर 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' २१५९ से परस्मैपद में 'तिप्' प्रत्यय होने पर उत्तिष्ठति प्रयोग है।

२६९२। उपान्मन्त्रकरणे १।३।२५।

आग्नेय्या आग्नीध्रमुपतिष्ठते। 'मन्त्रकरणे' किम्? भर्तारमुपतिष्ठति यौवनेन। 'उपाद्देवपूजासंगतिकरणमित्रकरणपथिष्विति वाच्यम्' (वा० ९१४)। आदित्य-मुपतिष्ठते। कथं तर्हि—

'स्तुत्यं स्तुतिभिरर्थ्याभिरुपतस्थे सरस्वती।' इति देवतात्वारोपात्, नृपस्य देवतांशत्वाद्वा। गङ्गा यमुनामुपतिष्ठते, मित्रीकरोत्यर्थः। पन्थाः स्रुघ्नम् उपतिष्ठते, प्राप्नोतीत्यर्थः। 'वा लिप्सायामिति वक्तव्यम्' (वा० ९१९)। भिक्षुकः प्रभुम् उपतिष्ठते, उपतिष्ठति वा। लिप्सया उपगच्छतीत्यर्थः।

यहाँ 'समवप्रविभ्यः स्थः' से 'स्थः' की अनुवृत्ति होती है। मन्त्रः करणं साधनं यत्र—इस विग्रह में मन्त्रकरण या स्तुति अर्थ में प्रयुज्यमान उत् पूर्वक स्था धातु से आत्मनेपद होता है। उदाहरण है—'आग्नेय्या आग्नीध्रमुपतिष्ठते'। अर्थात् आग्नेयी ऋचा से स्तुति के लिये आग्नीध्र नामक मण्डप विशेष में जाकर उपस्थित होता है। आग्नेयी का विग्रह है—अग्निः देवः यस्याः ऋचः सा ऋक् आग्नेयी (जिस ऋचा का देवता अग्नि हो वह ऋचा आग्नेयी कही जाती है)। यहाँ स्तुति अर्थ व्यक्त होने से उप पूर्वक स्था धातु से आत्मनेपद हुआ है। स्था धातु अकर्मक है, किन्तु 'उप' उपसर्ग के रहने से यहाँ सकर्मक हो गया है।

सूत्र में 'मन्त्रकरणे' पाठ है। मन्त्रकरण या स्तुति अर्थ नहीं रहने पर परस्मैपद हो जाता है। जैसे—'भर्तारमुपतिष्ठति यौवनेन' (अपने यौवन से पति के पास उपस्थित होती है) यहाँ पति के पास उपस्थित होने में मन्त्र या स्तुति कारण नहीं है, अपितु यौवन ही कारण है। अतः उप पूर्वक स्था धातु से परस्मैपद होने पर उपतिष्ठति पद बना है।

देवपूजा, संगतिकरण और मित्रकरण एवं मार्ग अर्थ में उप पूर्वक स्था धातु से आत्मनेपद कहना चाहिये। जैसे—आदित्यमुपतिष्ठते। अर्थात् सूर्य की उपासना के लिये उपस्थित होता है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि रघुवंश में 'स्तुत्यं स्तुतिभिरर्थ्याभिरुपतस्थे' पद्य में उपतस्थे यह आत्मनेपद प्रयोग कैसे हुआ? जबकि यहाँ देवपूजा अर्थ नहीं है। इसका उत्तर देते हैं कि वहाँ राजा में देवत्व का आरोप के कारण आत्मनेपद हुआ है। अथवा राजा देवता का अंश होता है। कहा भी है—

'अष्टानां लोकपालानां मात्राभिर्निर्मितो नृपः ।' संगतिकरण का उदाहरण है—गङ्गा यमुनामुपतिष्ठते । अर्थात् गंगा यमुना से मिलती है । यहाँ गंगा यमुना से संगति (संगम) करती है । अतः स्था धातु आत्मनेपदी है ।

मित्रकरण का उदाहरण है—रथिकानुपतिष्ठते । रथिक (रथ वाला) से मित्रता करता है । यहाँ मित्रकरण के अर्थ में उप पूर्वक स्था धातु से आत्मनेपद हुआ है ।

मार्ग का उदाहरण है—पन्थाः स्रुघ्नमुपतिष्ठते । अर्थात् रास्ता स्रुघ्न देश को जाता है । यहाँ मार्ग जाने अर्थ में उप पूर्वक स्था धातु से आत्मनेपद प्रयोग है ।

लिप्सा (प्राप्त करने की उत्कट इच्छा) अर्थ में स्था धातु से विकल्प से आत्मनेपद होता है । उदाहरण है—भिक्षुकः प्रभुम् उपतिष्ठते उपतिष्ठति वा । अर्थात् भिखारी स्वामी के पास वांछित वस्तु को प्राप्त करने के लिये उपस्थित होता है । यहाँ प्राप्त करने के अर्थ में उप पूर्वक स्था धातु से विकल्प से आत्मनेपद हुआ है ।

प्रयोगसिद्धि :—

आदित्यमुपतिष्ठते—यहाँ सूर्य देवता की पूजा के लिये उपस्थित होना अर्थ है । अतः 'उपान्मन्त्रकरणे' २६९२ के सन्दर्भ में आये वार्तिक—'उपाद्देवपूजासङ्गतिकरणमित्रकरणपथिष्विति वाच्यम्' से देवपूजा के अर्थ में उप पूर्वक स्था धातु में आत्मनेपद का विधान होने से लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आता है । 'पाघ्राध्मास्था' २३६० से स्था का तिष्ठ आदेश होने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर उपतिष्ठते पद बना है ।

गङ्गा यमुनामुपतिष्ठते—यहाँ गंगा का संगतिकरण यमुना से कथित है । अतः 'उपान्मन्त्रकरणे' २६९२ सूत्र के प्रसङ्ग में आये वार्तिक 'उपाद्देवपूजासङ्गतिकरणमित्रकरणपथिष्विति वाच्यम्' से सङ्गतिकरण अर्थ में उप पूर्वक स्था धातु से आत्मनेपद का विधान होने के कारण लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'पाघ्राध्मास्था—' २३६० से 'स्था' का 'तिष्ठ' आदेश होने पर टि (अ) का एत्व होने के बाद उपतिष्ठते पद बनता है । अतः प्रयोग है—गङ्गा यमुनामुपतिष्ठते ।

२६९३ । अकर्मकाच्च १।३।२६ ।

उपतिष्ठतेरकर्मकादात्मनेपदं स्यात् । भोजनकाले उपतिष्ठते, संनिहितो भवतीत्यर्थः ।

यहाँ 'समवप्रविभ्यः स्थः' २६८९ से स्थः की अनुवृत्ति होती है तथा 'उपान्मन्त्रकरणे' से 'उपात्' का ग्रहण होता है । अतः सूत्र का अर्थ है—उप पूर्वक अकर्मक स्था धातु से आत्मनेपद होता है । उदाहरण है—भोजनकाले उपतिष्ठते । अर्थात् भोजन के समय उपस्थित होता है । उपस्थित होना यह अकर्मक क्रिया है । अतः यहाँ आत्मनेपद हुआ है ।

प्रयोग :—

उपतिष्ठते—यहाँ उप पूर्वक स्था धातु का अर्थ उपस्थित होना है। जो अकर्मक क्रिया है। अतः 'अकर्मकाच्च' २६९३ से स्था धातु का आत्मनेपद विधान होने से 'पाघ्राध्मास्था—' २३६० से 'स्था' का 'तिष्ठ' आदेश होने पर टि (अ) का एत्व होने पर उपतिष्ठते प्रयोग हुआ है।

२६९४। उद्विभ्यां तपः १।३।२७।

'अकर्मकात्' इत्येव। उत्तपते। वितपते। दीप्यते इत्यर्थः। 'स्वाङ्गकर्मकाच्चेति वक्तव्यम्' (वा० ९१६)। स्वमङ्गं स्वाङ्गम्। न तु 'अद्रवम्—' इति परिभाषितम्। उत्तपते, वितपते पाणिम्। नेह, सुवर्णमुत्तपति, सन्तापयति, विलापयति, वेत्यर्थः। चैत्रो मैत्रस्य पाणिमुत्तपति, सन्तापयतीत्यर्थः।

यहाँ 'अकर्मकात्' २६९३ की अनुवृत्ति होने से इस सूत्र का अर्थ है कि उत् अथवा वि पूर्वक अकर्मक तप धातु से आत्मनेपद होता है। यथा—उत्तपते। अर्थात् प्रकाशमान होता है। इसी प्रकार वि पूर्वक तप् धातु से आत्मनेपद मे वितपते रूप होता है।

स्वाङ्ग कर्म होने से ही तप धातु आत्मनेपदी होता है। यहाँ स्वाङ्ग का अर्थ है—अपना अङ्ग, न कि पारिभाषिक—'अद्रवं मूर्तिमत्स्वाङ्गम्'। उदाहरण है—उत्तपते वितपते वा पाणिम्। अर्थात् हाथ (अङ्ग) को तपाता है। स्वाङ्ग के अभाव में सुवर्णमुत्तपति (सोने को तपाता है)—में आत्मनेपद नहीं हुआ है। इसी तरह चैत्रो मैत्रस्य पाणिमुत्तपति (चैत्र मैत्र के हाथ को तपाता है)—में भी स्वाङ्ग कर्म के अभाव में परस्मैपद हुआ है।

रूपसिद्धि :—

उत्तपते वितपते वा पाणिम्—तप् धातु परस्मैपदी है। अतः तपति रूप होता है। यहाँ उत् पूर्वक तप् धातु का प्रयोग है और इसका कर्म अपना अङ्ग (पाणि) है। अतः 'उद्विभ्यां तपः' २६९३ के प्रसङ्ग में आये वार्तिक—'स्वाङ्गकर्मकाच्चेति वक्तव्यम्' से आत्मनेपद का विधान होता है। फलतः 'त' प्रत्यय आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर 'उत्तपते वितपते पाणिम्' प्रयोग होता है। अर्थात् हाथ को तपाता है।

सुवर्णमुत्तपति--उत् पूर्वक तप् धातु के रहने पर 'उद्विभ्यां तपः' २६९४ से आत्मनेपद होने पर उत्तपते रूप होता है। इस प्रसङ्ग में वार्तिक है—'स्वाङ्गकर्मकाच्चेति वक्तव्यम्'। अर्थात् अपना अंग रहने पर ही आत्मनेपद होता है। अतः 'सुवर्णमुत्तपति'--में 'सुवर्ण जो कर्म है, अपना अंग नहीं है। अतः यहाँ आत्मनेपद नहीं होने पर 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' २१५९ से परस्मैपद होने पर 'तिप्' प्रत्यय में उत्तपति रूप होता है। अतः वाक्य प्रयोग है—सुवर्णमुत्तपति। अर्थात् सोना को तपाता है।

'चैत्रो मित्रस्य पाणिमुत्तपति'—यहाँ उत् पूर्वक तप् धातु से 'उद्विभ्यां तपः' २६९४ से आत्मनेपद नहीं होता है। यहाँ कर्म (हाथ) दूसरे (मित्र) का अंग है अतः आत्मनेपद नहीं होने पर 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' से परस्मैपद होने पर तिप् प्रत्यय आने से उत्तपति रूप बनता है।

२६९५। आङो यमहनः १।३।२८

आयच्छते। आहते। अकर्मकात्स्वाङ्गकर्मकादित्येव। नेह—परस्य शिर आहन्ति। कथं तर्हि—'आजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः' इति भारविः? 'आहध्वं मा रघूत्तमम्' इति भट्टिश्च। प्रमाद एवायम् इति भागवृत्तिः। प्राप्येत्यध्याहारो वा। ल्यब्लोपे पञ्चमीति तु ल्यबन्तं विनैव तदर्थविगतिर्यत्र तद्विषयम्। 'भेत्तुम्' इत्यादि तुमुन्नन्ताध्याहारो वास्तु, समीपमेत्येति वा।

यहाँ 'अकर्मकाच्च' २६९३ से 'अकर्मकात्' की तथा 'स्वाङ्गकर्मकाच्चेति वक्तव्यम्' से 'स्वाङ्गकर्मकात्' की अनुवृत्ति होने पर सूत्र का अर्थ है कि आङ् पूर्वक यम् धातु एवं हन् धातु यदि अकर्मक रहे अथवा अपना ही अङ्ग कर्म रहे तब वह आत्मनेपदी हो जाता है। यथा—आयच्छते रज्जुः (रस्सी लम्बी होती है)। आयच्छते पादम् (अपने पैर को लम्बा करता है)। इन उदाहरणों में प्रथम अकर्मक है तथा दूसरा स्वाङ्ग कर्म है। अतः इनमें आत्मनेपद हुआ है। हन् धातु का उदाहरण स्वाङ्ग कर्म में है—आहते उदरम् (अपने पेट को पीटता है)।

स्वाङ्ग कर्म के अभाव में आत्मनेपद नहीं होता है। जैसे—'परस्य शिर आहन्ति' (दूसरे के सिर को पीटता है)।

यहाँ प्रश्न उठता है कि भारवि के 'आजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः' एवम् भट्टि के 'आहध्वम् मा रघूत्तमम्' पद्य में आहनन क्रिया का कर्म दूसरे का अङ्ग है तो यहाँ आत्मनेपद प्रयोग कैसे हुआ? इसके उत्तर में भागवृत्ति आचार्य का मत है कि ये प्रयोग प्रमाद वश हैं। ये व्याकरणसम्मत नहीं हैं। दूसरा मत है कि 'प्राप्य' (प्र+आप्+ल्यप्) का अध्याहार किया जाना उचित है। अतः 'विषमविलोचनस्य वक्षः प्राप्य आत्मनः वक्ष आजघ्ने' (शङ्कर के पास जाकर अर्जुन ने अपने वक्ष को पीटा)—ऐसा अर्थ करने पर स्वाङ्गकर्मक ताडन में आत्मनेपद निर्बाध हो जायेगा। इसी तरह 'रघूत्तमम् प्राप्य मा आहध्वम्' ऐसा अर्थ करने पर दोष नहीं होगा। यद्यपि हनन क्रिया के कर्म शिव के वक्ष तथा रघु हैं फिर भी उस रूप में विवक्षा नहीं करने से यहाँ अकर्मकत्व है। कुछ परिस्थितियों में सकर्मक क्रिया भी अकर्मक हो जाती है (इस पर विस्तार से विवेचन आगे करेंगे 'वेत्तेर्विभाषा (२७०१) के प्रसङ्ग में)।

यहाँ 'प्राप्य' का अध्याहार करने पर भी 'ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च' से पञ्चमी नहीं हुई क्योंकि इससे पञ्चमी वहीं होती है जहाँ अर्थ का अध्याहार कर ल्यबन्त (ल्यप् जिसके अन्त में हो) अर्थ की तद्विषयक अवगति हो। यहाँ तो ल्यबन्त शब्द (प्राप्य) का अध्याहार किया गया है। अतः पञ्चमी नहीं हुई। अथवा 'भेत्तुम्' इस तुमुन् प्रत्ययान्त के अध्याहार का

आकर्षण होगा। अतः 'विषमविलोचनस्य वक्षः भेत्तुम् आजघ्ने'—ऐसा अन्वय करने पर आत्मनेपद विधान में कोई बाधा नहीं होगी।

अथवा 'समीपमेत्य' का अध्याहार उचित है। 'विषमविलोचनस्य समीपमेत्य निजमेव वक्षः मल्ल इव वीरावेशादास्फाल्याञ्चक्रे (शिवजी के पास जाकर अपनी ही छाती ठोक कर वीरता की सूचना दी)—ऐसा अर्थ करने पर स्वाङ्ग कर्म होने से आत्मनेपद का निर्वाह हो जाता है।

रूपसिद्धि :—

आयच्छते—'यम उपरमे' १०५३ धातु परस्मैपदी है। अतः यच्छति रूप होता है, किन्तु आङ् पूर्वक यम् धातु से अकर्मक अर्थ में 'आङो यमहनः' २६९५ से आत्मनेपद होने पर 'त' प्रत्यय में 'इषुगमियमां छः' २४०० से 'म्' का 'छ्' आदेश होकर 'छे च' से 'तुक्' का आगम एवं श्चुत्व के बाद 'यच्छ' 'त' की स्थिति में 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर आयच्छते पद बनता है। इसका अर्थ है—लम्बा होता है। अतः क्रिया अकर्मक है।

आहते—हन् धातु परस्मैपदी है। अतः हन्ति रूप होता है, किन्तु आङ् पूर्वक हन् धातु से स्वाङ्ग कर्मक अर्थ में 'आङो यमहनः' २६९५ से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आता है। 'न्' का लोप एवं टि (अ) का एत्व होने पर आहते पद बनता है। वाक्य होता है—आहते उदरम् (अपने पेट को पीटता है)।

परस्य शिर आहन्ति—

यहाँ आङ् पूर्वक हन् धातु का प्रयोग है तथा दूसरे के सिर को आहत करना अर्थ है अतः 'आङो यमहनः' २६९५ के सन्दर्भ में आये—'स्वाङ्गकर्मकाच्चेति वक्तव्यम्'—इस वार्तिक के अनुसार स्वाङ्गकर्म होने पर ही आत्मनेपद होता है। फलतः उसके अभाव में यहाँ पराङ्ग कर्म (सिर) होने से आत्मनेपद नहीं होता है, किन्तु शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' २१५९ से परस्मैपद होने पर 'तिप्' प्रत्यय में आहन्ति रूप होता है।

२६९६। आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् २।२।४४

हनो वधादेशो वा लुङि आत्मनेपदेषु परेषु। आवधिष्ट। आवधिषाताम्।

यहाँ 'हनो वध लिङि' से 'हनो वध' की एवम् 'लुङि च' से 'लुङि' की अनुवृत्ति होने पर सूत्र का अर्थ है कि आत्मनेपदी प्रत्यय के पर में रहने से 'हन्' का विकल्प से 'वध' आदेश हो जाता है। उदाहरण है—आवधिष्ट। पक्ष में वध आदेश नहीं होने पर आहषत प्रयोग होता है।

रूपसिद्धि :—

आवधिष्ट—आङ् पूर्वक हन् धातु से 'आङो यमहनः' २६९५ से आत्मनेपद होने पर लुङ् लकार में 'त' प्रत्यय आता है। 'च्लि लुङि' २२२१ से 'च्लि' के आने पर 'च्लेः सिच्'

२३२२ से सिच् (स्) आदेश के बाद 'इट्' आगम होने से 'आ वध् इ स् त' की स्थिति में षत्व एवं ष्टुत्व होकर आवधिष्ट रूप होता है।

विकल्प पक्ष में 'हन्' का 'वध' आदेश नहीं होने पर 'न्' के लोप के बाद आहषत प्रयोग होता है।

२६९७। हनः सिच् १।२।१४

कित्स्यात्। अनुनासिकलोपः। आहत। आहसाताम्। आहसत।

यहाँ 'असंयोगाल्लिट् कित्' २२४२ से 'कित्' की अनुवृत्ति होने पर सूत्र का अर्थ है कि हन् धातु से परे सिच् कित् होता है। इसका उदाहरण है—आहत। आहसाताम् आदि।

रूपसिद्धि :—

आहत—हन् धातु से पूर्व में आङ् का प्रयोग रहने पर 'आङो यमहनः' २६५५ से आत्मनेपद होने पर 'त' प्रत्यय में विकल्प पक्ष में 'हन' का 'वध' आदेश नहीं होने से 'सिच्' के कित् होने के कारण 'अनुदात्तोपदेश वनति'—से अनुनासिक (न्) लोप के बाद सिच् का लोप होकर आहत रूप बनता है।

२६९८। यमो गन्धने १।२।१५

सिच् कित् स्यात्। गन्धनं सूचनं परदोषाविष्करणम्। उदायत। गन्धने किम्? उदायंस्त पादम्। आकृष्टवानित्यर्थः।

यहाँ 'असंयोगाल्लिट् कित्' २२४२ से 'कित्' की तथा 'हनः सिच्' २६९६ से 'सिच्' की अनुवृत्ति होने पर सूत्र का अर्थ है कि गन्धन अर्थ में प्रयुक्त यम् धातु से परे सिच् कित् होता है। गन्धन का अर्थ है—दूसरे के दोष को प्रकाश में लाना। उत् एवम् आङ् पूर्वक यम् धातु से लुङ् लकार में त प्रत्यय में सिच् के कित् होने से मकारलोप होकर उदायत प्रयोग होता है।

गन्धन अर्थ नहीं रहने पर सिच् के कित् नहीं होने से 'म्' का अनुस्वार होकर उदायंस्त रूप होता है। अतः वाक्य प्रयोग है—उदायंस्त पादम्=पैर को खींचा।

रूपसिद्धि :—

उदायत—उत् एवम् आङ् पूर्वक यम् धातु से 'आङो यमहनः' २६९५ से आत्मने 'उत् आ अ यम् स् त' पद होने पर लुङ् लकार में 'त' प्रत्यय होने पर धातु के पूर्व अडागम तथा धातु के बाद सिच् (स्) के आगम के बाद 'उत् आ अ यम् स त' की स्थिति में यम् धातु का अर्थ परदोष प्रकटन होने से 'यमो गन्धने' से सिच् का कित् हो जाने के कारण 'अनुदात्तोपदेश वनति—' २४२८ से अनुनासिक (म्) का लोप होकर 'झलो झलि' से 'स्' लोप के बाद उदायत रूप होता है। इसका अर्थ है—दूसरे के दोष को प्रकाशित कर चुका है।

उदायंस्त—उत्+आङ् पूर्वक यम् धातु से 'आङो यमहनः' २६९५ से आत्मनेपद होने पर लुङ् लकार में 'त' प्रत्यय में 'च्लि लुङि' से 'च्लि' का आगम होने पर 'च्लेः सिच्'

से 'सिच्' (स्) होने पर 'उत् आ यम् स् त' की स्थिति में उत् + आङ् पूर्वक यम् धातु का अर्थ—पैर ऊपर उठाना (गन्धन या पर दोष प्रकटन नहीं) होने से 'यमो गन्धने' से सिच् के कित् नहीं होने पर 'अनुदात्तोपदेश—' २४२८ से अनुनासिक (म्) का एवं 'झलो झलि' से 'स्' का लोप नहीं होने के कारण 'म्' का अनुस्वार होकर उदायंस्त रूप बना है। इसका अर्थ है—पैर को ऊपर खींचा।

२६९९। समो गम्यृच्छिभ्याम् १।३।२९।

अकर्मकाभ्याम् इत्येव। सङ्गच्छते।

यहाँ 'अकर्मकाच्च' से 'अकर्मकात्' की अनुवृत्ति होने पर सूत्र का अर्थ है कि अकर्मक सम् पूर्वक गम् धातु से तथा ऋच्छ धातु से आत्मनेपद होता है। जैसे—सङ्गच्छते।

रूपसिद्धि :—

सङ्गच्छते—सम् पूर्वक गम् धातु का अर्थ यहाँ संगत होना है जो अकर्मक क्रिया है। अतः 'समो गम्यृच्छिभ्याम्' २६९९ से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'सम् गम् त' की स्थिति में 'इषुगमियमां छः' २४०० से 'गम्' के 'म्' का 'छ' आदेश तथा तुक् एवं श्चुत्व होने पर 'सम्' के 'म्' का 'मोऽनुस्वारः' १२२ से अनुस्वार होने पर 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' १२४ से परसवर्ण (ङ्) होने के बाद 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२२३ से टि (अ) का एत्व होने पर सङ्गच्छते पद बनता है। अर्थात् संगम करती है।

२७००। वा गमः १।२।१३।

गमः परौ झलादी लिङ्सिचौ वा कितौ स्तः। सङ्गसीष्ट, सङ्गंसीष्ट। समगत, समगंस्त। समृच्छते। समृच्छिष्यते। अकर्मकाभ्यां किम्? ग्रामं संगच्छति। 'विदिप्रच्छिस्वरतीनामुपसंख्यानम्' (वा० ९१८)। वेत्तेरेव ग्रहणम्। संवित्ते। संविदाते।

यहाँ 'असंयोगाल्लिट् कित्' २२४२ से 'कित्' की तथा 'इको झल्' २६१२ से 'झल्' की अनुवृत्ति होती है तथा 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' २३०० का ग्रहण होता है। अतः सूत्रार्थ है—कि गम् धातु से परवर्ती झलादि लिङ्—सिच् आत्मनेपद में विकल्प से कित् होते हैं। इसका उदाहरण है—संगसीष्ट। विकल्प पक्ष में कित् नहीं होने पर 'म्' का अनुस्वार हो जाने से संगंसीष्ट प्रयोग होता है।

सम् पूर्वक गम् धातु से लुङ् लकार के 'त' प्रत्यय का उदाहण है—समगत, समगंस्त। सम् पूर्वक ऋच्छ धातु से आत्मनेपद होने से लृट् लकार के स्थान में 'त' प्रत्यय आने से 'स्यतासी ऌलुटोः' २१८६ से 'स्य' आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर समृच्छिष्यते रूप बना है। इसका अर्थ है—इन्द्रियों को वश में करेगा।

सूत्र में 'अकर्मकात्' की अनुवृत्ति के कारण सकर्मक सम् पूर्वक गम् धातु के रहने से परस्मैपद ही होता है। यथा—ग्रामं सङ्गच्छति = गाँव जाता है।

सम् पूर्वक विद्, प्रच्छ् और स्वृ धातु से आत्मनेपद होता है। 'विद्' से यहाँ अदादि गण का 'विद् ज्ञाने' धातु का ग्रहण है क्योंकि 'विद् विचारणे' और 'विद् सतायाम्' धातु अनुदात्तेत् होने से आत्मनेपदी होता ही है। सम् पूर्वक 'विद् ज्ञाने' धातु से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर एत्व होकर संवित्ते रूप होता है। 'आताम्' प्रत्यय-में संविदाते प्रयोग बनता है।

रूपसिद्धि :—

संगसीष्ट—सम् पूर्वक गम् धातु से 'समो गम्यृच्छिभ्याम्' से आत्मनेपद होने पर लुङ् लकार में 'त' प्रत्यय में सिच् (स्) होने पर 'वा गमः' २७०० से विकल्प से सिच् का कित् होने से 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनाम्' २४४८ से अनुनासिक (म्) लोप के बाद संगसीष्ट रूप होता है। विकल्प पक्ष में कित् नहीं होने पर अनुनासिक लोप नहीं होता है। अतः 'म्' का अनुस्वार होने पर संगंसीष्ट रूप होता है।

समगत—सम् पूर्वक गम् धातु का अर्थ—सम्मेलन या सङ्गम करना (अकर्मक क्रिया) होने पर 'समो गम्यृच्छिभ्याम्' २६९९ से आत्मनेपद होने से लुङ् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने से अडागम तथा सिच् (स्) होकर 'सम् अ गम् स् त' की स्थिति में 'वा गमः' २७०० से विकल्प से कित् होने पर 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोति—' २४४८ से अनुनासिक (म्) का लोप होने से 'ह्रस्वादङ्गात्' २३६९ से सिच् (स्) का लोप होकर समगत प्रयोग होता है।

विकल्प पक्ष में कित् नहीं होने से 'म्' का लोप नहीं होता है एवम् 'स्' का लोप भी नहीं होता है। अतः 'मोऽनुस्वारः' से अनुस्वार होने पर समगंस्त रूप बनता है।

ग्रामं संगच्छति—सम् पूर्वक गम् धातु का कर्म यहाँ ग्राम है। अतः 'समो गम्यृच्छिभ्याम्' २६९९ से अकर्मक क्रिया में ही आत्मनेपद का विधान किये जाने के कारण यहाँ इस सूत्र से आत्मनेपद नहीं होता है। अतः 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' २१५९ से परस्मैपद होने पर तिप् प्रत्यय में 'इषुगमियमां छः' २४०० से 'छ' आदेश होने पर 'तुक्' एवं श्चुत्व के बाद अनुस्वार होकर संगच्छति रूप बनता है।

संवित्ते—'विद् ज्ञाने' धातु परस्मैपदी है। अतः लट् के स्थान में 'तिप्' होने पर वेत्ति पद सिद्ध होता है। सम् पूर्वक विद् धातु का प्रयोग होने पर 'विदिप्रच्छिस्वरतीनामुपसंख्यानम्'—इस वार्तिक से आत्मनेपद का विधान होने से लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय होने पर 'सम् विद् त' की स्थिति में चर्त्व तथा अनुस्वार के बाद 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से एत्व होकर संवित्ते पद बना है।

संविदाते—सम् पूर्वक विद् धातु से 'विदिप्रच्छिस्वरतीनामुपसंख्यानम्' वार्तिक से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'आताम्' प्रत्यय होने से संविदाते प्रयोग निष्पन्न होता है।

२७०१ । वेत्तेर्विभाषा ७।१।७ ।

वेत्तेः परस्य झादेशस्यातो रुडागमो वा स्यात् । संविद्रते—संविदते । संविद्रताम् -संविदताम् । समविद्रत—समविदत । संपृच्छते । संस्वरते । 'अर्तिश्रुदृशिभ्यश्चेति वक्तव्यम्' (वा० ९२६) । अर्तीति द्वयोर्ग्रहणम् । अङ्विधौ त्वियर्तेरेवेत्युक्तम् । मा समृत, मा समृषाताम्, मा समृषत इति । समार्त, समार्षाताम्, समार्षत इति च भ्वादेः । इयर्तेस्तु मा समरत, मा समरेताम्, मा समरन्त इति । समारत, समारेताम्, समारन्तेति च । संश्रृणुते । संपश्यते । 'अकर्मकात्' इत्येव । अतएव "रक्षांसीति पुरापि संश्रृणुमहे" इति मुरारिप्रयोगः प्रामादिक इत्याहुः । अध्याहारो वा 'इति कथयद्भ्यः' इति । अथास्मिन्नकर्मकाधिकारे हनिगम्यादीनां कथमकर्मकतेति चेत्, शृणु,

> धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसंग्रहात् ।
> प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया ॥

वहति भारम् । नदी वहति । स्पन्दते इत्यर्थः । जीवति । नृत्यति । प्रसिद्धेर्यथा--मेघो वर्षति, कर्मणोऽविवक्षातो यथा—'हितान्न यः संश्रृणुते स किंप्रभुः' । 'उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वेति वाच्यम्' (वा० ९२०) । अकर्मकादिति निवृत्तम् । बन्धं निरस्यति, निरस्यते । समूहति, समूहते ।

यहाँ 'समो गम्यृच्छिभ्याम्' २६९९ से 'समः' की और 'झोऽन्तः' २१६९ से 'झः' की तथा 'अदभ्यस्तात्' २९७९ से 'अत्' की एवम् 'शीङो रुट्' २४४२ से 'रुट्' की अनुवृत्ति होने पर सूत्र का अर्थ है कि सम् पूर्वक विद् धातु से विहित 'झ' के स्थान में आदेश भूत 'अत्' के परे विकल्प से 'रुट्' का आगम होता है । यथा—संविद्रते । रुट् का आगम नहीं होने पर संविदते । 'आताम्' प्रत्यय में रुट् होने पर संविद्रताम् एवं रुट् नहीं होने पर संविदताम् प्रयोग होता है ।

सम् पूर्वक प्रच्छ धातु से आत्मनेपद में सम्पृच्छते तथा सम् पूर्वक स्वर धातु से आत्मनेपद में संस्वरते होता है । सम् पूर्वक ऋ, श्रु तथा दृश् धातु से आत्मनेपद कहना चाहिये । यहाँ 'ऋ' से 'ऋ गतिप्रापणयोः' तथा 'ऋ गतौ' दोनों धातुओं का ग्रहण है । जब 'सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च' २३८२ से च्लि का 'अङ्' होवे तब 'ऋ गतौ' का ही ग्रहण होता है जिसका रूप इयर्ति होता है । सम् पूर्वक ऋ धातु से आत्मनेपद में लुङ् लकार के स्थान में 'त' प्रत्यय होने पर 'माङ्' के योग में अडागम का निषेध होने से 'मा समृत' रूप होता है । 'आताम्' प्रत्यय में 'मा समृषाताम्' तथा 'झ' प्रत्यय में मा समृषत रूप निष्पन्न होते हैं । माङ् के अभाव में भ्वादि के 'ऋ गतिप्रापणयोः' धातु से समार्त, समार्षाताम् तथा समार्षत—रूप होते हैं ।

जुहोत्यादि के 'ऋ गतौ' धातु से 'श्लु' विकरण होने पर 'सर्तिशास्ति—' २३८२ से 'च्लि' का 'अङ्' होने पर 'ऋदृशोऽङि गुणः' २४०६ से गुण होने पर रपरत्व के बाद

मा समरत, मा समरेताम् तथा मा समरन्त आदि प्रयोग बनते हैं। 'माङ्' योग नहीं रहने पर 'आटश्च' से वृद्धि होने पर समारत, समारेताम्, समारन्त आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं।

सम् पूर्वक श्रु धातु से आत्मनेपद का उदाहरण है—संश्रृणुते। अर्थात् सूक्ष्म शब्द को भी ठीक से सुनता है। सम् पूर्वक दृश् धातु का उदाहरण है—सम्पश्यते। अकर्मक श्रु धातु से ही आत्मनेपद का विधान है। इसलिये—'रक्षांसीति पुराऽपि संश्रृणुहे'—इस मुरारि कवि के पद्यप्रयोग में सकर्मक श्रु धातु से आत्मनेपद प्रयोग की साधुता नहीं है। अतः भट्टोजिदीक्षित इसे प्रामादिक कहते हैं। अथवा 'इति कथयद्भ्यः' का अध्याहार करके काम चलाना उचित मानते हैं। अतः 'रक्षांसीति कथयद्भ्यः पुरा संश्रृणुमहे'—इस प्रकार अन्वय करके कथन क्रिया का कर्म राक्षस (न तो श्रवण क्रिया का कर्म राक्षस) के होने पर आत्मनेपद करने में कोई बाधा नहीं होगी।

इस अकर्मक के अधिकार से हन् एवं गम् को अकर्मकत्व कैसे हुआ ? इस शंका के समाधान में यह कारिका है—'धातोरर्थान्तरे—'

अर्थात् धातु जब अपने प्रसिद्ध अर्थ से भिन्न अर्थ का बोध कराये, और धातु के अर्थ में उपसंग्रह होवे अर्थात् क्रिया में कर्म समाहित हो जाये, तथा कर्म की प्रसिद्धि हो, एवम् कर्म की अविवक्षा रहने पर—इन चारों स्थितियों में सकर्मक क्रिया अकर्मक हो जाती है। प्रथम स्थिति का उदाहरण है—भारं वहति (भार ढोता है)। यहाँ 'वह प्रापणे' धातु सकर्मक है, किन्तु नदी वहति (नदी बहती है) में वहना क्रिया अकर्मक है। इसका अर्थ है—प्रवाहित होना। जीव धातु का अर्थ है—प्राण धारण करना। यहाँ प्राण रूप कर्म धात्वर्थ में समाहित है। अतः जीव धातु अकर्मक है। इसी तरह नृत् धातु का अर्थ गात्र विक्षेपण है। गात्ररूप कर्म धात्वर्थ में समाहित है। अतः नृत् धातु अकर्मक है। मेघः वर्षति में वर्ष धातु का कर्म जल है। वर्षा से जल की वृष्टि प्रसिद्ध है। अतः वर्ष धातु अकर्मक है। कर्म की अविवक्षा का उदाहरण है—'हितान्न यः संश्रृणुते स किंप्रभुः'। यहाँ वचन रूप कर्म की अविवक्षा से श्रु धातु अकर्मक है। इसलिये श्रु धातु से आत्मनेपद हुआ है।

उपसर्ग से परे अस् धातु एवम् ऊह धातु से विकल्प से आत्मनेपद होता है। अकर्मक का अधिकार नहीं रहा। इसका उदाहरण है—निरस्यति निरस्यते वा बन्धम्। अर्थात् गाँठ खोलता है। ऊह का उदाहरण है—समूहति, समूहते। अर्थात् उचित तर्क करता है।

रूपसिद्धि :—

संविद्रते—सम् पूर्वक विद् धातु से आत्मनेपद का विधान 'विदिप्रच्छिस्वरतीनामुपसंख्यानम्' वार्तिक से होने पर लट् लकार में 'झ' प्रत्यय होने से 'अदभ्यस्तात्' २४७९ से 'झ' का 'अत्' आदेश होने से 'वेत्तेर्विभाषा' २७०१ से 'अत्' के बाद 'रुट्' (र्) का आगम विकल्प से होकर एत्व होने पर 'मोऽनुस्वारः' १२२ से 'म्' का अनुस्वार होने पर संविद्रते रूप बनता है।

पक्ष में रुट् नहीं होने पर संविदते प्रयोग होता है ।

संपृच्छते—प्रच्छ धातु परस्मैपदी है। अतः पृच्छति रूप होता है किन्तु सम् पूर्वक प्रच्छ धातु से 'विदिप्रच्छिस्वरतीनामुपसंख्यानम्' वार्तिक से आत्मनेपद विधान होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने से 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर अनुस्वार के बाद संपृच्छते पद बना है ।

संशृणुते—श्रु धातु परस्मैपदी है। अतः शृणोति रूप होता है। सम् पूर्वक श्रु धातु के रहने पर 'अर्तिश्रुदृशिभ्यश्चेति वक्तव्यम्' इस वार्तिक से आत्मनेपद विधान होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने के बाद 'स्वादिभ्यः श्नुः' से 'श्नु (नु) आने पर 'श्रु वः शृ च' २३८६ से 'श्रु' का 'शृ' आदेश होने से 'टित आत्मनेपदानां टेरे' से एत्व होकर संशृणुते पद बनता है ।

'अर्तिश्रुदृशिभ्यश्चेति वक्तव्यम्' इस वार्तिक से अकर्मक श्रु धातु से ही आत्मनेपद का विधान होता है। यद्यपि श्रु धातु सकर्मक है, किन्तु कर्म की अविवक्षा के कारण अकर्मक होने से 'हितान्न यः संशृणुते स किंप्रभुः' इस वाक्य में आत्मनेपद हुआ है ।

संपश्यते—दृश् धातु परस्मैपदी है। अतः पश्यति रूप होता है, किन्तु सम् पूर्वक दृश् धातु के रहने पर 'अर्तिश्रुदृशिभ्यश्चेति वक्तव्यम्'—इस वार्तिक से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने से 'पाघ्राध्मास्था—' २३६० से दृश् का 'पश्य' आदेश के बाद 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से एत्व होने पर 'म्' का अनुस्वार होकर संपश्यते प्रयोग होता है ।

दृश् धातु के सकर्मक होने पर भी कर्म की अविवक्षा के कारण अकर्मक होने की स्थिति में यहाँ आत्मनेपद हुआ है ।

२७०२। उपसर्गाद्ध्रस्व ऊहतेः ७।४।२३।

यादौ क्ङिति। ब्रह्म समुह्यात्। अग्निं समुह्य।

यहाँ 'अयङ् यि क्ङिति' २६४९ की अनुवृत्ति होती है। अतः सूत्र का अर्थ है—यकारादि कित् या ङित् प्रत्ययों के परे रहते उपसर्ग पूर्वक ऊह् धातु का ह्रस्व हो जाता है। यथा—ब्रह्म समुह्यात्। अर्थात् ब्रह्म के विषय में तर्क बढ़ता जाये। अग्निं समुह्य—अग्नि के चारों तरफ शुद्ध करके ।

रूपसिद्धि :—

समुह्यात्—सम् पूर्वक 'ऊह वितर्के' धातु से आशीर्लिङ् में 'तिप्' प्रत्यय होने पर 'किदाशिषि' २२१६ से 'यासुट्' प्रत्यय होने पर 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' ३८० से सकार लोप के बाद 'उपसर्गाद्ध्रस्व ऊहतेः' २७०२ से धातु का ह्रस्व होने पर समुह्यात् पद सिद्ध होता है ।

समुह्य—सम् पूर्वक ऊह धातु से ल्यप् प्रत्यय होने पर धातु का ह्रस्व 'उपसर्गाद्ध्रस्व ऊहतेः' से होने के बाद समुह्य पद बनता है ।

२७०३ । निसमुपविभ्यो ह्वः १।३।३० ।

निह्वयते ।

नि, सम्, उप तथा वि उपसर्ग पूर्वक ह्वेञ् धातु से आत्मने पद होता है । जैसे—नि + ह्वेञ् + त = निह्वयते ।

ह्वेञ् धातु के ञित् होने से 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' २१५८ से कर्तृगामी क्रियाफल होने पर आत्मनेपद सिद्ध था । अतः परगामी क्रियाफल के अर्थ में आत्मनेपद विधान के लिये यह सूत्र है ।

रूपसिद्धि :—**निह्वयते ।**

नि उपसर्ग पूर्वक 'ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च' धातु से 'निसमुपविभ्यो ह्वः' १७०३ से आत्मनेपद विधान होने पर 'त' प्रत्यय आने से 'शप्' विकरण होने के बाद अयादेश होकर 'टित् आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर निह्वयते प्रयोग बना है ।

२७०४ । स्पर्धायामाङः १।३।३१ ।

कृष्णश्चाणूरमाह्वयते । स्पर्धायां किम् ? पुत्रमाह्वयति ।

यहाँ 'निसमुपविभ्यो ह्वः' से 'ह्वः' की अनुवृत्ति होने पर सूत्र का अर्थ है कि आङ् पूर्वक ह्वेञ् धातु स्पर्धा अर्थ में हो तो आत्मनेपदी हो जाता है । जैसे—कृष्णश्चाणूरमाह्वयते = कृष्ण चाणूर को पराजित करने की इच्छा (स्पर्धा) से बुलाते हैं ।

स्पर्धा अर्थ नहीं रहने पर परस्मैपद ही होता है परगामी क्रिया फल के अर्थ में । जैसे—पुत्रमाह्वयति = खाने के लिये पुत्र को पिता बुलाता है ।

रूपसिद्धि :—

कृष्णश्चाणूरमाह्वयते—आङ् उपसर्ग पूर्वक 'ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च' धातु से स्पर्धा अर्थ में परगामी क्रिया फल रहने पर 'स्पर्धायामाङः' २७०४ से आत्मनेपद होता है । कर्तृगामी क्रियाफल रहने पर तो धातु के ञित् होने के कारण 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' २१५८ से ही आत्मनेपद सिद्ध है । ह्वेञ् धातु से आत्मनेपद में 'त' प्रत्यय आने पर शप् (अ) विकरण के बाद अयादेश होकर टि (अ) का एत्व होने पर आह्वयते प्रयोग होता है ।

२७०५ । गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्नप्रकथनोपयोगेषु कृञः १।३।३२ ।

गन्धनं हिंसा । उत्कुरुते । सूचयतीत्यर्थः । सूचनं हि प्राणिवियोगानुकूलत्वाद्धिंसैव । अवक्षेपणं भर्त्सनम् । श्येनो वर्तिकामुदाकुरुते, भर्त्सयतीत्यर्थः । हरिमुपकुरुते, सेवते । परदारान् प्रकुरुते, तेषु सहसा प्रवर्तते । एधोदकस्योपस्कुरुते, गुणमाधत्ते । गाथाः प्रकुरुते, प्रकथयति । शतं प्रकुरुते, धर्मार्थं विनियुङ्क्ते । एषु किम् ? कटं करोति ।

गन्धन = हिंसा, अवक्षेपण = फटकार, सेवन, साहसिक कार्य, प्रतियत्न = गुण ग्रहण, प्रकथन = प्रशंसा तथा उपयोग अर्थ रहने पर उपसर्ग युक्त कृ धातु से आत्मनेपद होता है ।

गन्धन का अर्थ हिंसा है। उदाहरण है—उत्कुरुते। अर्थात् दूसरे के दोष को प्रकट करता है या चुगली करता है। प्राणवियोगजनक व्यापार को हिंसा कहते हैं। चुगली या पिशुनता भी हिंसा है क्योंकि जिसकी चुगली की जाती है उसके हृदय में कष्ट होता है।

अवक्षेपण का अर्थ है—भर्त्सना। इसका उदाहरण है—श्येनो वर्तिकामुदाकुरुते= बाज बटेर को घुड़कता है। सेवन अर्थ में—हरिम् उपकुरुते = हरि की सेवा करता है। साहस प्रयुक्त—परदारान् प्रकुरुते=दूसरे की स्त्रियों को साहस पूर्वक वश में करता है। प्रतियत्न—एधो दकस्य उपस्कुरुते एध (काठ) दक (जल) के गुण को धारण करता है। प्रकथन—गाथाः प्रकुरुते = गुणगान करता है। उपयोग–शतं प्रकुरुते = धर्म के लिये सौ रुपये जमा करता है।

उपर्युक्त गन्धन आदि अर्थों में ही आत्मनेपद होता है। अतः कटं करोति में आत्मनेपद नहीं हुआ।

रूपसिद्धि :—

उत्कुरुते—उत्पूर्वक कृ धातु का अर्थ यहाँ पिशुनता या चुगली करना है। जिससे निन्दित व्यक्ति को दुःख पहुँचने से हिंसा होती है। अतः गन्धन या हिंसा अर्थ की अभिव्यक्ति होने से 'गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्न-प्रकथनोपयोगेषु कृञः' २७०५ से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने से 'टित आत्मनेपदानां टेरे' से एत्व होने पर उत्कुरुते रूप बनता है।

उदाकुरुते—उत् + आङ् पूर्वक कृ धातु का अर्थ अवक्षेपण या भर्त्सना करना है। अतः 'गधनावक्षेपणसेवन—' २७०५ से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने से टि (अ) का एत्व होकर उदाकुरुते पद बनता है। वाक्य प्रयोग है—श्येनो वर्तिका-मुदाकुरुते। अर्थात् बाज बटेर को घुड़कता है।

पर दारान् प्रकुरुते—साहसिक कार्य (परायी स्त्री को अपने वश में करना) के अर्थ में प्र पूर्वक कृ धातु से 'गन्धनावक्षेपणसाहसिक्य—' २७०५ से आत्मनेपद होने से लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर टि (अ) का एत्व करके प्रकुरुते पद होता है।

एधोदकस्योपस्कुरुते—प्रतियत्न (दूसरे का गुण ग्रहण करना) अर्थ में उप पूर्वक कृ धातु से 'गन्धनावक्षेपण—' २७०५ से आत्मनेपद विधान होने पर 'त' प्रत्यय में टि (अ) का एत्व होने पर धातु के पूर्व 'सुट् का आगम होने पर उपस्कुरुते पद बनता है। वाक्य प्रयोग है—एधोदकस्योपस्कुरुते। एध का अर्थ है—काठ तथा दक का अर्थ है जल। अतः वाक्य का अर्थ होता है—काठ जल के गुण को ग्रहण करता है।

२७०६। अधेः प्रसहने १।३।३३।

प्रसहनं क्षमाभिभवश्च, 'षह मर्षणेऽभिभवे च' इति पाठात्। शत्रुमधिकुरुते। क्षमते इत्यर्थः, अभिभवतीति वा।

यहाँ 'गन्धनावक्षेपण—'२७०५ से 'कृञः' की अनुवृत्ति होने से सूत्र का अर्थ है कि अधि उपसर्ग से युक्त कृ धातु से प्रसहन या अभिभव अर्थ में आत्मनेपद होता है। 'सह' धातु का अर्थ सहन करना या दूसरे को परास्त करना है। इसका उदाहरण है—शत्रुमधिकुरुते। अर्थात् दुश्मन को सहन करता है या परास्त करता है।

रूपसिद्धि :—

शत्रुमधिकुरुते—प्रसहन या अभिभव अर्थ में अधि पूर्वक कृ धातु का प्रयोग रहने पर 'अधेः प्रसहने' से आत्मनेपद विधान होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय में टि (अ) का एत्व होकर अधिकुरुते पद बनता है। वाक्य प्रयोग है—शत्रुमधिकुरुते अर्थात् दुश्मन को हराता है।

२७०७। वेः शब्दकर्मणः १।३।३४।

स्वरान् विकुरुते, उच्चारयतीत्यर्थः। शब्दकर्मणः किम्? चित्तं विकरोति कामः।

'गन्धनावक्षेपण—' २७०५ से 'कृञः' की अनुवृत्ति होने पर इस सूत्र का अर्थ है कि कर्म के रूप में शब्द का प्रयोग रहने पर वि पूर्वक कृ धातु से आत्मनेपद हो जाता है। जैसे—स्वरान् विकुरुते अर्थात् स्वर (शब्द) का उच्चारण करता है। जहाँ शब्द कर्म के रूप में प्रयुक्त नहीं हो वहाँ परस्मैपद होता है। जैसे—चित्तं विकरोति कामः, अर्थात् कामदेव चित्त को विकारयुक्त बनाता है।

रूपसिद्धि :—

स्वरान् विकुरुते—परगामी क्रियाफल रहने पर या सामान्यप्रयोग में कृ धातु परस्मैपदी है। अतः करोति रूप होता है। वि उपसर्ग पूर्वक कृ धातु का कर्म यदि शब्द हो तब 'वेः शब्दकर्मणः' २७०८ से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर टि (अ) का एत्व होने पर विकुरुते पद बनता है।

चित्तं विकरोति कामः—वि उपसर्ग पूर्वक कृ धातु का कर्म जब शब्द रहता है तब 'वेः शब्दकर्मणः' से कृ धातु आत्मनेपदी हो जाता है। इसका उदाहरण है—स्वरान् विकुरुते।

इसलिये कृ धातु का कर्म जब शब्द नहीं रहता है तब आत्मनेपद नहीं होता है। यथा—चित्तं विकरोति कामः। अर्थात् कामदेव चित को विकृत करता है। यहाँ वि पूर्वक कृ धातु का कर्म चित्त है। अतः 'वेः शब्दकर्मणः' २७०८ से आत्मनेपद नहीं होने से 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' २१५९ से परस्मैपद होने पर लट् के स्थान में तिप् प्रत्यय में विकरोति रूप होता है।

२७०८। अकर्मकाच्च १।३।३५।

'वेः कृञः' इत्येव। छात्राः विकुर्वते, विकारं लभन्ते।

'गन्धनावक्षेपण—' २७०५ से 'कृञः' एवम् 'वेः शब्दकर्मणः' २७०७ से 'वेः' की अनुवृत्ति होने पर सूत्र का अर्थ है कि अकर्मक वि पूर्वक कृ धातु से आत्मनेपद होता है। यथा—छात्राः विकुर्वते (छात्र विकृत होते हैं)।

रूपसिद्धि :—

छात्राः विकुर्वते—यहाँ वि पूर्वक कृ धातु से आत्मनेपद 'अकर्मकाच्च' २७०८ से होता है क्योंकि छात्रों का विकृत होना—यह अकर्मक क्रिया है। आत्मनेपद होने पर 'झ' प्रत्यय आने से उसका 'अत्' आदेश तथा 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर विकुर्वते प्रयोग बना है। अतः छात्राः विकुर्वते—यह वाक्य प्रयोग है।

२७०९। सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः १।३।३६।

अत्रोत्सञ्जनज्ञानविगणनव्ययाः नयतेर्वाच्या, इतरे प्रयोगोपाधयः। तथा हि—शास्त्रे नयते। शास्त्रस्थं सिद्धान्तं शिष्येभ्यः प्रापयतीत्यर्थः। तेन च शिष्यसम्माननं फलितम्। उत्सञ्जने—दण्डमुन्नयते। उत्क्षिपतीत्यर्थः। माणवकमुपनयते। विधिना आत्मसमीपं प्रापयतीत्यर्थः। उपनयनपूर्वकेणाध्यापनेन हि उपनेतरि आचार्यत्वं क्रियते। ज्ञाने, तत्त्वं नयते। निश्चिनोतीत्यर्थः। कर्मकरानुपनयते। भृतिदानेन स्वसमीपं प्रापयतीत्यर्थः विगणनमृणादेर्निर्यातनम्। करं विनयते। राज्ञे देयं भागं परिशोधयतीत्यर्थः। शतं विनयते। धर्मार्थं विनियुङ्क्ते इत्यर्थः।

सम्मानन, उत्सञ्जन, आचार्यकरण, ज्ञान, भृति, विगणन तथा व्यय अर्थों में प्रयुक्त नी धातु से आत्मनेपद होता है। परगामी क्रियाफल रहने पर आत्मनेपद विधान का यह सूत्र है। कर्तृगामी क्रियाफल रहने पर 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' २१५८ से आत्मनेपद सिद्ध है। उत्सञ्जन, ज्ञान, विगणन और व्यय—ये नी धातु के वाच्य अर्थ हैं। शेष—सम्मानन, आचार्यकरण तथा भृति अर्थ प्रयोग के अनुसार जाने जाते हैं। अतः वे फलितार्थ होते हैं। वाच्यत्व के अभाव में भी अर्थ की सत्ता मात्र से शब्दप्रयोग में निमित्त होते हैं।

सम्मानन (समादर) का उदाहरण है—शास्त्रे नयते। अर्थात् शास्त्रीय सिद्धान्तों को शिष्यों तक पहुँचाता है। नी धातु प्रापणार्थक है। सिद्धान्त का आधार शास्त्र है। अतः उसमें सप्तमी हुई। सिद्धान्तों के ज्ञान से शिष्यों का सम्मान समाज में बढ़ता है। अतः शिष्य का सम्मानन रूप अर्थ यहाँ फलित है।

उत्सञ्जन का अर्थ है—उठाना। इसका उदाहरण है—दण्डमुन्नयते। अर्थात् डन्डा को ऊपर फेंकता है। उत्पूर्वक नी धातु का वाच्यार्थ है—उठाना या ऊपर ले जाना। आचार्य करण का उदाहरण है—माणवकमुपनयते। अर्थात् मनुष्य को शास्त्रीय विधि से आत्म-निकटता को प्राप्त कराते हैं। आचार्य यज्ञोपवीत प्रदान करके उसे वेदशास्त्र का ज्ञान प्राप्त कराते हैं। इसी में उनका आचार्यत्व है, केवल उपनयन मात्र से नहीं। अतः आचार्य का लक्षण है—

'उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः।
सकल्पं सरहस्यञ्च तमाचार्यं प्रचक्षते॥' (मनुस्मृति २-१४०)

यहाँ आचार्यकरण उपनयन का साध्य है। इसलिए अर्थतः प्रापण फलित है।

ज्ञान का उदाहरण है— तत्त्वं नयते। अर्थात् तत्त्व का निश्चय करता है। यहाँ नी धातु का प्रापण अर्थ वाच्य है।

भृति अर्थ में, यथा— कर्मकरानुपनयते। अर्थात् वेतन पर सेवा कार्य के लिये भृत्यों को अपने पास रखता है। भृति का अर्थ है—वेतन। उसके लिये कर्म करने वाला कर्मकर हुआ। उप पूर्वक नी धातु का अर्थ सामीप्य प्राप्त करना है। सामीप्य-प्राप्ति का माध्यम वेतन है। अतः नी धातु का यह फलितार्थ है।

विगणन का अर्थ है—ऋण आदि का चुकाना या उसके लिये पैसे गिनना। इसका उदाहरण है—करं विनयते। अर्थात् राजा को देय कर चुकाने के लिये पैसा गिनता है। यहाँ नी का प्रापण अर्थ वाच्य है।

व्यय (खर्च) का उदाहरण है—शतं विनयते। अर्थात् धर्म के लिये सौ रुपये खर्च करता है। यहाँ वि पूर्वक नी धातु व्ययार्थक है।

रूपसिद्धि :—

शास्त्रे नयते—'णीञ् प्रापणे' धातु परगामी क्रियाफल रहने पर परस्मैपदी होता है। अतः तिप् प्रत्यय में नयति रूप होता है। नी धातु का अर्थ जब सम्मानन, उत्सञ्जन आदि हो तब 'सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः' २७०९ से नी धातु आत्मनेपदी हो जाता है। शास्त्रे नयते का अर्थ है—शास्त्रगत सिद्धान्तों को शिष्य तक पहुँचाता है। शास्त्र के ज्ञान से शिष्य की प्रतिष्ठा लोगों में बढ़ती है। अतः सम्मान अर्थ के फलितार्थ कथन के कारण 'सम्माननोत्सञ्जन—'२७०९ से यहाँ आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने से 'शप्' (अ) के बाद 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' २१६८ से धातु का गुण होने पर अयादेश के अनन्तर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व हो जाने से नयते प्रयोग बना है।

दण्डमुन्नयते—प्रापणार्थक नी धातु परगामी क्रियाफल रहने पर परस्मैपदी है, किन्तु उत् पूर्वक नी धातु का अर्थ उत्सञ्जन = ऊपर ले जाना हो तब 'सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरण—'२७०९ से आत्मनेपद हो जाने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय होने पर टि (अ) का एत्व होने पर उन्नयते प्रयोग होता है। अर्थात् ऊपर फेंकता है (डण्डा को)।

माणवकमुपनयते—उप पूर्वक नी धातु का अर्थ है—समीप ले जाना। आचार्य शिष्य को उपनयन (सामीप्य प्राप्ति कराने) के बाद वेद-शास्त्रादि का ज्ञान प्राप्त कराता है क्योंकि आचार्य का आचार्यत्व केवल उपनयन (समीप लाना) से नहीं, किन्तु वेद-वेदाङ्गादि के अध्यापन से है। अतः आचार्यकरण अर्थ में 'सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरण—' २७०९ से आत्मनेपद का विधान होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'नी त' की स्थिति में शप् (अ) के बाद गुण एवम् अयादेश होने पर टि (अ) का एत्व होने पर

उपनयते प्रयोग बनता है। अतः वाक्य प्रयोग है—माणवकमुपनयते। यहाँ प्रापण अर्थ फलितार्थ है।

तत्त्वं नयते—यहाँ नी धातु का अर्थ है—ज्ञान या निश्चय करना। अतः इस अर्थ में 'सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरण—' २७०९ से आत्मनेपद विधान होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय होने पर शप् (अ) विकरण के बाद गुण तथा अय् आदेश एवम् एत्व होने पर नयते पद सिद्ध होता है। नी धातु का निश्चय अर्थ वाच्य है।

कर्मकरानुपनयते—यहाँ उपनयते का अर्थ है—भृतिदानेन सामीप्यं प्रापयति। अर्थात् जीविका या वेतन दान पूर्वक अपने समीप रखता है। यहाँ 'नी' का अर्थ 'भृति होने से 'सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरण—' २७०९ से आत्मनेपद-विधान होने पर उप् पूर्वक नी धातु से 'त' प्रत्यय आने से 'शप्' के बाद गुण अयादेश तथा एत्व होने पर उपनयते रूप बनता है। यहाँ नी धातु का प्रापण अर्थ फलितार्थ है।

करं विनयते—इस वाक्य का अर्थ है—कर चुकाने के लिये मुद्रा गिनता है। वि पूर्वक नी धातु का विगणन अर्थ होने से यहाँ 'सम्माननोत्सञ्जन—' २७०९ से नी धातु के आत्मनेपदी हो जाने पर लट् लकार में 'त' प्रत्यय आने से शप् एवं गुण तथा अयादेश के बाद 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से एत्व होने पर विनयते रूप बनता है। यहाँ विगणन अर्थ नी धातु का वाच्यार्थ है।

शतं विनयते—इस वाक्य का अर्थ है—धर्म कार्य के लिये सौ रुपये व्यय करता है। वि पूर्वक नी धातु का अर्थ—व्यय होने से यहाँ 'सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरण—' २७०९ से नी धातु आत्मनेपदी हो जाता है। अतः लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर शप् के बाद गुण तथा अयादेश होने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर विनयते पद सिद्ध होता है। यहाँ नी धातु का—अर्थ व्यय वाच्यार्थ है।

२७१०। कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि १।३।३७।

नियः कर्तृस्थे कर्मणि यदात्मनेपदं प्राप्तं तच्छरीरावयवे भिन्ने एव स्यात्। सूत्रे शरीरशब्देन तदवयवो लक्ष्यते। क्रोधं विनयते, अपगमयति। तत्फलस्य चित्तप्रसादस्य कर्तृगतत्वात् 'स्वरितञितः—' (सू० २१५८) इत्येव सिद्धे नियमार्थमिदम्। तेनेह न—गडुं विनयति। कथं तर्हि 'विगणय्य नयन्ति पौरुषम्' इति ? कर्तृगामित्वाविवक्षायां भविष्यति।

'सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः' २७०९ से 'नियः' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ है कि नी धातु से कर्तृस्थ कर्म में जो आत्मनेपद प्राप्त होता है वह शरीर के अवयव से भिन्न कर्म में ही होता है। सूत्र में शरीर शब्द से लक्षणा वृत्ति से शरीर का अवयव लक्षित होता है। इसका उदाहरण है—क्रोधं विनयते। अर्थात् क्रोध को दूर करता है। यहाँ अपनयन क्रिया का कर्म क्रोध है जो कर्ता में स्थित है। उसको हटाने का फल है—चित्त की प्रसन्नता, जो कर्ता में रहने वाली है। अतः

यहाँ नी धातु से 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' २१५८ से आत्मनेपद की सिद्धि रहने पर भी यह सूत्र नियमार्थ है। इसलिये गडुं विनयति (गलगण्ड या गले के गोला को गलाता है)—में आत्मनेपद नहीं हुआ क्योंकि गडु शरीर का अवयव है। 'विगणय्य नयन्ति पौरुषम्'—इस वाक्य में प्रश्न उठता है कि यहाँ पौरुष कर्म है तथा कर्ता में स्थित है और शरीर का अवयव भी नहीं है तब इसमें आत्मनेपद क्यों नहीं हुआ? इसका उत्तर देते हैं कि कर्तृगामी फल की विवक्षा नहीं होने से यहाँ आत्मने पद नहीं हुआ।

रूपसिद्धि :—

क्रोधं विनयते—'णीञ् प्रापणे' धातु परगामी क्रियाफल के रहने पर परस्मैपदी होता है। अतः वहाँ नयति रूप होता है किन्तु शरीरावयव भिन्न वस्तु के कर्तृस्थ कर्म के रहने पर 'कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि' २७१० से वि पूर्वक नी धातु आत्मनेपदी हो जाता है। अतः लट् लकार में 'त' प्रत्यय होने पर अप् (अ) विकरण होने पर धातु के गुण तथा अयादेश के बाद 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर विनयते (क्रोधम्) रूप निष्पन्न होता है। इस वाक्य का अर्थ है—क्रोध को हटाता है। यहाँ कर्ता में रहने वाला क्रोध कर्म है और वह शरीर का अंग नहीं है। अतः नी धातु आत्मनेपदी हो गया है।

गडुं विनयति—वि उपसर्ग पूर्वक 'णीङ् प्रापणे' धातु का कर्म यदि शरीर के अवयव से भिन्न कोई वस्तु रहे तो 'कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि' २७१० से आत्मनेपद हो जाता है। यथा—क्रोधं विनयते।

'गडुं विनयति' में गडु (गलगण्ड) कर्म है और वह कर्ता के शरीर का अंग है। इसलिये इस सूत्र से आत्मनेपद नहीं होता है। फलतः 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' २१५८ से परस्मैपद होने पर तिप् प्रत्यय आने से विनयति रूप होता है।

२७११। वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः १।३।३८

वृत्तिरप्रतिबन्धः। ऋचि क्रमते बुद्धिः। न प्रतिहन्यते इत्यर्थः। सर्ग उत्साहः। अध्ययनाय क्रमते। उत्सहते इत्यर्थः। क्रमन्तेऽस्मिन् शास्त्राणि। स्फीतानि भवन्तीत्यर्थः।

वृत्ति, सर्ग और तायन अर्थ रहने पर क्रम धातु से आत्मनेपद होता है। वृत्ति का अर्थ है—अप्रतिबन्ध या अनवरोध अथवा रुकावट नहीं। इसका उदाहरण है—ऋचि क्रमते बुद्धिः। अर्थात् ऋग्वेद में इसकी बुद्धि कुण्ठित नहीं होती है। सर्ग का अर्थ है उत्साह। जैसे—अध्ययनाय क्रमते। अर्थात् अध्ययन के लिये प्रोत्साहित होता है। तायन का अर्थ है—वृद्धि या स्फीतता। यथा—क्रमन्तेऽस्मिन् शास्त्राणि। अर्थात् इस व्यक्ति में शास्त्र विकसित होते हैं या स्फीत होते हैं।

रूपसिद्धि :—

ऋचि क्रमते बुद्धिः—यहाँ क्रम धातु का अर्थ है—अप्रतिहत गति से चलना। अतः इस अर्थ में 'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः' २७११ से क्रम धातु आत्मनेपदी हो जाता है। इसलिये

लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर क्रमते पद सिद्ध होता है। अतः वाक्य प्रयोग है—ऋचि क्रमते बुद्धिः।

अध्ययनाय क्रमते—'क्रमु पादविक्षेपे' धातु परस्मैपदी है। अतः क्राम्यति या क्रामति रूप लट् के 'तिप्' प्रत्यय में होता है। यहाँ क्रम धातु का अर्थ है—सर्ग या उत्साहित होना। इसलिये 'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः' से उत्साह अर्थ में क्रम धातु के आत्मनेपदी होने से लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से एत्व होकर क्रमते पद बना है। अतः वाक्य प्रयोग है—अध्ययनाय क्रमते अर्थात् अध्ययन के लिये प्रोत्साहित होता है।

क्रमन्तेऽस्मिन् शास्त्राणि—यहाँ क्रम धातु का अर्थ तायन या बढ़ना अथवा स्फीत होना है। अतः 'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः' २७११ से क्रम धातु आत्मनेपदी हो जाता है। फलतः लट् के स्थान में 'झ' प्रत्यय आने पर 'झोऽन्तः' से अन्तादेश एवं 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से एत्व होने से क्रमन्ते पद बना है। अतः वाक्य प्रयोग है—क्रमन्तेऽस्मिन् शास्त्राणि। अर्थात् इस व्यक्ति में शास्त्र विकसित होते हैं।

२७१२। उपपराभ्याम् १।३।३९।

वृत्त्यादिष्वाभ्यामेव क्रमेर्न तूपसर्गान्तरपूर्वात्। उपक्रमते। पराक्रमते। नेह—संक्रामति।

यहाँ 'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः' का ग्रहण होता है। अतः सूत्रार्थ है—वृत्ति (अनवरोध), सर्ग (उत्साह) तथा तायन (वृद्धि) अर्थों में क्रम धातु से पूर्व में 'उप' तथा 'परा' उपसर्ग रहने पर ही क्रम धातु आत्मनेपदी होता है। तात्पर्य है कि क्रम धातु से पूर्व अन्य उपसर्ग रहे तब यह आत्मनेपदी नहीं होता है। यथा—उपक्रमते। अर्थात् निर्विघ्न पूर्वक आरम्भ करता है। पराक्रमते। अर्थात् उत्साह से भरा हुआ प्रवृत्त होता है।

अन्य उपसर्ग के रहने पर क्रम धातु परस्मैपदी होता है। इसलिये—संक्रामति में आत्मनेपद नहीं हुआ है। अर्थात् संक्रमण करता है।

रूपसिद्धि :—

उपक्रमते—यहाँ उप पूर्वक क्रम धातु का अर्थ है—प्रतिबन्ध रहित रूप से आरम्भ करना। अतः इस अर्थ में 'उपपराभ्याम्' २७१२ से क्रम धातु से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर—उपक्रमते बना है।

पराक्रमते—परा पूर्वक क्रम धातु का यहाँ अर्थ है—उत्साह पूर्वक प्रवृत्त होना। अतः इस अर्थ में 'उपपराभ्याम्' से क्रम धातु आत्मनेपदी हो जाता है। फलतः 'त' प्रत्यय आने पर उसके टि (अ) का एत्व होने पर पराक्रमते पद बना है।

संक्रामति—वृत्ति (अनवरोध) सर्ग (उत्साह) तथा तायन (वृद्धि) अर्थ में उप तथा परा उपसर्ग रहने पर ही क्रम धातु आत्मनेपदी होता है—'उपपराभ्याम्' से।

चूंकि ये दो उपसर्ग ही यहाँ निर्दिष्ट हैं। अतः अन्य उपसर्ग पूर्व में रहने पर क्रम धातु आत्मनेपदी नहीं होता है। इसलिये उपर्युक्त उदाहरण में क्रम धातु से पूर्व में सम् उपसर्ग रहने के कारण आत्मनेपद नहीं होता है। फलतः 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' २१५९ से परस्मैपद होने पर 'तिप्' प्रत्यय में संक्रामति रूप होता है।

२७१३ आङ उद्गमने १।३।४०।

आक्रमते सूर्यः। उदयते इत्यर्थः। 'ज्योतिरुद्गमने इति वाच्यम्' (वा० ९२१) नेह —आक्रामति धूमो हर्म्यतलात्।

'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः' २७११ से 'क्रमः' की अनुवृत्ति होने पर सूत्र का अर्थ होता है कि उद्गमन या ऊपर उठना अर्थ में आङ् पूर्वक क्रम धातु से आत्मनेपद होता है। यथा— आक्रमते सूर्यः। अर्थात् सूर्य उदित होता है।

ज्योति अर्थात् तेज के उद्गमन में हो ऐसा कहना चाहिये, अन्यत्र नहीं। इसलिये 'आक्रामति धूमो हर्म्यतलात्' (धुआँ महल से ऊपर उठता है)—में आत्मनेपद नहीं होता है क्योंकि धुआँ ज्योति (नक्षत्र) नहीं है।

रूपसिद्धि :—

आक्रमते सूर्यः—यहाँ आङ् पूर्वक क्रम धातु का अर्थ उद्गमन या ऊपर उठना है अथवा उदित होना है। अतः 'आङ उद्गमने' २७१३ सूत्र से क्रम धातु आत्मनेपदी हो जाता है। इसलिये 'त' प्रत्यय आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर आक्रमते रूप बनता है।

सामान्यतः क्रम धातु परस्मैपदी है। अतः क्रामति रूप होता है। विशेष स्थिति में यहाँ आत्मनेपद किया गया है।

आक्रामति धूमो हर्म्यतलात्—क्रम धातु परस्मैपदी है। अतः क्रामति रूप होता है, किन्तु आङ् पूर्वक क्रम धातु का अर्थ जब ऊपर उठना हो तब 'आङ उद्गमने' से यह धातु आत्मनेपदी हो जाता है। अतः आक्रमते सूर्यः प्रयोग होता है।

इस सन्दर्भ में एक वार्तिक आता है—'ज्योतिरुद्गमने इति वाच्यम्'। अर्थात् ज्योति या नक्षत्र का उद्गमन हो वहीं 'आङ उदगमने' २७१३ से आत्मनेपद कहना चाहिये। इसलिये 'अक्रामति धूमो हर्म्यतलात्'—इस वाक्य में उद्गमन का कर्ता धुआँ के ज्योति (नक्षत्र) नहीं होने से आत्मनेपद नहीं हुआ है। फलतः 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' २१५९ से परस्मैपद होने से लट् के स्थान में 'तिप्' आने से आक्रामति पद बना है।

२७१४। वेः पादकर्मणः १।३।४१।

साधु विक्रमते वाजी। 'पादविहरणे किम् ?' विक्रामति सन्धिः। द्विधा भवति, स्फुटतीत्यर्थः।

यहाँ 'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः' २७११ से 'क्रमः' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ है— पादविहरण (कदम बढ़ाना) अर्थ में वि पूर्वक क्रम धातु से आत्मनेपद होता है। उदाहरण

है—साधु विक्रमते वाजी (घोड़ा अच्छी तरह कदम बढ़ाता है)। पादविहरण अर्थ नहीं रहने पर परस्मैपद होता है। जैसे विक्रामति सन्धिः = मेल टूट जाता है।

रूपसिद्धि :—

साधु विक्रमते वाजी—क्रम धातु परस्मैपदी है। अतः क्रामति रूप होता है, किन्तु वि पूर्वक क्रम धातु का अर्थ यहाँ पादविहरण (कदम बढ़ाना) है। इसलिये 'वेः पादविहरणे' २७१४ से क्रम धातु के आत्मनेपदी हो जाने से लट् लकार में 'त' प्रत्यय होने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से एत्व होने पर क्रमते रूप होता है। अतः वाक्य प्रयोग है—साधु विक्रमते वाजी (घोड़ा अच्छी तरह कदम बढ़ाता है)।

विक्रामति सन्धिः—यहाँ वि पूर्वक क्रम धातु का अर्थ विशृंखलित होना है। अतः 'वेः पादविहरणे' २७१४ से आत्मनेपद नहीं होता है क्योंकि इस सूत्र से आत्मनेपद वहीं होता है जहाँ वि पूर्वक क्रम धातु का अर्थ पादविहरण (कदम बढ़ाता) हो। अतः पादविहरण अर्थ के अभाव में यहाँ आत्मनेपद नहीं होने पर 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' २१५९ से परस्मैपद होने पर लट् के स्थान में तिप् प्रत्यय के आने से विक्रामति रूप बनता है।

२७१५। प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम् १।३।४२।

समर्थौ तुल्यार्थौ। शकन्ध्वादित्वात्पररूपम्। प्रारभ्यतेऽनयोस्तुल्यार्थता। प्रक्रमते। उपक्रमते। 'समर्थाभ्याम्' किम्? प्रक्रामति। गच्छतीत्यर्थः। उपक्रामति। आगच्छतीत्यर्थः।

यहाँ 'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः' से 'क्रमः' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ है कि प्र तथा उप पूर्वक क्रम धातु का प्रयोग जब समर्थ या तुल्य अर्थ में हो तब क्रम धातु आत्मनेपदी हो जाता है। समर्थ या सम अर्थ से तात्पर्य है समान अर्थ। सम + अर्थ की स्थिति में 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घसन्धि प्राप्त होने पर 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' वार्तिक से पररूप होने से 'समर्थ' शब्द बना है। प्रारम्भ में अर्थ में प्रक्रम तथा उपक्रम समान अर्थवाचक हैं। दोनों शब्द समानार्थक या आरम्भार्थक हैं। सूत्र में 'समर्थ' पाठ होने के कारण इससे भिन्न अर्थ में आत्मनेपद नहीं होता है। अतः परस्मैपद हो जाने पर प्रक्रामति रूप होता है। इसका अर्थ है—गमन करता है। इसी प्रकार उपक्रामति का अर्थ है—निकट आता है।

रूपसिद्धि :—

प्रक्रमते—यहाँ प्र पूर्वक क्रम धातु का समर्थ या आरम्भ अर्थ बोध होने से 'प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम्' २७१५ से आत्मनेपद होने से लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर प्रक्रमते पद बना है।

उपक्रमते—उप पूर्वक क्रम धातु से तुल्य या आरम्भ अर्थ होने पर 'प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम्' २७१५ से आत्मनेपद विधान होने से लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर टि (अ) का एत्व होने से उपक्रमते पद बना है।

२७१६ । अनुपसर्गाद्वा १।३।४३ ।

क्रामति, क्रमते । अप्राप्तविभाषेयम् । वृत्त्यादौ तु नित्यमेव ।

यहाँ 'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः' २७११ से 'क्रमः' की अनुवृत्ति होने पर सूत्र का अर्थ होता है कि उपसर्ग रहित क्रम धातु से विकल्प से आत्मनेपद होता है। यथा--क्रामति, क्रमते ।

यह अप्राप्त विभाषा है । आशय है कि किसी अन्य सूत्र से आत्मनेपद प्राप्त नहीं था और यहाँ विकल्प से आत्मनेपद का विधान किया गया है । अतः अप्राप्त विभाषा शब्द का विग्रह है—विविधा पक्षपातिनी भाषा विभाषा । अर्थात् जिसके विविध रूप देखे जाते हैं । वृत्ति (निरन्तर गति) और सर्ग (उत्साह) आदि अर्थों में नित्य ही आत्मनेपद होता है ।

रूपसिद्धि :—

क्रामति, क्रमते—यहाँ क्रम धातु से पूर्व कोई उपसर्ग नहीं है एवम् क्रम धातु किसी अर्थ विशेष में भी प्रयुक्त नहीं है । अतः 'अनुपसर्गाद्वा' से यहाँ विकल्प से आत्मनेपद होने के कारण पक्ष में परस्मैपद होने से लट् के स्थान में तिप् आने से क्रामति तथा आत्मनेपद में 'त' प्रत्यय होने से टि (अ) का एत्व होने पर क्रमते पद बनता है ।

२७१७ । अपह्नवे ज्ञः १।३।४४ ।

शतमपजानीते । अपलपतीत्यर्थः ।

अपलाप या मिथ्या भाषण अर्थ में ज्ञा धातु से आत्मनेपद होता है । उदाहरण है—शतमपजानीते । अर्थात् सौ रुपये बड़गलाता है ।

रूपसिद्धि :—

शतमपजानीते—यहाँ अप पूर्वक ज्ञा धातु का अर्थ है—अपलाप करना या छिपाना । अतः इस अर्थ में 'अपह्नवे ज्ञः' से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने से टि (अ) का एत्व होने पर अपजानीते प्रयोग होता है ।

२७१८ । अकर्मकाच्च १।३।४५ ।

सर्पिषो जानीते । सर्पिषोपायेन प्रवर्तते इत्यर्थः ।

'अपह्नवे ज्ञः' से 'ज्ञः' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ है—अकर्मक ज्ञा धातु से आत्मनेपद होता है । यथा—सर्पिषः जानीते । अर्थात् घी के उपाय या लोभ से प्रवृत्त होता है ।

रूपसिद्धि :—

सर्पिषः जानीते—'ज्ञा अवबोधने' धातु सकर्मक एवं परस्मैपदी है । अतः तत्त्वं जानाति प्रयोग होता है । ज्ञा धातु का प्रयोग यदि अकर्मक क्रिया में हो तो 'अकर्मकाच्च' २७१८ से ज्ञा धातु आत्मनेपदी हो जाता है । यथा—सर्पिषः जानीते । अर्थात् घी के उपाय द्वारा काम में प्रवृत्त होता है ।

प्रवृत्त होना अकर्मक क्रिया है जिसके लिये ज्ञा धातु का प्रयोग यहाँ हुआ है। अतः 'अकर्मकाच्च' २७१८ से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय होने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से एत्व होकर जानीते रूप बनता है।

२७१९। सम्प्रतिभ्यामनाध्याने १।३।४६।

शतं सञ्जानीते। अवेक्षते इत्यर्थः। शतं प्रतिजानीते। अङ्गीकरोतीत्यर्थः। 'अनाध्याने' इति योगो विभज्यते। तत्सामर्थ्यात् 'अकर्मकाच्च' (सू० २७१८) इति प्राप्तिरपि वार्यते। मातरं मातुर्वा सञ्जानाति। कर्मणः शेषत्वविवक्षायां षष्ठी।

'अपह्नवे ज्ञः' से 'ज्ञः' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ है—सम् एवं प्रति पूर्वक ज्ञा धातु से अनाध्यान अर्थ में आत्मनेपद होता है। आध्यान का अर्थ है—उत्कण्ठा पूर्वक स्मरण। इस प्रकार उत्कण्ठा पूर्वक स्मरण नहीं होना अनाध्यान है। उदाहरण—शतं सञ्जानीते। अर्थात् सौ मुद्रा सत्य जानता है। शतं प्रतिजानीते। अर्थात् सौ रुपये स्वीकारता है।

'सम्प्रतिभ्यामनाध्याने' इस सूत्र में 'अनाध्याने' यह योग विभाग है। तात्पर्य है कि इस सूत्र का दो विभाग कर देते हैं—'सम्प्रतिभ्याम्' और 'अनाध्याने'। 'सम्प्रतिभ्याम्'—का अर्थ है—सम् और प्रति पूर्वक ज्ञा धातु से आत्मनेपद होता है। 'अनाध्याने' का अर्थ है—अनुत्कण्ठा पूर्वक स्मरण में सम् और प्रति पूर्वक ज्ञा धातु से आत्मनेपद होता है। इस योग विभाग के सामर्थ्य से 'अकर्मकाच्च' २७१८ की प्राप्ति का भी वारण हो जाता है। फलतः अनाध्यान नहीं रहने पर आत्मनेपद भी नहीं होता है। जैसे—मातरं मातुर्वा सञ्जानाति। अर्थात् माता की याद उत्कण्ठा से करता है। यहाँ उत्कण्ठापूर्वक स्मरण (आध्यान) होने से परस्मैपद हुआ है।

मातरं मातुर्वा सञ्जानाति इस प्रयोग में माता कर्म है। अतः उसमें द्वितीया उचित है। षष्ठी कैसे हुई? इसके उत्तर में कहते हैं कि कर्म की शेषत्वेन विवक्षा करने से षष्ठी हुई है। कर्मत्व की विवक्षा में द्वितीया होती है।

रूपसिद्धि :—

शतं सञ्जानीते—यहाँ सम् उपसर्ग पूर्वक ज्ञा धातु का अर्थ है—अच्छी तरह जानना। अतः आध्यान या उत्कण्ठापूर्वक स्मरण अर्थ यहाँ नहीं होने से अनाध्यान अर्थ के कारण 'सम्प्रतिभ्यामनाध्याने' २७१९ से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने से टि (अ) का एत्व होकर परसवर्ण के बाद सञ्जानीते पद बनता है।

शतं प्रतिजानीते—यहाँ प्रति पूर्वक ज्ञा धातु का अर्थ है—स्वीकार करना अतः अनाध्यान (उत्कण्ठा पूर्वक स्मरण अर्थ का अभाव) के कारण 'सम्प्रतिभ्यामनाध्याने' २७१९ से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय होने पर टि (अ) का एत्व होने के बाद प्रतिजानीते पद बनता है। अर्थात् सौ रुपये स्वीकार करता है।

२७२०। भासनोपसम्भाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु वदः १।३।४७।

उपसम्भाषोपमन्त्रणे धातोर्वाच्ये, इतरे प्रयोगोपाधयः। शास्त्रे वदते। भासमानो ब्रवीतीत्यर्थः। उपसम्भाषा उपसान्त्वनम्। भृत्यानुपवदते। सान्त्वयतीत्यर्थः। ज्ञाने—शास्त्रे वदते। यत्ने—क्षेत्रे वदते। विमतौ—क्षेत्रे विवदन्ते। उपमन्त्रण-मुपच्छन्दनम्। उपवदते, प्रार्थयते इत्यर्थः।

भासन (नया-नया तर्क उपस्थित करना), उपसम्भाषण (उपसान्त्वना या धैर्य दिलाना), ज्ञान, यत्न, विमति तथा उपमन्त्रण—इन अर्थों में वर्तमान वद् धातु से आत्मनेपद होता है। उपसम्भाषण और उपमन्त्रण—ये दोनों धातु के वाच्य अर्थ हैं जबकि अन्य—भासन, ज्ञान, यत्न और विमति अर्थ प्रयोग की उपाधि हैं। तात्पर्य है कि ये अर्थतः लब्ध होते हैं, वाच्य रूप में नहीं।

भासन का अर्थ है नयी-नयी युक्ति का उल्लेख। इसका उदाहरण है—शास्त्रे वदते। अर्थात् नया-नया तर्क बोलता है। उपसम्भाषण का अर्थ है—सान्त्वना या धैर्य देना। यथा—भृत्यानुपवदते अर्थात् नौकरों को सान्त्वना देता है। ज्ञान का उदाहरण है—शास्त्रे वदते अर्थात् शास्त्र के विषय में ज्ञानपूर्वक बोलता है। यत्न से आशय है—उत्साह पूर्वक चेष्टा। यथा—क्षेत्रे वदते=क्षेत्र के विषय में उत्साह पूर्वक बोलता है। विमति का अर्थ है—विरुद्ध मति या परस्पर विरुद्ध मत प्रकट करना। जैसे—क्षेत्रे विवदन्ते। अर्थात् क्षेत्र के विषय में परस्पर विरुद्ध मत प्रकट करते हैं। उपमन्त्र से तात्पर्य है—सकारण निवेदन या प्रार्थना। यथा—उपवदते=प्रार्थना करता है।

रूपसिद्धि :—

शास्त्रे वदते—वद धातु परस्मैपदी है। अतः वदति रूप होता है। यहाँ उप पूर्वक वद धातु का अर्थ भासन या नये-नये तर्कपूर्वक बोलना है। अतः 'भासनोपसम्भाषा—' २७२० से वद् धातु से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय में एत्व होकर उपवदते प्रयोग होता है। अर्थात् नयी-नयी युक्ति के साथ शास्त्र के विषय में बोलता है।

भृत्यानुपवदते—सामान्यतः वद् धातु का प्रयोग परस्मैपद में होता है। अतः वदति रूप होता है। यहाँ उप पूर्वक वद् धातु का प्रयोग उपसम्भाषण या सान्त्वना देना अर्थ में है। अतः 'भासनोपसम्भाषा—' २७२० से वद् धातु के आत्मनेपदी होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय होने के बाद टि (अ) का एत्व करके उपवदते प्रयोग होता है। अतः वाक्य प्रयोग है—भृत्यानुपवदते अर्थात् नौकरों को धैर्य दिलाता है।

शास्त्रे वदते—यहाँ वद् धातु का प्रयोग ज्ञान पूर्वक बोलने अर्थ में है। अतः 'भासनोपसम्भाषाज्ञानयत्न—' २७२० से वद् धातु के आत्मनेपदी हो जाने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर टि (अ) का एत्व होने से वदते पद निष्पन्न होता है। अतः वाक्य प्रयोग है—शास्त्रे वदते=शास्त्र ज्ञान पूर्वक बोलता है।

क्षेत्रे वदते—यहाँ वद् धातु का प्रयोग यत्न या उत्साह पूर्वक बोलने अर्थ में है। इसलिये 'भासनोपसम्भाषा—' २७२० से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय

होने से टि (अ) का एत्व होकर वदते रूप होता है। अतः क्षेत्रे वदते का अर्थ है—क्षेत्र के विषय में उत्साह पूर्वक बोलता है।

क्षेत्रे विवदन्ते—जब वि पूर्वक वद धातु का अर्थ विमति या परस्पर विवाद करना हो तब 'भासनोपसम्भाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु वदः' २७२० से वद् धातु के आत्मनेपदी हो जाने पर लट् के स्थान में 'झ' प्रत्यय होने पर 'झोऽन्तः' २१६९ से अन्तादेश और टि (अ) का एत्व होने पर विवदन्ते रूप सिद्ध होता है। अतः क्षेत्रे विवदन्ते = क्षेत्र के विषय में विवाद करते हैं।

उपवदते—यहाँ उप पूर्वक वद् धातु का अर्थ प्रार्थना करना है। अतः 'भासनोपसम्भाषाज्ञान—'२७२० से इस अर्थ में वद् धातु से आत्मनेपद होने पर लट् लकार के स्थान में 'त' प्रत्यय आने के बाद एत्व होकर उपवदते प्रयोग होता है। इसका अर्थ है—प्रार्थना करता है।

२७२१। व्यक्तवाचां समुच्चारणे १।३।४८।

मनुष्यादीनां सम्भूयोच्चारणे वदेरात्मनेपदं स्यात्। सम्प्रवदन्ते ब्राह्मणाः। नेह सम्प्रवदन्ति खगाः।

'भासनोपसम्भाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु वदः' २७२० से 'वदः' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ है—व्यक्तवाणी अर्थात् स्वर-व्यञ्जन वर्णों के भेद पूर्वक एकीभूत स्पष्ट वाणी के उच्चारण अर्थ में वद् धातु से आत्मनेपद होता है। जैसे—सम्प्रवदन्ते ब्राह्मणाः। अर्थात् ब्राह्मण लोग मिलकर सस्वर उच्चारण करते हैं। जहाँ स्पष्ट वाणी का उच्चारण नहीं हो वहाँ आत्मनेपद नहीं होकर परस्मैपद होता है। जैसे—सम्प्रवदन्ति खगाः। अर्थात् पक्षी बोलते हैं।

रूपसिद्धि :—

सम्प्रवदन्ते ब्राह्मणाः—'वद व्यक्तायां वाचि' परस्मैपदी है। अतः वदति रूप होता है, किन्तु स्वर-व्यञ्जन भेद पूर्वक स्पष्ट उच्चारण के अर्थ में 'व्यक्तवाचां समुच्चारणे' से यहाँ सम् + प्र पूर्वक वद् धातु के आत्मनेपदी हो जाने के कारण लट् लकार के स्थान में 'झ' प्रत्यय आने पर 'झोऽन्तः' २१६९ से अन्तादेश तथा टि (अ) का एत्व होने पर सम्प्रवदन्ते ब्राह्मणाः प्रयोग होता है। अर्थात् ब्राह्मण लोग मिलकर सस्वर उच्चारण करते हैं।

सम्प्रवदन्ति खगाः—इस वाक्य का अर्थ है—पक्षिगण बोलते हैं। पक्षियों के बोलने में स्वर व्यञ्जन की स्पष्ट अभिव्यक्ति नहीं होती है। अतः 'व्यक्तवाचां समुच्चारणे' २७२१ से आत्मनेपद नहीं होने पर सम् एवं प्र पूर्वक वद् धातु से 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' २१५९ से परस्मैपद होने पर लट् के स्थान में 'झि' प्रत्यय होने से 'झोऽन्तः' २१६९ से अन्तादेश होकर सम्प्रवदन्ति खगाः—ऐसा प्रयोग होता है।

२७२२। अनोरकर्मकात् १।३।४९।

व्यक्तवाग्विषयादनुपूर्वादकर्मकाद्वदेरात्मनेपदं स्यात्। अनुवदते कठः कलापस्य। 'अकर्मकात्' किम्? उक्तमनुवदति। 'व्यक्तवाचाम्' किम्? अनुवदति वीणा।

'भासनोपसम्भाषाज्ञानयत्न—' २७२० से 'वदः' की अनुवृत्ति तथा 'व्यक्तवाचां समुच्चारणे' का ग्रहण होने पर सूत्रार्थ है—व्यक्त वाणी के विषय में प्रयुक्त अनु पूर्वक अकर्मक वद् धातु से आत्मनेपद होता है। यथा—अनुवदते कठः कलापस्य। अर्थात् कलाप के सदृश कठ बोलता है। सूत्र में 'अकर्मकात्' पढ़ा गया है। अतः सकर्मक वद् धातु रहने पर परस्मैपद ही होता है। यथा—उक्तमनुवदति = कहे हुए का अनुवाद करता है। सूत्र में 'व्यक्तवाचाम्' पाठ के कारण स्पष्ट वाणी नहीं रहने पर परस्मैपद होता है। जैसे—अनुवदति वीणा।

रूपसिद्धि :—

अनुवदते कठः कलापस्य—यहाँ व्यक्त वाणी के विषय में अनु पूर्वक वद् धातु का प्रयोग अकर्मक क्रिया के रूप में किया गया है। अतः 'अनोरकर्मकात्' २७२२ से आत्मनेपद होने पर लट् लकार के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर टि (अ) का एत्व होने पर अनुवदते प्रयोग बना है। अतः अनुवदते कठः कलापस्य का अर्थ है—कलाप के समान कठ बोलता है।

२७२३। विभाषा विप्रलापे १।३।५०।

विरुद्धोक्तिरूपे व्यक्तवाचां समुच्चारणे उक्तं वा स्यात्। विप्रवदन्ते विप्रवदन्ति वा वैद्याः।

'भाषणोपसम्भाषाज्ञानयत्न—' २७२० से 'वदः' तथा 'व्यक्तवाचां समुच्चारणे' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ है—परस्पर विरुद्ध अर्थ को बताने वाले व्यक्त वचन का समुच्चारण होने पर वद् धातु से विकल्प से आत्मनेपद होता है। जैसे—विप्रवदन्ते विप्रवदन्ति वा वैद्याः। अर्थात् चिकित्सक लोग परस्पर विरोधी मत प्रकट करते हैं।

रूपसिद्धि :—

विप्रवदन्ते विप्रवदन्ति वा वैद्याः—वद धातु परस्मैपदी है। अतः लट् लकार में झि प्रत्यय मे वदन्ति रूप होता है, किन्तु जब वद् धातु का अर्थ परस्पर विरुद्ध वचन व्यक्त रूप में बोलना हो तब 'विभाषा विप्रलापे' २७२३ के द्वारा वद् धातु से विकल्प से आत्मनेपद होता है। अतः यहाँ वि + प्र पूर्वक वद् धातु से आत्मनेपद में लट् के स्थान में 'झ' प्रत्यय होने पर 'झोऽन्तः' २१६९ से अन्तादेश तथा टि (अ) का 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से एत्व होने पर विप्रवदन्ते रूप होता है।

विकल्प पक्ष में परस्मैपद होने से 'झि' प्रत्यय में अन्तादेश के बाद विप्रवदन्ति रूप होता है। अतः वाक्य प्रयोग है—विप्रवदन्ते विप्रवदन्ति वा वैद्याः। अर्थात् वैद्यगण परस्पर विरुद्ध मत प्रकट करते हैं।

२७२४। अवाद् ग्रः १।३।५१।

अवगिरते। 'गृणातिस्त्ववपूर्वो न प्रयुज्यत एव' इति भाष्यम्।

अव पूर्वक गृ धातु से आत्मनेपद होता है। यथा—अवगिरते।

अव उपसर्ग पूर्वक क्र्यादिगण के 'गॄ शब्दे' धातु, जिसमें 'क्र्यादिभ्यः श्ना' २५५४ से 'श्ना' विकरण होता है, का प्रयोग ही नहीं होता है—ऐसा भाष्य में लिखा है। अतः अवगृणाति या अवगृणाते रूप नहीं होता है।

रूपसिद्धि :—

अवगिरते—'गॄ निगरणे' धातु परस्मैपदी है, अतः गिरति रूप होता है। किन्तु अव पूर्वक गृ धातु का प्रयोग रहने पर 'अवाद् ग्रः' २७२४ से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर एत्व होकर अवगिरते पद बनता है।

२७२५। समः प्रतिज्ञाने १।३।५२।

शब्दं नित्यं सङ्गिरते। प्रतिजानीते इत्यर्थः, 'प्रतिज्ञाने' किम्? सङ्गिरति ग्रासम्।

'अवाद् ग्रः' २७२४ से 'ग्रः' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ है—प्रतिज्ञा अर्थ में सम् पूर्वक गृ धातु से आत्मनेपद हो जाता है। यथा—शब्दं नित्यं सङ्गिरते। अर्थात् शब्द को प्रतिदिन स्वीकारता है। प्रतिज्ञा या स्वीकारना अर्थ नहीं रहने पर आत्मनेपद नहीं होता है। जैसे—सङ्गिरति ग्रासम् = ग्रास को लीलता है।

रूपसिद्धि :—

शब्दं नित्यं सङ्गिरते—'गृ निगरणे' धातु परस्मैपदी है। अतः गिरति रूप होता है, किन्तु सम् पूर्वक गृ धातु का अर्थ प्रतिज्ञा हो तब 'समः प्रतिज्ञाने' २७२५ से आत्मनेपद हो जाता है। अतः सम् पूर्वक गृ धातु से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने से टि (अ) का एत्व होकर संगिरते रूप होता है। अतः वाक्य प्रयोग है—शब्दं नित्यं सङ्गिरते। अर्थात् शब्द को नित्य स्वीकारता है।

२७२६। उदश्चरः सकर्मकात् १।३।५३।

धर्ममुच्चरते। उल्लङ्घ्य गच्छतीत्यर्थः। 'सकर्मकात्' किम्? वाष्पमुच्चरति। उपरिष्टाद् गच्छतीत्यर्थः।

उत्पूर्वक सकर्मक चर् धातु से आत्मनेपद होता है। यथा—धर्ममुच्चरते। अर्थात् धर्म का उल्लंघन करता है। सूत्र में 'सकर्मकात्' पढा गया है। अतः अकर्मक रहने पर परस्मैपद ही होता है। यथा—बाष्पमुच्चरति। अर्थात् बाष्प ऊपर की ओर जाता है।

रूपसिद्धि :—

धर्ममुच्चरते—चर धातु परस्मैपदी है। अतः गौश्चरति प्रयोग होता है। यहाँ उत् पूर्वक चर् धातु का प्रयोग सकर्मक क्रिया के अर्थ में है तथा इसका कर्म है—धर्म। अतः 'उदश्चरः सकर्मकात्' २७२६ से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर टि (अ) का एत्व होने के बाद उच्चरते रूप होता है। अतः वाक्य प्रयोग है—धर्ममुच्चरते। अर्थात् धर्म का उल्लंघन करता है।

बाष्पमुच्चरति—चर् धातु परस्मैपदी है। अतः चरति प्रयोग होता है, किन्तु उत् पूर्वक चर धातु के सकर्मक होने पर 'उदश्चरः सकर्मकात्' २७२६ से धातु सकर्मक हो जाता है। वाष्पमुच्चरति में धातु के अकर्मक होने से इस सूत्र से आत्मनेपद नहीं होने से 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' २१५९ से परस्मैपद होने पर तिप् प्रत्यय में चरति रूप होता है। अतः वाक्य प्रयोग है—बाष्पमुच्चरति। अर्थात् बाष्प ऊपर की ओर जाता है।

२७२७ समस्तृतीयायुक्तात् १।३।५४।

रथेन सञ्चरते।

'उदश्चरः सकर्मकात्' २७२६ से 'चरः' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ है—तृतीयान्त पद से युक्त सम् पूर्वक चर् धातु से आत्मनेपद होता है। यथा—रथेन सञ्चरते। अर्थात् रथ से संचरण या विचरण करता है।

रूपसिद्धि :—

रथेन सञ्चरते—चर् धातु या सम् पूर्वक चर् धातु परस्मैपदी है। अतः चरति एवं सञ्चरति रूप होता है किन्तु सम् पूर्वक चर् धातु यदि तृतीयान्त सुबन्त से युक्त हो तब 'समस्तृतीयायुक्तात्' २७२७ से आत्मनेपद होने पर लट् लकार में 'त' प्रत्यय में 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर 'म्' का अनुस्वार तथा परसवर्ण होने पर सञ्चरते पद निष्पन्न होता है। अतः वाक्य प्रयोग है- रथेन सञ्चरते। अर्थात् रथ से विचरण करता है।

२७२८। दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे १।३।५५।

सम् पूर्वाद् दाणस्तृतीयान्तेन युक्तादुक्तं स्यात्, सा च तृतीया चेच्चतुर्थ्यर्थे। दास्या संयच्छते। पूर्वसूत्रे 'समः' इति षष्ठी। तेन सूत्रद्वयमिदं व्यवहितेऽपि प्रवर्तते। रथेन समुदाचरते। दास्या सम्प्रयच्छते।

'समस्तृतीयायुक्तात्' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ है—चतुर्थी के अर्थ में जहाँ तृतीया विहित हो वहाँ उस तृतीयान्त पद के योग में सम् पूर्वक दाण् धातु से आत्मनेपद होता है। सामान्यतः सम्प्रदान कारक (जिसे कुछ दिया जाये) में चतुर्थी विभक्ति होती है 'चतुर्थी सम्प्रदाने' ५७१ से। किन्तु अशिष्ट व्यवहार (परस्त्री या दासी आदि में गमन) के लिये दान के अर्थ में 'अशिष्टव्यवहारे दाणः प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे तृतीया' इस वार्तिक से चतुर्थी के बदले तृतीया विभक्ति होती है। अतः प्रयोग है—दास्या संयच्छते। अर्थात् दासी को अनुचित कामोपभोग के लिये धन देता है।

पूर्व सूत्र—'समस्तृतीयायुक्तात्' २७२७ में 'समः' सम् से पञ्चमी का रूप नहीं, किन्तु षष्ठी का है। अतः 'समः तृतीयायुक्तात्' २७२७ तथा 'दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे' २७२८—ये दोनों सूत्र व्यवधान में भी प्रवृत्त होते हैं। तात्पर्य है कि सम् के बाद किसी अन्य उपसर्ग के रहने पर भी ये सूत्र प्रवृत्त होते हैं। इसलिये सम्+उत्+आ पूर्वक चर् धातु से 'समस्तृतीयायुक्तात्' २७२७ से आत्मनेपद होने पर 'रथेन समुदाचरते' प्रयोग होता है।

इसी प्रकार सम् + प्र पूर्वक दाण् धातु से 'दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे' से आत्मनेपद होने पर दास्या सम्प्रयच्छते प्रयोग होता है।

रूपसिद्धि :—

दास्या संयच्छते—यहाँ अशिष्ट व्यवहार के लिये दान का पात्र दासी है जिसमें चतुर्थी के बदले तृतीया विभक्ति होने पर सम् पूर्वक 'दाण् दाने' धातु से 'दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे' २७२८ से आत्मनेपद होने पर लट् लकार में 'त' प्रत्यय आने से 'पाघ्राध्मा-स्थाम्नादाण्—' २३६० से 'दाण्' का 'यच्छ' आदेश होने के बाद 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से एत्व होकर अनुस्वार के बाद संयच्छते रूप बनता है।

२७२९। उपाद् यमः स्वकरणे १।३।५६।

स्वकरणं स्वीकारः। भार्यामुपयच्छते।

स्वकरण अर्थ में उप पूर्वक यम् धातु से आत्मनेपद होता है। स्वकरण का अर्थ है—स्वीकार। इसका उदाहरण है भार्यामुपयच्छते। अर्थात् स्त्री को स्वीकारता है।

रूपसिद्धि :—

भार्यामुपयच्छते—'दाण् दाने' धातु परस्मैपदी है। अतः लट् लकार में 'तिप्' प्रत्यय होने पर 'दाण्' का 'यच्छ' आदेश होने पर यच्छति रूप होता है, किन्तु दाण् धातु से पूर्व में उप उपसर्ग हो तथा उसका अर्थ स्वीकार करना हो तब 'उपाद् यमः स्वकरणे' २७२९ से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'दाण्' का 'यच्छ' आदेश तथा टि (अ) का एत्व होने पर उपयच्छते प्रयोग होता है। अतः 'भार्यामुपयच्छते' वाक्य प्रयोग है। इसका अर्थ है—भार्या को स्वीकारता है।

२७३०। विभाषोपयमने १।२।१६।

यमः सिच्किद्वा स्याद्विवाहे। रामः सीतामुपायत-उपायंस्त वा। उदवोढेत्यर्थः। गन्धनाङ्गे उपयमे तु पूर्वविप्रतिषेधान्नित्यं कित्त्वम्।

यहाँ 'असंयोगाल्लिट् कित्' २२४२ से 'कित्' तथा 'हनः सिच्' २६९७ से 'सिच्' एवम् 'यमो गन्धने' २६९८ से 'यमः' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ है—विवाह अर्थ में उप पूर्वक यम् धातु का प्रयोग रहने पर धातु से परे 'सिच्' विकल्प से कित् होता है। इसका उदाहरण है—

रामः सीतामुपायत उपायंस्त वा।

अर्थात् राम ने सीता से विवाह किया।

हिंसात्मक (राक्षस, पिशाच आदि) विवाह में पूर्व विप्रतिषेध के कारण 'यमो गन्धने' २६९८ से नित्य ही कित्त्व होता है।

रूपसिद्धि :—

उपायत, उपायंस्त—उप पूर्वक यम् धातु से 'उपाद्यमः स्वकरणे' २७२९ से आत्मनेपद होने पर लुङ् लकार के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'च्लि लुङि' २२२१ से 'च्लि'

आने पर 'च्लेः सिच्' २२२२ से 'च्लि' का 'सिच्' होने पर अडागम के बाद 'उप अ यम् स् त' की स्थिति में 'विभाषोपयमने' २७३० से विकल्प से सिच् का कित् हो जाने पर 'अनुदात्तोपदेश वनति—' २४२८ से अनुनासिक (म्) का लोप होने पर 'झलो झलि' २२८१ से 'स्' लोप के बाद उपायत प्रयोग होता है।

विकल्प पक्ष में सिच् का कित् नहीं होने पर 'अनुदात्तोपदेश वनति—' २४२८ से अनुनासिक 'म' का लोप नहीं होने पर 'झलो झलि' २२८१ से 'स्' लोप भी नहीं होने से 'म्' का अनुस्वार होकर उपायंस्त प्रयोग होता है।

२७३१। ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः १।३।५७।

सन्नन्तानामेषां प्राग्वत्। धर्मं जिज्ञासते। शुश्रूषते। सुस्मूर्षते। दिदृक्षते।

सन् प्रत्ययान्त ज्ञा, श्रु, स्मृ तथा दृश् धातु से आत्मनेपद होता है। उदाहरण है—धर्मं जिज्ञासते = धर्म को जानना चाहता है। धर्मं शुश्रूषते = धर्म को सुनने की इच्छा करता है। धर्मं सुस्मूर्षते = धर्म को स्मरण करना चाहता है। धर्मं दिदृक्षते = धर्म (धर्म के प्रभाव) को देखना चाहता है।

यद्यपि ज्ञा धातु से अपह्नव (छिपाना) अर्थ में 'अपह्नवे ज्ञः' २७१७ से आत्मनेपद प्राप्त था एवम् 'अतिश्रुदृशिभ्यश्च' वार्तिक से श्रु एवं दृश् धातु से आत्मनेपद प्राप्त था, एवम् सन्नन्त धातुओं से भी 'पूर्ववत्सनः' से आत्मनेपद सिद्ध था, फिर भी अपह्नव तथा अकर्मक आदि के अभाव में भी आत्मनेपद विधान के लिये यह सूत्र पढ़ा गया है।

रूपसिद्धि :—

धर्मं जिज्ञासते—ज्ञातुमिच्छति—इस विग्रह में 'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा' २६०८ से ज्ञा धातु से सन् प्रत्यय आने पर धातु का द्वित्व तथा अभ्यास कार्य के बाद बने 'जिज्ञास' की 'सनाद्यन्ता धातवः' से धातुसंज्ञा होने पर 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' २७३१ से आत्मनेपद विधान होने से लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से एत्व होने के बाद जिज्ञासते रूप सिद्ध होता है।

शुश्रूषते—श्रोतुमिच्छति—इस विग्रह में श्रु धातु से सन् प्रत्यय होने पर सन्नन्त श्रू (शुश्रूष) से 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' २७३१ से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर टि (अ) का एत्व होकर शुश्रूषते बनता है।

दिदृक्षते—द्रष्टुमिच्छति—इस विग्रह में दृश् (दिदृक्ष) धातु से 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' २७३१ से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय होने पर टि (अ) का एत्व होने पर दिदृक्षते रूप सिद्ध होता है।

२७३२। नानोर्ज्ञः १।३।५८।

पुत्रमनुजिज्ञासति। पूर्वसूत्रस्यैवायं निषेधः, 'अनन्तरस्य—' (प० ६३) इति न्यायात्। तेनेह न—सर्पिषोऽनुजिज्ञासते। सर्पिषा प्रवर्तितुमिच्छतीत्यर्थः। 'पूर्ववत्सनः' (सू० २७३४) इति लङ्, 'अकर्मकाच्च' (सू० २७१८) इति केवलाद्विधानात्।

'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' २७३१ से 'सनः' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ है—अनु पूर्वक सन्नन्त ज्ञा धातु से आत्मनेपद नहीं होता है। इसका उदाहरण है—पुत्रमनुजिज्ञासति। अर्थात् पुत्र को आज्ञा देना चाहता है।

यह सूत्र—'नानोर्ज्ञः' पूर्व सूत्र—'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' का निषेधक है। 'अनन्तरस्य विधिः प्रतिषेधो वा'—इस न्याय से यहाँ आत्मनेपद नहीं होता है। किन्तु 'सर्पिषोऽनुजिज्ञासते'—प्रयोग में आत्मनेपद का निषेध नहीं होता, बल्कि 'पूर्ववत्सनः' २७३४ से आत्मनेपद हो जाता है। 'अकर्मकाच्च' से केवल ज्ञा धातु से आत्मनेपद होता है।

रूपसिद्धि :—

पुत्रमनुजिज्ञासति—पुत्रमनुज्ञातुमिच्छति इस विग्रह में अनु पूर्वक ज्ञा धातु से सन् प्रत्यय होने पर सन्नन्त ज्ञा (अनुजिज्ञास) धातु से 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' २७३१ से आत्मनेपद प्राप्त था, किन्तु अनु पूर्वक ज्ञा धातु होने के कारण 'नानोर्ज्ञः' से आत्मनेपद का निषेध हो जाने पर परस्मैपद होने से तिप् प्रत्यय में अनुजिज्ञासति रूप होता है।

२७३३ । प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः १।३।५९ ।

आभ्यां सन्नन्ताच्छ्रुव उक्तं न स्यात्। प्रतिशुश्रूषति। आशुश्रूषति। कर्मप्रवचनीयात्स्यादेव। देवदत्तं प्रति शुश्रूषते। 'शदेः शितः' (सू० २३६२), 'म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च' (सू० २५३८) व्याख्यातम्।

'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' २७३२ से 'सनः' तथा 'नानोर्ज्ञः' से 'न' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ है—प्रति एवम् आङ् पूर्वक सन्नन्त श्रु धातु से आत्मनेपद नहीं होता है। यथा—प्रतिशुश्रूषति। अर्थात् बदले में सेवा करता है। आशुश्रूषति=समग्र रूप से या लक्ष्य सिद्धि तक सेवा करता है। इन उदाहरणों में 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' २७३१ से आत्मनेपद प्राप्त था जिसका निषेध इस सूत्र से होता है।

कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने पर तो आत्मनेपद होता ही है। जैसे—देवदत्तं प्रति शुश्रूषते। अर्थात् देवदत्त की सेवा बदले की भावना से करता है। इसमें 'लक्षणेत्थम्भूताख्यान—' से प्रति की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने पर उसके योग में द्वितीया विभक्ति होने पर 'देवदत्तम्' पद बना है। 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' २७३२ से आत्मनेपद हो जाता है।

'शदेः शितः' तथा 'म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च' से आत्मनेपद का विधान होता है। व्याख्यान पूर्व में हो चुका है।

रूपसिद्धि :—

प्रतिशुश्रूषति—यहाँ प्रति पूर्वक सन्नन्त श्रु धातु का प्रयोग है। सन्नन्त श्रु धातु से आत्मनेपद का विधान 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' २७३२ से प्राप्त होता है, किन्तु प्रति उपसर्ग होने के कारण 'प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः' से आत्मनेपद का निषेध हो जाने पर परस्मैपद में लट् के स्थान में 'तिप्' होने से प्रतिशुश्रूषति रूप होता है।

आशुश्रूषति—आङ् पूर्वक सन्नन्त श्रु धातु से आत्मनेपद का विधान 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' २७३२ से प्राप्त होने पर आङ् उपसर्ग रहने के कारण 'प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः' २७३३ से आत्मनेपद का निषेध हो जाने पर परस्मैपद में लट् के स्थान में तिप् प्रत्यय होने पर आशुश्रूषति रूप होता है। इसका अर्थ है—समग्र रूप से या लक्ष्य की सिद्धि तक सेवा करता है।

देवदत्त प्रति शुश्रूषते—श्रोतुमिच्छति इस विग्रह में 'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा' २६०८ से श्रु धातु से सन् प्रत्यय होने पर द्वित्वादि कार्य के बाद शुश्रूस् धातु से आत्मनेपद का विधान 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' से होता है, किन्तु प्रति पूर्वक सन्नन्त श्रु धातु के होने से 'प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः' २७३३ से आत्मनेपद का निषेध प्राप्त होता है, किन्तु यहाँ 'प्रति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा 'लक्षणेत्थम्भूताख्यानवीप्सासु प्रतिपर्यनवः' ५५२ से होती है। इसलिये 'कर्मप्रवचनीयात् स्यादेव' इस वचन के अनुसार आत्मनेपद ही होने से लट् लकार में 'त' प्रत्यय में शुश्रूषते प्रयोग होता है।

२७३४। पूर्ववत्सनः १।३।६२।

सनः पूर्वो यो धातुस्तेन तुल्यं सन्नन्तादप्यात्मनेपदं स्यात्। एदिधिषते। शिशयिषते। निविविक्षते। 'पूर्ववत्' किम्? बुभूषति। 'शदेः—' (सू० २३६२) 'म्रियते—' (सू० २५३८) इत्यादि सूत्रद्वये 'सनो न' इत्यनुवर्त्य वाक्यभेदेन व्याख्येयम्। तेनेह न—शिशत्सति। मुमूर्षति। 'आम्प्रत्ययवत्कृञोऽनुप्रयोगस्य' (सू० २२४०) एधांचक्रे।

सन् प्रत्यय की प्रकृति भूत जो धातु उसके तुल्य सन्नन्त से भी आत्मनेपद होता है। तात्पर्य है कि जब आत्मनेपदी धातु से इच्छार्थे सन् प्रत्यय होता है तो उस सन्नन्त धातु से भी आत्मनेपद हो जाता है। जैसे एधितुम् इच्छति इस विग्रह में सन् प्रत्यय होने पर बने एदिधिष से आत्मनेपद में 'त' प्रत्यय होने पर एदिधिषते पद बनता है। इसी प्रकार शयितुमिच्छति इस विग्रह में आत्मनेपदी शीङ् धातु से सन् प्रत्यय करने पर शिशयिष से आत्मनेपद में त प्रत्यय में शिशयिषते पद बनता है। निवेष्टुम् इच्छति इस विग्रह में निविविक्षते प्रयोग होता है।

सूत्र में 'पूर्ववत्' ग्रहण के कारण भू धातु के परस्मैपदी होने से उससे सन् प्रत्यय करने पर बुभूषति—यह परस्मैपदी रूप ही होता है।

'शदेः शितः' २३६२ तथा 'म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च'—इन दो सूत्रों में 'पूर्ववत्सनः' २७३४ से 'सनः' तथा 'नानोर्ज्ञः' २७३२ से 'न' की अनुवृत्ति होने पर 'शद्लृ शातने' तथा 'मृङ् प्राणत्यागे' धातु से इच्छा अर्थ में सन् प्रत्यय करने पर 'शिशित्स' तथा 'मुमूर्ष' से आत्मनेपद नहीं होता है—ऐसी व्याख्या करनी चाहिये। अतः शिशित्स तथा मुमूर्ष से आत्मनेपद नहीं होने पर परस्मैपद में 'तिप्' प्रत्यय में शिशित्सति एवं मुमूर्षति रूप होते हैं। 'आम्' प्रत्यय के प्रकृति भूत धातु के समान ही अनुप्रयुज्यमान कृ धातु से भी आत्मनेपद होता है। जैसे—एधांचक्रे।

रूपसिद्धि :—

एदिधिषते—एधितुमिच्छति इस विग्रह में 'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा' २६०८ से एध धातु से सन् प्रत्यय होकर बने एदिधिष के प्रकृति भूत एध धातु के आत्मनेपदी होने के कारण 'पूर्ववत्सनः' २७३४ से सन्नन्त एध (एदिधिष) धातु से आत्मनेपद विधान होने पर लट् लकार में 'त' प्रत्यय आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर एदिधिषते प्रयोग बनता है।

शिशयिषते—शेतुमिच्छति इस विग्रह मे शीङ् धातु से सन् प्रत्यय होने पर बने शिशयिष के प्रकृतिभूत शीङ् धातु के आत्मनेपदी होने के कारण 'पूर्ववत्सनः' से सन्नन्त शीङ् (शिशयिष) धातु से आत्मनेपद होने पर लट् लकार में 'त' प्रत्यय होकर एत्व होने से शिशयिषते प्रयोग निष्पन्न होता है।

निविविक्षते—निवेष्टुम् इच्छति इस विग्रह में नि पूर्वक विश् धातु से सन् प्रत्यय होने पर निविविक्ष से आत्मनेपद में 'त' प्रत्यय में एत्व के बाद निविविक्षते रूप होता है।

२७३५। प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु १।३।६४।

प्रयुङ्क्ते, उपयुङ्क्ते। 'स्वराद्यन्तोपसर्गादिति वक्तव्यम्' (वा० ९३९)। उद्युङ्क्ते। नियुङ्क्ते। 'अयज्ञपात्रेषु' किम्? 'द्वन्द्वं न्यब्जि पात्राणि प्रयुनक्ति'।

यज्ञ पात्र के साधन नहीं रहने पर प्र एवम् उप उपसर्ग से परे युज धातु से आत्मनेपद होता है। जैसे—प्रयुङ्क्ते=प्रयोग करता है। उपयुङ्क्ते=उपयोग करता है। जिस उपसर्ग के आदि में स्वर हो या अन्त में स्वर हो उस उपसर्ग से परे युज् धातु से आत्मनेपद होता है—ऐसा कहना चाहिये। जैसे—उद्युङ्क्ते=उद्योग करता है। नियुङ्क्ते=नियुक्त करता है।

सूत्र में 'अयज्ञपात्रेषु' पढने का फल है कि 'द्वन्द्वं न्यब्जि पात्राणि प्रयुनक्ति' (दो छेद वाले पात्रों का प्रयोग करता है)—इस वाक्य में यज्ञपात्र होने से प्र पूर्वक युज् धातु से आत्मनेपद नहीं होने पर परस्मैपद में तिप् प्रत्यय होने पर प्रयुनक्ति प्रयोग होता है।

रूपसिद्धि :—

प्रयुङ्क्ते—परस्मैपदी युज् धातु से युनक्ति रूप होता है, किन्तु प्र पूर्वक युज धातु का प्रयोग यज्ञपात्र से भिन्न अर्थ में होने के कारण 'प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु' २७३५ से युज धातु आत्मनेपदी हो जाता है। अतः लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय होने से 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से एत्व होने पर प्रयुङ्क्ते प्रयोग होता है।

उपयुङ्क्ते—यहाँ भी उप पूर्वक युज धातु से 'प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु' से आत्मनेपद होने पर उपयुङ्क्ते प्रयोग होता है।

उद्युङ्क्ते—यहाँ उत् पूर्वक युज धातु का प्रयोग है। अतः प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु' के सन्दर्भ में आये वार्तिक—'स्वराद्यन्तोपसर्गादिति वाच्यम्' से आत्मनेपद का विधान होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने से टि (अ) का एत्व होकर उद्युङ्क्ते प्रयोग होता है।

नियुङ्क्ते—नि पूर्वक युज धातु से नियुङ्क्ते प्रयोग होता है।

२७३६। समः क्ष्णुवः १।३।६५।

संक्ष्णुते शस्त्रम्।

सम् पूर्वक 'क्ष्णु तेजने' धातु से आत्मनेपद होता है। यथा—संक्ष्णुते शस्त्रम् = शस्त्र को तेज करता है।

रूपसिद्धि :—

संक्ष्णुते शस्त्रम्—'क्ष्णु तेजने' धातु परस्मैपदी है। अतः क्ष्णौति रूप होता है, किन्तु सम् पूर्वक क्ष्णु धातु का प्रयोग रहने पर 'समः क्ष्णुवः' से आत्मनेपद विधान होने से लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर एत्व होकर संक्ष्णुते पद बनता है।

२७३७। भुजोऽनवने १।३।६६।

ओदनं भुङ्क्ते। अभ्यवहरतीत्यर्थः। 'बुभुजे पृथिवीपालः पृथिवीमेव केवलाम्'। 'वृद्धो जनो दुःखशतानि भुङ्क्ते'। इह उपभोगो भुजेरर्थः। अनवने किम्?—महीं भुनक्ति।

रक्षा से भिन्न अर्थ में भुज् धातु से आत्मनेपद होता है। तात्पर्य है कि 'भुज पालनाभ्यवहारयोः' धातु के पालन तथा भक्षण— दोनों अर्थ हैं, किन्तु जहाँ रक्षा से भिन्न अर्थात् भक्षण अर्थ में भुज् धातु का प्रयोग हो वहाँ भुज् धातु से आत्मनेपद होता है। जैसे—ओदनं भुङ्क्ते=भात खाता है। 'बुभुजे पृथिवीपालः' तथा 'दुःखशतानि भुङ्क्ते'—में भुज् धातु का अर्थ भोग करना है जो रक्षार्थक नहीं है। अतः यहाँ आत्मनेपद हुआ है।

सूत्र में 'अनवने' कहा गया है। अतः रक्षा करने के अर्थ में 'महीं भुनक्ति' (पृथिवी की रक्षा करता है)—इस वाक्य में आत्मनेपद नहीं होने से परस्मैपद होता है।

रूपसिद्धि :—

दुःखशतानि भुङ्क्ते—'भुज् पालनाभ्यवहारयोः' इस धातु पाठ के अनुसार भुज् धातु का अर्थ पालन या रक्षा करना एवं भोजन करना दोनों है। 'धातूनामनेकार्थत्वात्'—इस वचन के कारण उपर्युक्त प्रयोग 'भुङ्क्ते' में भुज धातु का अर्थ उपभोग करना है जो रक्षा से भिन्न अर्थ वाला है। अतः 'भुजोऽनवने' से यहाँ आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर भुङ्क्ते बना है। वाक्य प्रयोग है—दुःखशतानि भुङ्क्ते अर्थात् सैकड़ों दुःख भोगता है।

महीं भुनक्ति—इस वाक्य का अर्थ है—पृथ्वी की रक्षा करता है। 'भुज पालनाभ्यवहारयोः' धातु पाठ के अनुसार भुज धातु का अर्थ रक्षा करना एवं खाना—दोनों है यहाँ भुज का अर्थ रक्षा करना है। अतः 'भुजोऽनवने' से यहाँ भुज धातु से आत्मनेपद नहीं होता है क्योंकि इस सूत्र से रक्षा से भिन्न अर्थ में ही आत्मनेपद होता है। 'फलतः' शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' २१५९ से परस्मैपद होने पर तिप् प्रत्यय में भुज धातु से भुनक्ति बना)।

२७३८। णेरणौ यत्कर्म णौ चेत्स कर्ताऽनाध्याने १।३।६७।

ण्यन्तादात्मनेपदं स्यादणौ या क्रिया सैव चेण्ण्यन्तेनोच्येत, अणौ यत्कर्मकारकं स चेण्णौ कर्ता स्यान्नत्वाध्याने। 'णिचश्च' (सू० २५६४) इति सिद्धेऽकर्त्रभिप्रायार्थमिदम्। कर्त्रभिप्राये तु 'विभाषोपपदेन—' (सू० २७४४) इति विकल्पे 'अणावकर्मकात्—' (सू० २७५४) इति परस्मैपदे च परत्वात्प्राप्ते पूर्वविप्रतिषेधेनेदमेवेष्यते। कर्तृस्थभावकाः कर्तृस्थक्रियाश्चोदाहरणम्। तथाहि—पश्यन्ति भवं भक्ताः, चाक्षुषज्ञानविषयं कुर्वन्तीत्यर्थः। प्रेरणांशत्यागे पश्यति भवः, विषयो भवतीत्यर्थः। ततो हेतुमण्णिच्, दर्शयन्ति भवं भक्ताः। पश्यन्तीत्यर्थः। पुनर्ण्यर्थस्याविवक्षायां, दर्शयते भवः, इह प्रथमतृतीययोरवस्थयोर्द्वितीयचतुर्थ्योश्च तुल्योऽर्थः। तत्र तृतीयकक्षायां न तङ्, क्रियासाम्येऽप्यणौ कर्मकारकस्य णौ कर्तृत्वाभावात्। चतुर्थ्यां तु तङ्। द्वितीयामादाय क्रियासाम्यात् प्रथमायां कर्मणो भवस्येह कर्तृत्वाच्च। 'एवमारोहयते हस्ती' इत्यप्युदाहरणम्। आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः। न्यग्भावयन्तीत्यर्थः। तत आरोहति हस्ती। न्यग्भवति इत्यर्थः। ततो णिच्, आरोहयन्ति। आरोहन्तीत्यर्थः। तत आरोहयते, न्यग्भवतीत्यर्थः। यद्वा पश्यन्त्यारोहन्तीति प्रथमकक्ष्या प्राग्वत्। ततः कर्मण एव हेतुत्वारोपाण्णिच्। दर्शयति भवः। आरोहयति हस्ती। पश्यत आरोहतश्च प्रेरयतीत्यर्थः। ततो णिज्भ्यां तत्प्रकृतिभ्यां च उपात्तयोर्द्वयोरपि प्रेषणयोस्त्यागे 'दर्शयते' 'आरोहयते' इत्युदाहरणम्। अर्थः प्राग्वत्। अस्मिन् पक्षे द्वितीयकक्ष्यायां न तङ्। समानक्रियात्वाभावाण्णिजर्थस्याधिक्यात्। 'अनाध्याने' किम्? स्मरति वनगुल्मं कोकिलः। स्मरयति वनगुल्मः। उत्कण्ठापूर्वकस्मृतौ विषयो भवतीत्यर्थः। 'भीस्म्योर्हेतुभये' (सू० २५९४)। व्याख्यातम्।

अण्यन्तावस्था की क्रिया जब ण्यन्त धातु से कही जाय और अण्यन्तावस्था का कर्म जब ण्यन्तावस्था में कर्ता बन जाय तब उत्सुकता पूर्वक स्मरण से भिन्न अर्थ में ण्यन्त धातु से आत्मनेपद होता है।

इस सूत्र के अर्थ को और अधिक स्पष्ट करने के लिये इसे चार वाक्य खण्डों में विभाजित किया जा सकता है, जो अधोलिखित हैं—

(१) 'णेः आत्मनेपदम्'—ण्यन्तादात्मनेपदं स्यात् अर्थात् ण्यन्त धातु से आत्मनेपद होता है।

(२) 'अणौ यत् कर्म णौ चेत्'—अणौ या क्रिया सैव ण्यन्तेन उच्यते चेत्—यहाँ कर्म से क्रिया का तात्पर्य है। अतः अण्यन्तावस्था की क्रिया जब ण्यन्त धातु से कही जाय तभी आत्मनेपद होता है।

(३) 'स कर्ता'—अणौ यत्कर्मकारकं स चेण्णौ कर्ता स्यात्—अण्यन्तावस्था का जो कर्म कारक वह ण्यन्तावस्था में यदि कर्ता हो।

(४) 'अनाध्याने'—न तु ध्याने—आध्यान का अर्थ है—उत्सुकतापूर्वक स्मरण। अतः उत्सुकता पूर्वक स्मरण से भिन्न अर्थ में आत्मनेपद होता है। अनाध्याने—में 'आध्याने न' यह निषेध की प्रतीति नहीं है, बल्कि अनाध्यान रहने पर आत्मनेपद होता है—ऐसा अर्थ है।

'णिचश्च' २४६४ से कर्तृगामी क्रियाफल रहने पर णिजन्त धातु से आत्मनेपद सिद्ध है, किन्तु जहाँ कर्तृगामी क्रियाफल न हो वहाँ णिजन्त धातु से आत्मनेपद विधान के लिये यह सूत्र है। क्रियाजन्य फल कर्तृगामी होने पर 'विभाषोपपदेन प्रतीयमाने' २७४४ से विकल्प से आत्मपनेद की प्राप्ति होने पर एवम् 'अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात्' २७५४ से परत्व के कारण ण्यन्त धातु से परस्मैपद की प्राप्ति होने पर पूर्व विप्रतिषेध के कारण इस 'णेरणौ यत्कर्म' से आत्मनेपद होता है।

कर्तृस्थ भावक और कर्तृस्थ क्रिया वाले धातुओं के उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं। कर्तृस्थ भावक की व्युत्पत्ति है—कर्तृस्थो भावो येषान्ते कर्तृस्थभावकाः। अर्थात् जिनके भाव कर्ता में स्थित हों। भाव के विवेचन में कहा है—अपरिस्पन्दनसाधनसाध्यो धात्वर्थो भावः। अर्थात् साधन = कारक के साध्य = क्रिया में स्पन्दन (अङ्ग-प्रत्यङ्ग का हिलाना तथा शिरः कम्पन आदि) रूप लक्षित न हो, ऐसे धात्वर्थ को भाव कहते हैं। यद्यपि दर्शन क्रिया में पलकों का खुलना स्पन्दन है तथापि इस क्रिया में हस्त-पादादि की चेष्टा न होने से इसे अपरिस्पदन कहा है। यहाँ साधन पद से लकार वाच्य कारक विवक्षित है। अतः दृश् धातु को कर्तृस्थ भावकता हुई, कर्तृस्थक्रियाकता न हुई।

कर्तृस्थ भावक का उदाहरण अधोलिखित रूप में चार कक्षाओं में दिया गया है—

१. पश्यन्ति भवं भक्ताः अर्थात् भक्त गण शिव को देखते हैं या उन्हें चाक्षुष ज्ञान विषयीभूत करते हैं। धात्वर्थ यहाँ चक्षुरिन्द्रियजन्यज्ञानविषयभूत भवनानुकूल व्यापाररूपार्थक है।

२. पश्यति भवः—यहाँ चाक्षुष ज्ञान का विषय शिव स्वयम् होते हैं। चाक्षुषज्ञान विषयीभूत भवनाश्रय शिव को भक्त प्रेरित करते हैं।

३. दर्शयन्ति भवं भक्ताः—यहाँ 'हेतुमति च' २५७६ से णिच् करने पर दर्शयन्ति प्रयोग हुआ है। दर्शयन्ति का अर्थ है—पश्यन्ति। इस प्रकार दोनों का अर्थ समान है। प्रथम कक्षा—पश्यन्ति भवं भक्ताः में जो धात्वर्थ था यहाँ दर्शयन्ति में णिच् करने पर भी वही अर्थ रहा। प्रथम कक्षा में भव कर्म था। वह यहाँ भी कर्म है।

४. दर्शयते भवः—में ण्यर्थ या प्रेरणांश की अविवक्षा होने पर 'णेरणौ यत्कर्म—' २७३८ से आत्मनेपद हुआ है। आशय है कि भव (शंकर) स्वयम् ही प्रसन्न होकर दर्शन देते हैं। 'पश्यन्ति भवं भक्ताः—' में जो 'भव' कर्म है वह यहाँ कर्ता है तथा 'पश्यति भवः' के साथ क्रिया का साम्य है।

यहाँ प्रथम एवं तृतीय कक्षा में तथा तृतीय एवं चतुर्थ कक्षा में धात्वर्थ समान है। प्रथम एवं तृतीय कक्षा में धात्वर्थ तुल्य होने पर भी आत्मनेपद इस सूत्र से नहीं हुआ क्योंकि अण्यन्तावस्था में जो कर्मकारक 'भव' था वह ण्यन्तावस्था में कर्ता कारक नहीं है।

चतुर्थ कक्षा में 'दर्शयते भवः' में तो आत्मनेपद इस सूत्र से हुआ क्योंकि द्वितीय कक्षा में जो क्रिया धात्वर्थ वाच्य है वही चतुर्थ कक्षा का भी है। अतः क्रियासाम्य है। इसी तरह प्रथम कक्षा में जो 'भव' कर्म था वही चतुर्थ कक्षा में कर्ता है।

कर्तृस्थ क्रिया के विवेचन में कहते हैं— कर्तृस्था क्रिया येषां ते कर्तृस्थक्रियाः धातवः। अर्थात् वे कर्तृस्थ क्रिया कही जाती हैं जिनकी क्रिया कर्ता में स्थित हो। इनके उदाहरण चार कक्षाओं में अग्रलिखित रूप में देते हैं—

१. हस्तिपकाः हस्तिनमारोहन्ति (महावत हाथी पर चढ़ते हैं) यहाँ धात्वर्थ न्यग्भवनानुकूल व्यापार रूप अर्थ वाचक है। हाथी झुकता है और महाव्रत उसे झुकाता है। उपरि गमनानुकूला क्रिया—वह धातु का अर्थ है। हाथी के नीचे झुकने पर ही चढ़ना सम्भव है। झुकने का आधार आश्रय हस्ती कर्म है। झुकाने रूप व्यापार का आश्रय होने के कारण महावत (हस्तिपक) कर्ता है।

२. आरोहति हस्ती (चढ़ने के लिये हाथी झुकता है) प्रेरणांश के परित्याग होने पर उपरि भाग पर चढ़ने के अनुकूल न्यग्भवन अर्थ है। प्रेरणांश के परित्याग का फल है—न्यग्भवनम्।

३. आरोहयन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः (महावत हाथी पर चढ़ाते हैं, चढने के लिये झुकाते हैं) धातु के प्रेषण की विवक्षा में यहाँ णिच् का प्रयोग है। प्रेरणांश की निवृत्ति होने पर णिजन्त का फलित अर्थ है—आरोहन्ति।

४. आरोहयते हस्ती (हाथी स्वयं चढा लेता है या चढ़ाने के लिये झुक जाता है) में अविवक्षित प्रेषण होने से ण्यन्त से आत्मनेपद प्रकृत सूत्र से होता है। प्रेरणांश के परित्याग होने पर ण्यन्त का फलित अर्थ है—न्यग् भवति अर्थात् महावत के चढ़ने के लिये झुकता है।

यद्वा—पश्यन्ति भवं भक्ताः एवम् आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः—ये दोनों प्रथम कक्षा के उदाहरण पूर्ववत् व्याख्येय हैं। द्वितीय कक्षा में कर्म में ही प्रयोजकत्व या प्रेरकत्व स्वीकार करके हेतुत्व का आरोप कर द्वितीय कक्षा में णिच् प्रत्यय की उत्पत्ति करके दर्शयति भवः तथा आरोहयति हस्ती—में दिखने वाले या आरोहण करने वाले को भव तथा हस्ती प्रेरित करता है। इसके बाद प्रकृतिभूत दृश् एवं रुह के द्वारा कथित प्रेरणा के त्याग करने पर तथा णिच् से वाच्य प्रेरणा रूप व्यापार के त्याग करने पर दर्शयते भवः तथा आरोहयते हस्ती—में आत्मनेपद कार्य इस सूत्र से हुआ। इनका अर्थ पूर्व के समान है। इस पक्ष में द्वितीय कक्षा में आत्मनेपद नहीं हुआ क्योंकि समान क्रियात्व का अभाव है तथा णिच् प्रत्ययार्थ प्रेरणा रूप व्यापार का आधिक्य है।

'णेरणौ'—इत्यादि सूत्र में 'अनाध्याने' पाठ है। इससे तात्पर्य है कि उत्सुकता पूर्वक स्मरण अर्थ में इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है। यथा—स्मरति वनगुल्मं कोकिलः = कोयल वन की लताओं को उत्कण्ठा पूर्वक स्मरण करती है या कोयल उसे उत्कण्ठा का विषय बनाती है। प्रेरणा अर्थ में 'णिच्' होने पर स्मरयति वनगुल्मः—(उत्कण्ठा पूर्वक स्मृति में वन के फूल स्मृति का विषय बनते हैं) प्रयोग होता है।

'भीस्म्योर्हेतुभये' का अर्थ है कि हेतु से भय (डर) या स्मय (अहंकार) गम्यमान रहने पर ण्यन्त—'भी' धातु एवम् 'स्मि' धातु से आत्मनेपद हो जाता है। इसकी व्याख्या पहले की जा चुकी है।

रूपसिद्धि :—

दर्शयते भवः—दर्शयन्ति भवं भक्ताः—में णिजन्त—'दर्शयन्ति' अणिजन्त '**पश्यन्ति**' का समानार्थक है। इसी की दूसरी कक्षा है—**दर्शयते भवः**।

यहाँ अण्यन्तावस्था की क्रिया—'पश्यति' ण्यन्त दृश् धातु से बतायी जाती है तथा अण्यन्तावस्था का कर्म—'भव' यहाँ कर्ता रूप में दिखाया गया है। अतः णिजन्त धातु दृश्—दर्शय से 'णेरणौ यत्कर्म णौ चेत् स कर्ताऽनाध्याने' ३७३८ से आत्मनेपद होने पर 'त' प्रत्यय आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर दर्शयते भवः रूप होता है। वाक्य प्रयोग है—दर्शयते भवः अर्थात् शंकर स्वयम् दर्शन देते हैं।

आरोहयते हस्ती स्वयमेव—आरोहति हस्तिनं हस्तिपकः—की दूसरी कक्षा का रूप है—आरोहयते हस्ती। यहाँ आङ् पूर्वक रुह् धातु से 'णिच्' प्रत्यय अण्यन्त क्रिया—आरोहति के अर्थ में है। तथा अण्यन्तावस्था का कर्म—हस्ती—यहाँ कर्ता रूप में दिखाया गया है। अतः णिजन्त आङ् पूर्वक रुह् धातु–आरोहय से 'णेरणौ यत्कर्म णौ चेत् स कर्ताऽनाध्याने' ३७३८ से आत्मनेपद का विधान होने पर 'त' प्रत्यय आने के बाद गुण होने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से एत्व करके आरोहयते रूप बनाता है। अतः वाक्य प्रयोग है—आरोहयते हस्ती स्वयमेव। अर्थात् हाथी खुद ही महावत को अपने ऊपर चढ़ा लेता है।

२७३९। गृधिवञ्च्योः प्रलम्भने १।३।६९।

प्रतारणेऽर्थे ण्यन्ताभ्यामाभ्यां प्राग्वत्। माणवकं गर्धयते। वञ्चयते वा। प्रलम्भने किम्? श्वानं गर्धयति। अभिकाङ्क्षामस्योत्पादयतीत्यर्थः। अहिं वञ्चयति। वर्जयतीत्यर्थः। 'लियः संमाननशालिनीकरणयोश्च' (सू० २५९२) व्याख्यातम्।

यहाँ 'णेरणौ यत्कर्म णौ चेत्स कर्ताऽनाध्याने' २७३८ से 'णौ' की अनुवृत्ति करने पर सूत्रार्थ है—प्रलम्भन = प्रतारण या वञ्चन अर्थ में ण्यन्त गृध धातु एवं वञ्च धातु से आत्मनेपद होता है। यथा—माणवकं गर्धयते। वञ्चयते वा। अर्थात् मनुष्य को लुभाता है या ठगता है। प्रतारण से भिन्न अर्थ में आत्मनेपद नहीं होता है। जैसे—श्वानं गर्धयति = कुत्तों में लालसा उत्पन्न करता है। इसी प्रकार अहिं वञ्चयति = साँप को त्यागता है।

ण्यन्त लीङ् तथा ली धातु से पूजा, अभिभव तथा प्रलम्भन अर्थ में कर्तृगामी फल नहीं रहने पर भी आत्मनेपद होता है। यथा—जटाभिर्लापयते। अर्थात् जटाओं से पूजित होता है। बालमुल्लापयते = लड़के को ठगता है।

रूपसिद्धि :—

गर्धयते—गृध धातु आकांक्षा अर्थ में परस्मैपदी है। अतः गृध्यति या गर्धयति रूप होता है। गृध धातु से 'णिच्' प्रत्यय करने पर प्रलम्भन अर्थ में 'गृधिवञ्च्योः प्रलम्भने' २७३९ से णिजन्त गृध धातु से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने से गुण के बाद टि (अ) का एत्व होने पर गर्धयते रूप निष्पन्न होता है।

वञ्चयते—वञ्च धातु परस्मैपदी है। अतः वञ्चति एवं वञ्चयति रूप होता है। वञ्चयति=परिहरति। वञ्च धातु से णिच् प्रत्यय होने पर प्रलम्भन अर्थ में 'गृधिवञ्च्योः प्रलम्भने' २७३९ से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर एत्व होकर वञ्चयते रूप सिद्ध होता है।

२७४०। मिथ्योपपदात् कृञोऽभ्यासे १।३।७१।

णेः इत्येव। पदं मिथ्या कारयते। स्वरादिदुष्टमसकृदुच्चारयतीत्यर्थः। मिथ्योपपदात् किम्? पदं सुष्ठु कारयति। अभ्यासे किम्? सकृत्पदं मिथ्या कारयति।

'णेरणौ'—' से 'णेः' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ है—अभ्यास अर्थ में 'मिथ्या' शब्द के उपपद रहने पर णिजन्त कृ धातु से आत्मनेपद होता है। अभ्यास का अर्थ है—बार-बार किसी कार्य को करना। इस सूत्र का उदाहरण है—पदं मिथ्या कारयते। अर्थात् स्वर से दूषित पद को बार बार उच्चारण करता है। सूत्र में 'मिथ्योपपदात्' ग्रहण के कारण पदं सुष्ठु कारयति (पद सुन्दर बनाता है)—में मिथ्या उपपद नहीं रहने से परस्मैपद हुआ।

इसी प्रकार सूत्र में 'अभ्यासे' ग्रहण के कारण सकृत्पदं मिथ्या कारयति—इस वाक्य में एक बार (सकृत्) कहने से परस्मैपद हुआ।

रूपसिद्धि :—

पदं मिथ्या कारयते—'डुकृञ् करणे१५६६धातु परगामी क्रियाफल रहने पर परस्मैपदी होता है। अतः करोति रूप होता है, किन्तु णिजन्त कृ धातु से अभ्यास अर्थ में धातु (कृ) से पूर्व 'मिथ्या' शब्द रहने पर 'मिथ्योपपदात् कृञोऽभ्यासे' २७४० से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर टि (अ) का एत्व होकर कारयते रूप बनता है। अतः वाक्य प्रयोग है—पदं मिथ्या कारयते।

स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले १।३।७२। (सू०२१५८) यजते। सुनुते। कर्त्रभिप्राये किम्? ऋत्विजो यजन्ति। सुन्वन्ति।

स्वरितेत् तथा ञित् धातुओं से कर्तृगामी क्रियाफल रहने पर आत्मनेपद होता है। 'स्वरितञितः' का विग्रह करते हैं—स्वरितश्च ञ् च=स्वरितञौ; तौ इतौ यस्य तस्मादित बहुव्रीहिः। अर्थात् स्वरित स्वर और 'ञ्' वर्ण जिसमें इत्संज्ञक हों वैसे धातुओं से कर्तृगामी क्रियाफल रहने से आत्मनेपद होता है।

स्वरितेत् का उदाहरण है—यज धातु से यजते ।

ञित् का उदाहरण है—षुञ् धातु से सुनुते ।

सूत्र में 'कर्त्रभिप्राये' ग्रहण के कारण जहाँ क्रिया का फल कर्तृगामी नहीं होता है वहाँ आत्मनेपद नहीं होकर परस्मैपद हो जाता है । जैसे—ऋत्विजो यजन्ति । अर्थात् यजमान से दक्षिणा ग्रहण के लिये ऋत्विक् गण यजन क्रिया कराते हैं । यज्ञ का अदृष्ट फल यजमान को होता है ।

२७४१ । अपाद्वदः १।३।७३ ।

न्यायमपवदते । कर्त्रभिप्राये इत्येव, अपवदति 'णिचश्च' (सू० २५६४) कारयते ।

'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ है—क्रियाजन्य फल यदि कर्तृगामी हो तो अप पूर्वक वद धातु से आत्मनेपद होता है । जैसे—न्यायम् अपवदते । अर्थात् न्याय से कानून का खण्डन करता है ।

कर्तृगामी क्रियाफल के नहीं रहने पर परस्मैपद होता है । जैसे—अपवदति=गाली देता है । गाली से दूसरे सुनने वाले व्यक्ति को कष्ट होता है । अतः परगामी क्रिया फल होने से परस्मैपद हुआ है ।

'णिचश्च' २५६४ से आत्मनेपद होता है । 'येन विधिस्तदन्तस्य' के अनुसार 'णिच्' से णिजन्त धातु का ग्रहण होता है । अतः कृ धातु से 'णिच्' प्रत्यय होने से णिजन्त कृ धातु (कारय) से आत्मनेपद होने पर 'त' प्रत्यय में एत्व होकर कारयते पद बनता है ।

२७४२ । समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे १।३।७५ ।

अग्रन्थे इति च्छेदः । व्रीहीन् संयच्छते । भारमुद्यच्छते । वस्त्रमायच्छते । अग्रन्थे किम् ? उद्यच्छति वेदम् । अधिगन्तुमुद्यमं करोतीत्यर्थः । कर्त्रभिप्राये इत्येव । व्रीहीन् संयच्छति ।

'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' २१५८ से 'कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ है कि ग्रन्थ विषयक प्रयोग नहीं रहने पर सम्, उत् अथवा आङ् उपसर्ग से युक्त यम् धातु से आत्मनेपद होता है यदि कर्तृगामी क्रियाफल हो । यथा—व्रीहीन् संयच्छते = धान का संग्रह करता है । भारमुद्यच्छते = बोझा उठाता है । वस्त्रमायच्छते = वस्त्र को कसता है यहाँ संग्रह करना, उठाना तथा कसना क्रिया का फल कर्तृनिष्ठ है । अतः यम् धातु से आत्मनेपद हुआ है ।

सूत्र में 'अग्रन्थे' पाठ होने के कारण उद्यच्छति वेदम् (वेद ग्रन्थ के अध्ययन के लिये उद्योग करता है)—में ग्रन्थ रूप अर्थ (वेदम्) का कथन होने से आत्मनेपद नहीं हुआ है ।

रूपसिद्धिः—

संयच्छते व्रीहीन्—यम् धातु परस्मैपदी है । अतः लट् के स्थान में 'तिप्' प्रत्यय होने से यच्छति रूप होता है, किन्तु यहाँ सम् पूर्वक यम् धातु का प्रयोग ग्रन्थ भिन्न अर्थ में रहने

के कारण 'समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे२७४२ से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने से 'इषुगमियमां छः' से 'म्' का 'छ' आदेश होने पर टि (अ) का एत्व होने के बाद अनुस्वार करके संयच्छते रूप होता है। इसका अर्थ है—संग्रह करता है।

उद्यच्छते भारम्—उत्-पूर्वक यम् धातु से 'समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे' से आत्मनेपद होने पर उद्यच्छते पद बनता है अर्थात् भार उठाता है।

२७४३। अनुपसर्गाज्ज्ञः १।३।७६।

गां जानीते। अनुपसर्गात् किम्? 'स्वर्गं लोकं न प्रजानाति।' कथं तर्हि भट्टिः—'इत्थं नृपः पूर्वमवालुलोचे ततोऽनुजज्ञे गमनं सुतस्य' इति कर्मणि लिट्। नृपेणेति विपरिणामः।

'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले२१५८ से 'कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ है—उपसर्ग रहित ज्ञा धातु से कर्तृगामी क्रियाफल रहने पर आत्मनेपद होता है। सकर्मक क्रिया से आत्मनेपद विधान के लिये यह सूत्र है। यथा—गां जानीते। ज्ञा धातु से पूर्व में उपसर्ग रहने पर परस्मैपद होता है। जैसे—स्वर्गं लोकं न प्रजानाति।

ज्ञा धातु का प्रयोग अकर्मक अर्थ में रहने पर पूर्व सूत्र 'अकर्मकाच्च' २७१८ से आत्मनेपद होता है। जैसे—सर्पिषो जानीते।

'इत्थं नृपः पूर्वमवालुलोचे ततोऽनुजज्ञे गमनं सुतस्य'—इस भट्टि के प्रयोग में शंका होती है कि अनु उपसर्ग से युक्त ज्ञा धातु से 'अनुजज्ञे' में आत्मनेपद कैसे हुआ? उसका समाधान करते हैं कि इस वाक्य में 'नृपः' जो प्रथमान्त है उसे तृतीया विभक्ति से विपरिणाम करके कर्म में लट् लकार करके 'नृपेण अनुजज्ञे' यह तात्पर्य है।

रूपसिद्धिः—

गां जानीते—यहाँ उपसर्ग रहित सकर्मक ज्ञा धातु का प्रयोग है। अतः 'अनुपसर्गाज्ज्ञः' २७४३ से आत्मनेपद का विधान होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय होने पर टि (अ) का एत्व होकर गां जानीते प्रयोग है।

उपसर्ग युक्त ज्ञा धातु में परस्मैपद होता है। जैसे प्रपूर्वक ज्ञा धातु से प्रजानाति रूप होता है।

२७४४। विभाषोपपदेन प्रतीयमाने १।३।७७।

'स्वरितञितः' इत्यादिपञ्चसूत्र्या यदात्मनेपदं विहितं तत्समीपोच्चारितेन पदेन क्रियाफलस्य कर्तृगामित्वे द्योतिते वा स्यात्। स्वं यज्ञं यजति—यजते वा। स्वं कटं करोति कुरुते वा। स्वं पुत्रम् अपवदति-अपवदते वा। स्वं यज्ञं कारयति-कारयते वा। स्वं व्रीहिं संयच्छति-संयच्छते वा। स्वां गां जानाति-जानीते वा।

इति तिङन्ते आत्मनेपदप्रकरणम्

यहाँ 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' २१५८ से 'कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' की अनुवृत्ति होने पर इस सूत्र का अर्थ है कि उपपद के द्वारा कर्तृगामी क्रियाफल के प्रतीत होने पर पूर्व प्रोक्त—'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले', २१५८ 'अपाद्वदः' २७४१ 'समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे' २७४२ तथा 'अनुपसर्गाज्ज्ञः' २७४३—इन पांच सूत्रों से आत्मनेपद विकल्प से होता है। अतः पक्ष में परस्मैपद होता है। 'स्वरिञितः—' आदि पांच सूत्रों से नित्य प्राप्त आत्मनेपद को बाध कर विकल्प से आत्मनेपद विधान के लिये यह सूत्र प्रवृत्त हैं। इन सूत्रों के उदाहरण सहित विवरण इस प्रकार हैं—

सूत्र	उदाहरण
१. स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले—	स्वं यज्ञं यजति यजते वा (अपने कल्याण के लिये यज्ञ करता है), स्वं कटं करोति कुरुते वा (अपने लिये चटाई बनाता है।)
२. अपाद्वदः—	स्वम् पुत्रम् अपवदति अपवदते वा। (अपने पुत्र को अनुकूल होने के लिये डांटता है)
३. णिचश्च—	स्वं यज्ञं कारयति कारयते वा (अपने हित के लिये यज्ञ करवाता है)
४. समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे—	स्वं व्रीहिं संयच्छति संयच्छते वा (अपने लिये धान संग्रह करता है)
५. विभाषोपपदेन प्रतीयमाने —	स्वां गां जानाति जानीते वा। (अपनी गाय को जानता है)

इति डॉ० रामविलास चौधरी-विरचितायां सिद्धान्तकौमुदीव्याख्यायां ध्रुवविलासिन्यां आत्मनेपदव्यवस्था परिपूर्णा।

अथ तिङन्ते परस्मैपदप्रकरणम्

'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' (सू० २१५९) अत्ति ।

'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' २१५८ एवम् 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' २१५७ आदि सूत्रों से आत्मनेपद का विधान किये जाने पर शेष बचे हुए परिस्थितियों तथा धातुओं से कर्तृगामी क्रियाफल होने पर परस्मैपद होता है । यद्यपि परस्मैपद की व्यवस्था में परगामी क्रियाफल शब्दतः प्रतीत होता है तथापि संज्ञा पक्ष में सकर्मक धातु (क्रिया) से परगामी फल रहने पर तथा अकर्मक क्रिया से आत्मगामी फल होने पर परस्मैपद होता है ।

'अद् भक्षणे' धातु सकर्मक है । उससे आत्मनेपद का विधान नहीं किया गया है । अतः 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' २१५९ से परस्मैपद होने पर लट् के स्थान में तिप् प्रत्यय होने पर अत्ति रूप होता है ।

२७४५ । अनुपराभ्यां कृञः १।३।७९ ।

कर्तृगेऽपि फले गन्धनादौ च परस्मैपदार्थमिदम् । अनुकरोति । पराकरोति । 'कर्तरि' इत्येव, भावकर्मणोर्मा भूत् । न चैवमपि कर्मकर्तरि प्रसङ्गः, कार्यातिदेश-पक्षस्य मुख्यतया तत्र 'कर्मवत्कर्मणा—' (सू० २७६६) इत्यात्मनेपदेन परेणास्य बाधात् । शास्त्रातिदेशपक्षे तु 'कर्तरि शप्' (सू० २१६७) इत्यतः 'शेषात्—' (सू० २१५९) इत्यतश्च कर्तृग्रहणद्वयमनुवर्त्य 'कर्तैव यः कर्ता न तु कर्मकर्ता तत्र' इति व्याख्येयम् ।

परस्मैपद प्रकरण में आये सूत्रों में 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' २१५९ से 'कर्तरि परस्मैपदम्' की अनुवृत्ति होती है तथा 'गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्नप्रकथनोपयोगेषु कृञः' का ग्रहण होने पर सूत्रार्थ है—क्रियाजन्य फल कर्ता में रहने पर गन्धन आदि अर्थों में अनुपूर्वक तथा परा पूर्वक कृञ् धातु परस्मैपदी हो जाता है । कृञ् धातु ञित् है । इसलिये 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' २१५८ से परगामी क्रियाफल रहने पर परस्मैपद सिद्ध होता है फिर भी कर्तृगामी क्रियाफल रहने पर अनु एवं परा उपसर्ग के योग में आत्मनेपद प्राप्ति की स्थिति में परस्मैपद विधान के लिये यह सूत्र प्रवृत्त है । जैसे—छात्रः परीक्षायाम् अनुकरोति । इस वाक्य में अनुकरण का फल (उत्तीर्ण होना या अधिक अंक प्राप्त करना) कर्ता में है, अतः आत्मनेपद को बाधकर परस्मैपद हुआ है । दूसरा उदाहरण है—शत्रून् पराकरोति ।

'अनुपराभ्यां कृञः' से 'कर्तरि' का सम्बन्ध है । इसलिये भट्टोजिदीक्षित कहते हैं—'कर्तरि' इत्येव 'भावकर्मणोर्मा भूत्' । अर्थात् कर्ता अर्थ में ही परस्मैपद होता है भाव और

कर्म में प्रत्यय होने पर इस सूत्र से परस्मैपद नहीं होता है। यद्यपि सूत्र में 'कर्तरि' पढ़ने पर भी कर्मकर्ता में परस्मैपद की प्राप्ति दुर्वार है (वारण नहीं किया जा सकता) ऐसी शंका उठायी जा सकती है, किन्तु कार्यातिदेश पक्ष की मुख्यता के कारण 'कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः' २७६६ से विहित परवर्ती आत्मनेपद से परस्मैपद का बाध हो जाएगा। इसलिये वहाँ परस्मैपद की प्राप्ति नहीं होगी।

शास्त्रातिदेश पक्ष में तो 'कर्तरि शप्' से 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' में 'कर्तरि' का सम्बन्ध होता है इसलिये कर्ता ही जो कर्ता हो—ऐसा अर्थ होगा। इसी कारण कर्मकर्ता रहने पर 'अनुपराभ्याम् कृञः' से परस्मैपद नहीं होगा। यह व्याख्यान वहाँ किया गया है।

रूपसिद्धि :—

अनुकरोति—यहाँ अनुपूर्वक 'डुकृञ् करणे' धातु का प्रयोग है। अतः धातु के ञित् होने के कारण 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' २१५८ से आत्मनेपद की प्राप्ति थी जिसे अनुपूर्वक कृञ् धातु रहने से 'अनुपराभ्यां कृञः' बाध कर परस्मैपद का विधान करता है। फलतः लट् लकार के स्थान में 'तिप्' प्रत्यय आने से 'तनादिकृञ्भ्य उः' २४६६ से 'उ' विकरण होने पर 'कृ उ ति' की स्थिति में 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' २१६८ से गुण एवं रपरत्व के बाद पुनः 'उ' का गुण 'ओ' होने से अनुकरोति पद निष्पन्न होता है।

पराकरोति—यहाँ परा पूर्वक 'डुकृञ् करणे' धातु का प्रयोग है। अतः 'अनुपराभ्यां कृञः से परस्मैपद होने पर पराकरोति पद बनता है।

२७४६। अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः १।३।८०।

'क्षिप प्रेरणे' स्वरितेत्। अभिक्षिपति।

अभि, प्रति या अति से परे क्षिप् धातु से परस्मैपद होता है। यह धातु स्वरितेत् है। अतः आत्मनेपद प्राप्ति की स्थिति में इस सूत्र से परस्मैपद होने पर अभिक्षिपति पद बना है।

रूपसिद्धि :—

अभिक्षिपति—'क्षिप प्रेरणे' धातु स्वरितेत् है। अतः 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' २१५८ से आत्मनेपद की प्राप्ति थी किन्तु क्षिप् धातु से पूर्व में 'अभि' उपसर्ग रहने के कारण 'अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः' से परस्मैपद का विधान होने से लट् के स्थान में तिप् प्रत्यय आता है और 'कर्तरि शप्' से शप् (अ) होने पर अभिक्षिपति पद निष्पन्न होता है।

२७४७। प्राद्वहः १।३।८१।

प्रवहति।

वह धातु के स्वरितेत् होने से आत्मनेपद प्राप्ति होने पर प्र पूर्वक वह धातु से परस्मैपद होता है। यथा—प्रवहति।

रूपसिद्धि :—

प्रवहति—'वह प्रापणे' धातु स्वरितेत् है तथा कर्तृगामी क्रियाफल है। अतः

'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' २१५८ से आत्मनेपद की प्राप्ति होने पर प्र पूर्वक वह धातु से 'प्राद्वहः' २७४७ से परस्मैपद का विधान होने से लट् के स्थान में तिप् प्रत्यय आने पर 'कर्तरि शप्' से शप् (अ) के बाद प्रवहति रूप निष्पन्न होता है।

२७४८। परेर्मृषः १।३।८२।

परिमृष्यति। भौवादिकस्य तु परिमर्षति। इह 'परे' इति योगं विभज्य वहेरपीति केचित्।

परि उपसर्ग पूर्वक मृष् धातु से परस्मैपद होता है। अतः परिमृष्यति रूप होता है। भ्वादि में पठित मृष् धातु से परस्मैपद में परिमर्षति प्रयोग होता है। मृष् धातु के स्वरितेत् होने के कारण आत्मनेपद प्राप्ति की दशा में यह सूत्र परस्मैपद का विधान करता है।

'परेर्मृषः' सूत्र में 'परेः' ऐसा योग विभाग किया जाता है। इस विभक्त सूत्र में पूर्व सूत्र 'प्राद्वहः' से 'वहः' की अनुवृत्ति करने पर परि पूर्वक वह धातु से भी परस्मैपद विधान होता है। ऐसा कुछ लोग कहते हैं। अतः परिवहति रूप होता है।

रूपसिद्धि :—

परिमृष्यति, परिमर्षति—मृष् धातु स्वरितेत् है। अतः 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' २१५८ से आत्मनेपद की प्राप्ति थी किन्तु मृष् धातु के पूर्व में परि उपसर्ग रहने के कारण 'परेर्मृषः' से परि पूर्वक 'मृष तितिक्षायाम्' (दिवादिगणीय) धातु से परस्मैपद का विधान होने पर लट् के स्थान में तिप् प्रत्यय आने के बाद 'दिवादिभ्यः श्यन्' से 'श्यन्' विकरण होने पर परिमृष्यति रूप निष्पन्न होता है।

भ्वादि के 'मृषु सेचने' धातु से पूर्व में परि उपसर्ग रहने पर 'परेर्मृषः' से परस्मैपद होने पर 'तिप्' प्रत्यय में गुण होने पर परिमर्षति रूप बना है।

२७४९। व्याङ्परिभ्यो रमः १।३।८३।

विरमति।

वि, आङ्, या परि पूर्वक रम् धातु का प्रयोग हो तो वहाँ परस्मैपद होता है। 'रमु क्रीडायाम्' धातु अनुदात्तेत् है। अतः आत्मनेपद होने पर यह सूत्र उसे बाध कर परस्मैपद का विधान करता है वि आदि उपसर्ग के रहने पर। इसका उदाहरण है—विरमति।

रूपसिद्धि :—

विरमति—'रमु क्रीडायाम्' धातु अनुदात्तेत् है। अतः 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' २१५७ से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर टि (अ) का एत्व करके रमते प्रयोग बनता है।

यहाँ रम् धातु से पूर्व में 'वि' उपसर्ग है। अतः 'व्याङ्परिभ्यो रमः' से परस्मैपद का विधान हो जाने से लट् के स्थान में तिप् के आने पर विरमति पद बनता है।

२७५०। उपाच्च १।३।८४।

यज्ञदत्तमुपरमति। उपरमयतीत्यर्थः। अन्तर्भावितण्यर्थोऽयम्।

'व्याङ्परिभ्यो रमः' २७४९ से 'रमः' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ है—उप पूर्वक रम् धातु से परस्मैपद होता है। यथा—उपरमति। यहाँ 'विरमति' के अर्थ में 'उपरमति' नहीं है क्योंकि 'विरमति' अकर्मक है और 'उपरमति' सकर्मक है। अतः सकर्मक उदाहरण देते हैं—यज्ञदत्तमुपरमति। यहाँ 'रमति' में अन्तर्भावित ण्यर्थ (णिच् = प्रेरणा अर्थ) है। अतः उपरमति का अर्थ है—उपरमयति अर्थात् क्रीडा करवाता है।

रूपसिद्धि :—

उपरमति—'रमु क्रीडायाम्' धातु अनुदात्तेत् है। अतः 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' २१५७ से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर रमते प्रयोग होता है।

किन्तु रम् धातु से पूर्व में 'उप' उपसर्ग रहने पर 'उपाच्च' २७५० से परस्मैपद का विधान होता है। अतः लट् के स्थान में तिप् आने पर शप् (अ) विकरण होने पर उपरमति रूप बनता है। यहाँ रम् धातु में अन्तर्भावित-ण्यर्थ (णिच्—प्रेरणा अर्थ) अन्तर्निविष्ट है। अतः उपरमति का अर्थ है—उपरमयति अर्थात् क्रीडा करवाता है।

२७५१। विभाषाऽकर्मकात् १।३।८५।

उपाद्रमेरकर्मकात् परस्मैपदं वा। उपरमति-उपरमते वा। निवर्तते इत्यर्थः।

'व्याङ्परिभ्यो रमः' २७४९ से 'रमः' एवम् 'उपाच्च' से 'उपात्' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ है—उप पूर्वक अकर्मक रम् धातु से विकल्प से परस्मैपद होता है। अतः पक्ष में आत्मनेपद भी होता है। इसलिये उपरमति तथा उपरमते दोनों प्रयोग हैं। इसका अर्थ है निवृत्त होता है।

रूपसिद्धि :—

उपरमति, उपरमते—'रमु क्रीडायाम्' धातु के अनुदात्तेत् होने से 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' २१५७ से आत्मनेपद होने पर रमते प्रयोग होता है, किन्तु उप पूर्वक रम् धातु से परस्मैपद का विधान 'उपाच्च' से होने पर उपरमति पद बनता है।

उपपूर्वक रम् धातु का प्रयोग यदि अकर्मक अर्थ में हो तो 'विभाषाऽकर्मकात्' २७५१ से विकल्प से परस्मैपद का विधान होने पर लट् के स्थान में तिप् होने पर उपरमति एवम् पक्ष में आत्मनेपद होने पर 'त' प्रत्यय में एत्व होकर उपरमते प्रयोग भी होता है। इसका अर्थ है निवृत्त होता है।

२७५२। बुधयुधनशजनेङ्प्रुद्रुस्रुभ्यो णेः १।३।८६।

एभ्यो ण्यन्तेभ्यः परस्मैपदं स्यात्। 'णिचश्च' (सू० २५६४) इत्यस्यापवादः। बोधयति पद्मम्। योधयति काष्ठानि। नाशयति दुःखम्। जनयति सुखम्। अध्यापयति। प्रावयति। प्रापयतीत्यर्थः। द्रावयति। विलापयतीत्यर्थः। स्रावयति। स्यन्दयतीत्यर्थः।

बुध, युध, नश, जन, इङ्, प्रु, द्रु, स्रु—इन धातुओं से ण्यन्त दशा में परस्मैपद होता है। यह सूत्र 'णिचश्च' २५६४ से ण्यन्त दशा में प्राप्त आत्मनेपद को बाध कर परस्मैपद

का विधान करता है। अतः उसका यह अपवाद है। इस सूत्र के उदाहरण हैं—बोधयति पद्मम्, योधयति काष्ठानि इत्यादि।

रूपसिद्धि :—

बोधयति पद्मम्—विकसनार्थक बुध धातु परस्मैपदी है। उससे 'णिच्' प्रत्यय होने पर 'णिचश्च' से आत्मनेपद की प्राप्ति होती है। उसे बाध कर 'बुधयुधनशजनेङ्प्रद्रुस्रुभ्यो णेः' से णिजन्त बुध (बुधि) धातु से परस्मैपद का विधान होता है। लट्लकार से 'तिप्' प्रत्यय होने पर शप् (अ) विकरण होने पर 'बुधि अ ति' की स्थिति में 'उ' का गुण 'ओ' तथा 'इ' का गुण 'ए' होने पर अयादेश के बाद बोधयति रूप बनता है। वाक्य प्रयोग है पद्मं बोधयति सूर्यः, अर्थात् कमल को सूर्य विकसित करता है।

'बोधयति' में 'अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात्' से परस्मैपद नहीं होगा क्योंकि अणिच् में पद्म कर्ता है तथा उसमें चेतनता का अभाव है।

योधयति काष्ठानि—'युध सम्प्रहारे' धातु आत्मनेपदी है। अतः युध्यते रूप होता है। यहाँ काष्ठानि युध्यन्ते स्वयमेव तानि योधयति इस विग्रह में युध धातु से णिच् करने पर युधि-से 'बुधयुधनशजनेङ्प्रद्रुस्रुभ्यो णेः' २७५२ से परस्मैपद का विधान होने पर लट् के स्थान में तिप् प्रत्यय होने से शप् (अ) के बाद 'युधिअ ति' की स्थिति में 'उ' का गुण 'ओ' तथा 'इ' का गुण 'ए' होने पर अयादेश के बाद योधयति रूप बनता है।

युध धातु से अणिच् की अवस्था में कर्ता काष्ठ के अचेतन होने के कारण 'अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात्' २७५४ से परस्मैपद की प्राप्ति नहीं होती है।

नाशयति दुःखम्—'नश अदर्शने' धातु परस्मैपदी है। अतः नश्यति रूप होता है, किन्तु प्रेरणा अर्थ में इस धातु से णिच् करने पर 'णिचश्च' २५६४ से आत्मनेपद की प्राप्ति होती है। जिसे 'बुधयुधनशजनेङ्प्रद्रुस्रुभ्यो णेः' २७५२ से बाधकर परस्मैपद का विधान होता है। अतः 'तिप्' प्रत्यय आने पर शप् (अ) के बाद 'नशि अ ति' की स्थिति में धातु की वृद्धि तथा 'इ' का गुण 'ए' होने पर अयादेश के बाद नाशयति प्रयोग होता है। अतः 'नाशयति दुःखम्' वाक्य बना है।

जनयति सुखम्—दिवादिगण का 'जनी प्रादुर्भावे' धातु आत्मनेपदी है। अतः लट् के स्थान में 'त' होने पर जायते रूप होता है।

जन् धातु से प्रेरणा अर्थ में णिच् (इ) प्रत्यय होने पर 'णिचश्च' २५६४ से आत्मनेपद की प्राप्ति होने पर उसे बाधकर 'बुधयुधनशजनेङ्प्रद्रुस्रुभ्यो णेः' २७५२ से परस्मैपद का विधान होता है। फलतः लट् के स्थान में 'तिप्' प्रत्यय आने पर 'जनि अ ति' की स्थिति में गुण एवम् अयादेश होकर जनयति पद सिद्ध होता है। अतः 'जनयति सुखम्' यह वाक्य प्रयोग है। अर्थात् सुख को उत्पन्न करता है।

अध्यापयति वेदम्—अदादिगण का अधि पूर्वक 'इङ् अध्ययने' धातु आत्मनेपदी है। अतः अधीते रूप होता है।

प्रेरणा अर्थ में अधि पूर्वक इङ् धातु से 'णिच्' प्रत्यय होने पर 'णिचश्च' २५६४ से आत्मनेपद की प्राप्ति होने पर उसे बाधकर 'बुधयुधनशजनेङ्प्रुद्रुस्रुभ्यो णेः' २७५२ से परस्मैपद का विधान होने पर लट् के स्थान में 'तिप्' प्रत्यय होने से शप् (अ) के बाद 'अधि इ अ ति' की स्थिति में पुक् का आगम होने पर वृद्धि एवम् आयादेश के बाद अध्यापयति पद बनता है। छात्रः अधीते गुरुस्तम् अध्यापयति।

प्रावयति—'प्रुङ् गतौ' धातु आत्मनेपदी है। अतः प्रवयते रूप होता है किन्तु इस धातु से 'णिच्' प्रत्यय होने पर 'बुधयुध—'२७५२ से परस्मैपद विधान होने से लट् के स्थान में तिप् प्रत्यय होने पर प्रावयति रूप बनता है (अर्थात् प्रापयति)

द्रावयति—'द्रु गतौ' धातु परस्मैपदी है। अतः द्रवति रूप होता है, किन्तु द्रु धातु से 'णिच्' प्रत्यय प्रेरणा अर्थ में होने पर 'णिचश्च' २५६४ से आत्मनेपद की प्राप्ति होने से 'बुधयुधनश—'सूत्र से उसे बाधकर परस्मैपद होने से 'तिप्' प्रत्यय में शप् के बाद वृद्धि आदि के बाद द्रावयति रूप होता है। घृतं द्रवति तद् द्रावयति = विलापयति।

स्रावयति—'स्रु गतौ' धातु परस्मैपदी है। अतः स्रवति रूप होता है, किन्तु उससे 'णिच्' प्रत्यय होने पर 'णिचश्च' २५६४ से आत्मनेपद प्राप्त होने पर 'बुधयुधनश' २७५२ से उसे बाध कर परस्मैपद विधान होने पर लट् के स्थान में 'तिप्' प्रत्यय आने से शप् एवं वृद्धि आदि के बाद स्रावयति पद होता है। स्रवति जलम् तत् स्रावयति = स्यन्दयति।

२७५३। निगरणचलनार्थेभ्यश्च १।३।८७।

निगारयति। आशयति। भोजयति। चलयति। कम्पयति। 'अदेः प्रतिषेधः' (वा० ९५९) आदयते देवदत्तेन। 'गतिबुद्धि'--(सू० ५४१) इति कर्मत्वम् 'आदिखाद्योर्न' इति प्रतिषिद्धम्। 'निगरणचलन'--(सू० २७५३) इति सूत्रेण प्राप्तस्यैवायं निषेधः। 'शेषात्' (सू० २१५९) इत्यकर्त्रभिप्राये परस्मैपदं स्यादेव। आदयत्यन्नं बटुना।

यहाँ 'बुधयुधनश'—२७५२ सूत्र से 'णेः' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ है— निगरण अर्थात् भक्षण और चलन अर्थात् कम्पनार्थक ण्यन्त धातु से परस्मैपद होता है। णिजन्त धातु से 'णिचश्च' २५६४ से प्राप्त आत्मनेपद को बाध कर परस्मैपद का विधान यह सूत्र करता है। इसका उदाहरण है—निगारयति। इसी प्रकार—आशयति, भोजयति, चलयति, कम्पयति— उदाहरण हैं।

'अद् भक्षणे' धातु भी खाने अर्थ में है। अतः उससे 'णिच्' प्रत्यय होने पर आत्मनेपद प्राप्त होता है। किन्तु 'निगरणचलनार्थेभ्यश्च' २७५३ से परस्मैपद प्राप्ति की स्थिति में 'अदेः प्रतिषेधः' से परस्मैपद का निषेध होने पर आत्मनेपद में 'आदयते देवदत्तेन' प्रयोग है। इस वाक्य में प्रयोज्य कर्ता देवदत्त की कर्मसंज्ञा 'गतिबुद्धि' इत्यादि सूत्र से होने पर द्वितीया विभक्ति होती किन्तु 'आदिखाद्योर्न' इस वार्तिक से उसका निषेध होने पर प्रयोज्य कर्ता देवदत्त से तृतीया विभक्ति होने पर देवदत्तेन आदयते रूप होता है।

यहाँ शंका होती है कि 'आदयति अन्नं वटुना'—इस प्रयोग में 'अदेः प्रतिषेधः' वार्तिक से परस्मैपद का निषेध क्यों नहीं हुआ ? इसका उत्तर देते हैं कि 'निगरणचलनार्थेभ्यश्च' २७५३ से प्राप्त परस्मैपद का ही निषेधक यह वार्तिक है, 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' २१५९ से प्राप्त परस्मैपद का नहीं। अतः वहाँ परस्मैपद होगा ही। नियम है—'अनन्तरस्य विधिः भवति प्रतिषेधो वा। वटुः अन्नम् अत्ति तम् आदयति। यहाँ प्रयोज्य कर्ता से तृतीया है।

रूपसिद्धि :—

निगारयति—भक्षण अर्थ में नि पूर्वक गृ धातु परस्मैपदी है। अतः निगरति रूप होता है। नि पूर्वक गृ धातु से णिच् प्रत्यय करने पर 'णिचश्च' २५६४ से आत्मनेपद की प्राप्ति में नि पूर्वक गृ धातु के भक्षणार्थक होने से 'निगरणचलनार्थेभ्यश्च' २७५३ से परस्मैपद विधान होने पर लट् के स्थान में 'तिप्' आने से वृद्धि तथा अयादेश आदि के बाद निगारयति पद बनता है।

आशयति—'अद् भक्षणे' धातु से णिच् प्रत्यय होने से 'णिचश्च' २५६४ से आत्मनेपद की प्राप्ति होने पर 'निगरणचलनार्थेभ्यश्च' २७५३ से परस्मैपद होने पर लट् के स्थान में तिप् प्रत्यय होने से वृद्धि एवं गुण तथा अयादेश आदि के अनन्तर आशयति प्रयोग होता है।

भोजयति—भक्षणार्थक भुज धातु से 'णिच्' प्रत्यय होने पर 'णिचश्च' २५६४ से आत्मनेपद की प्राप्ति की स्थिति में 'निगरणचलनार्थेभ्यश्च' २७५३ से परस्मैपद का विधान होने पर लट् के स्थान में तिप् प्रत्यय होने से भोजयति रूप होता है।

कम्पयति—'कपि चलने' धातु से 'णिच्' प्रत्यय होने पर 'णिचश्च' २५६४ से आत्मनेपद की प्राप्ति थी, किन्तु 'निगरणचलनार्थेभ्यश्च' २७५३ से परस्मैपद का विधान होने के कारण लट् के स्थान में तिप् होने पर कम्पयति प्रयोग होता है।

२७५४। अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात् १।३।८८।

ण्यन्तात् परस्मैपदं स्यात्। शेते कृष्णः, तं गोपी शाययति।

'बुधयुधनशजनेङ्प्रुद्रुस्रुभ्यो णेः' २७५२ से 'णेः' की अनुवृत्ति करने पर सूत्रार्थ है—अण्यन्तावस्था में अकर्मक धातु से तथा चेतनकर्तृक (कर्ता जिसमें चेतन हो) धातु से ण्यन्तावस्था में परस्मैपद होता है। इसका उदाहरण है—शेते कृष्णः तं गोपी शाययति।

अर्थात् कृष्ण सोते हैं और गोपी उन्हें सुलाती है। शीङ् धातु अण्यन्तावस्था में अकर्मक है और शयन का कर्ता कृष्ण चेतन है। अतः शीङ् धातु से णिच् करने पर 'अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात्' २७५४ से परस्मैपद होने पर शाययति पद बना है।

सूत्र में 'चित्तवत्कर्तृकात्' पाठ होने के कारण चेतन कर्ता नहीं रहने से परस्मैपद नहीं होता है। जैसे व्रीहयः शुष्यन्ति, तान् शोषयते में णिच् होने पर आत्मनेपद हुआ है क्योंकि इसका कर्ता व्रीहि चेतन नहीं है।

सूत्र में 'अकर्मकात्' ग्रहण के कारण सकर्मक धातु से 'णिच्' होने पर परस्मैपद नहीं होता है। जैसे—'कटं करोति, तं प्रयुङ्क्ते कटं कारयते।

रूपसिद्धि :—

गोपी कृष्णं शाययति—कृष्णः शेते तं गोपी शाययति ।

'शीङ् स्वप्ने' धातु ङित् है । अतः 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' २१५७ से आत्मनेपद होने पर शेते प्रयोग बनता है ।

प्रेरणा अर्थ में शीङ् धातु से णिच् करने पर णित् के कारण 'अचोञ्णिति' २५४ से वृद्धि के बाद आयादेश होने पर शायि की धातु संज्ञा होने पर कर्तृगामी क्रियाफल होने के कारण 'णिचश्च' २५६४ से आत्मनेपद की प्राप्ति होने पर 'अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात्' २७५४ से परस्मैपद का विधान होने पर लट् के स्थान में तिप् प्रत्यय आने के बाद शप् (अ) होने से गुण एवम् अयादेश के बाद शाययति प्रयोग बनता है ।

२७५५ । **न पादम्याङ्यमाङ्यसपरिमुहरुचिनृतिवदवसः १।३।८९ ।**

एभ्यो ण्यन्तेभ्यः परस्मैपदं न । पिबतिर्निगरणार्थः । इतरे चित्तवत्कर्तृका अकर्मकाः । नृतिश्चलनार्थोऽपि । तेन सूत्रद्वयेन प्राप्तिः । पाययते । दमयते । आयामयते । आयासयते । परिमोहयते । रोचयते । नर्तयते । वादयते । वासयते । 'धेट उपसंख्यानम्' (वा० ९६२) । 'धापयेते शिशुमेकं समीची' । अकर्त्रभिप्राये 'शेषात्—' (सू० २१५९) इति परस्मैपदं स्यादेव । वत्सान्पाययति पयः । दमयन्ती कमनीयतामदम् । भिक्षां वासयति । 'वा क्यषः' (सू० २६६९), लोहितायति, लोहितायते । 'द्युद्भ्यो लुङि' (सू० २३४५), अद्युतत्-अद्योतिष्ट । 'वृद्भ्यः स्यसनोः' (सू० २३४७), वर्त्स्यति-वर्तिष्यते । विवृत्सति-विवर्तिषते । 'लुटि च क्लृपः' (सू० २३५१), कल्प्ता । कल्प्तासि-कल्पितासे । कल्प्स्यति-कल्पिष्यते-कल्प्स्यते । चिक्लृप्सति—चिकल्पिषते-चिक्लृप्सते ।

इति तिङन्ते परस्मैपदप्रकरणम् ।

यहाँ 'बुधयुधनशजनेङ्प्रुद्रुस्रुभ्यो णेः' २७५२ से 'णेः' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ है कि पा, दम्, आङ् पूर्वक यम्, आङ् पूर्वक यस्, परि पूर्वक मुह, रुच्, नृत्, वद और वस् धातुओं से ण्यन्तावस्था में कर्तृगामी क्रियाफल होने पर परस्मैपद नहीं होता है ।

यहाँ 'पा पाने' धातु निगरण (भक्षण) अर्थ में है । दूसरे दम्, यम् आदि अचेतन कर्ता वाले तथा अकर्मक है । नृती धातु चलनार्थक है । अतः इनसे 'निगरणचलनार्थेभ्यश्च' २७५३ से तथा 'अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात्' २७५४ से परस्मैपद प्राप्त था । उन दोनों का निषेधक है यह सूत्र—'न पादम्याङ्—' । अतः पा आदि धातु से 'णिच्' प्रत्यय करने पर पाययते = पिलाता है, दमयते = दमन कराता है, आयामयते = वशीभूत कराता है, आयासयते = कोशिश करवाता है, परिमोहयते = मोहित कराता है, रोचयते = रुचि पैदा करता है, नर्तयते = नचाता है, वादयते = बजाता है, वासयते = बसाता है—प्रयोग बनते हैं ।

ण्यन्त 'धेट् पाने' धातु से भी परस्मैपद का निषेध होता है। उदाहरण है = धाप: शिशुमेकं समीची। अर्थात् दो सेविकायें एक बच्चे को दूध पिलाती हैं। एकः शिशुः धर तं सेविके धापयेते। यहाँ 'अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात्' २७५४ से परस्मैपद की प्राप्ति जिसका निषेध इस वार्तिक से हुआ है।

क्रियाजन्य फल जहाँ कर्तृगामी न रहे वहाँ 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' २१५९ परस्मैपद होता ही है। यथा-वत्सान् पाययति पयः। वत्साः पयः पिबन्ति, पायकः र वत्सान् पयः पाययति। अर्थात् बछड़ा दूध पीता है और पिलाने वाला उन बछड़ों को पिलाता है। दम् का उदाहरण है—'दमयन्ती कमनीयतामदम्'। अर्थात् सौन्दर्य के गर्व दमन करने वाली यह दमयन्ती है। दूसरे के मद को दबाती है। इसलिये क्रियाजन्य कर्तृगामी न होने से परस्मैपद में दम् धातु से शतृ प्रत्यय में स्त्रीलिङ्ग रूप दमयन्ती है। निवासि' धातु से 'णिच्' होने पर परगामी क्रियाफल होने से परस्मैपद में भिक्षां वासयति निष्पन्न होता है।

'वा क्यषः' २६६९ का अर्थ है कि क्यष् प्रत्ययान्त ण्यन्त धातु से कर्तृगामी क्रिय होने पर विकल्प से परस्मैपद होता है, अतः पक्ष में आत्मनेपद होता है। यथा लोहिता लोहितायते। अर्थात् आत्मनः लोहितम् = रक्तम् इच्छति (अपने को लाल रंग का ब चाहता है)।

'द्युद्भ्यो लुङि' २३४५ का अर्थ है कि द्युतादिगण में पठित धातुओं से लुङ् ल में विकल्प से परस्मैपद होता है। यथा परस्मैपद में—अद्युतत्, आत्मनेपद में—अद्योति

'वृद्भ्यः स्यसनोः' २३४७ का अर्थ है कि स्य और सन् प्रत्ययों के परे वृत धातुओं से विकल्प से परस्मैपद होता है। यथा स्य होने पर वर्त्स्यति, वर्तिष्यते।

सन् का उदाहरण है—विवृत्सति, विवर्तिषते। वर्तितुम् इच्छति इस विग्रह । प्रत्यय होने पर लट् के स्थान में परस्मैपद में 'तिप्' होने पर विवृत्सति तथा पक्ष में आत्म में 'त' प्रत्यय में विवर्तिषते रूप होता है।

'लुटि च क्लृपः' २३५१ का अर्थ है कि क्लृप धातु से लुट् लकार में तथा स्य सन् प्रत्ययों के परे भी विकल्प से परस्मैपद होता है। यथा-क्लृप धातु से लुट् ल 'कल्प्ता' रूप तिप् प्रत्यय में होता है। इसी प्रकार परस्मैपद में 'सिप्' प्रत्यय में क आत्मनेपद 'थास्' प्रत्यय में कल्पितासे पद बनता है।

क्लृप धातु से परस्मैपद में लृट् लकार से 'तिप्' होने पर कल्प्स्यति तथा आत्म लृट् के स्थान में 'त' प्रत्यय में कल्पिष्यते तथा कल्प्स्यते रूप होते हैं। क्लृप् धातु प्रत्यय में परस्मैपद में लट् के स्थान में 'तिप्' होने पर धातु के द्वित्व आदि के बाद चिव तथा पक्ष में आत्मनेपद में 'त' प्रत्यय में चिक्लृप्सते पद निष्पन्न होते हैं।

रूपसिद्धि :—

पाययते—'पा पाने' ९९१ धातु परस्मैपदी है। अतः पिबति रूप होता है। पा धातु से 'णिच्' प्रत्यय करने पर 'णिचश्च' से आत्मनेपद की प्राप्ति होने पर पा धातु के निगरणार्थक (भक्षणार्थक) होने के कारण 'निगरणचलनार्थेभ्यश्च' २७५३ से परस्मैपद की प्राप्ति होती है। किन्तु 'न पादम्याङ्यमाङ्यसपरिमुहरुचिनृतिवदवसः' २७५५ से परस्मैपद का निषेध हो जाने पर आत्मनेपद होने से लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय होने से एत्व होकर पाययते रूप सिद्ध होता है।

दमयते—दमु उपशमे, १२८० धातु परस्मैपदी है। अतः लट् के स्थान में 'तिप्' प्रत्यय में दाम्यति रूप होता है।

दम् धातु से 'णिच्' प्रत्यय करने पर 'णिचश्च' २५६४ से आत्मनेपद की प्राप्ति होती है, किन्तु दम् धातु के चेतनकर्तृक होने से 'अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात्' २७५५ से परस्मैपद की प्राप्ति होती है किन्तु 'न पादम्याङ्यमाङ्यसपरिमुहरुचिनृतिवदवसः' २७५५ से परस्मैपद का निषेध होने पर आत्मनेपद होने से 'त' प्रत्यय में 'टित आत्मनेपदानां टेरे' से एत्व होकर दमयते रूप होता है।

आयामयते—चुरादिगण में पठित 'यम परिवेषणे' १७४५ धातु परस्मैपदी है अतः यमयति रूप होता है। प्रेरणा अर्थ में आङ् पूर्वक यम धातु से 'णिच्' होने पर 'अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात्' २७५५ से परस्मैपद की प्राप्ति थी जिसे बाध कर 'न पादम्याङ्यमाङ्यसपरिमुहरुचिनृतिवदवसः' से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय होने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से एत्व होने पर आयामयते रूप होता है।

आयासयते—'यसु प्रयत्ने' धातु परस्मैपदी है। अतः यस्यति एवम् यसति रूप होता है। आङ् पूर्वक यस् धातु से 'णिच्' प्रत्यय होने पर धातु के चेतनकर्तृक होने के कारण 'अणावकर्मकाच्चितवत्कर्तृकात्' २७५४ से परस्मैपद प्राप्त था जिसे 'न पादम्याङ्यमाङ्' २७५६ से बाध हो जाने पर आत्मनेपद होने से लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से एत्व होकर आयासयते रूप होता है।

परिमोहयते—'मुह वैचित्ये' १२७५ धातु परस्मैपदी है। अतः मुह्यति रूप होता है। परि पूर्वक मुह धातु से 'णिच्' होने पर 'णिचश्च' से आत्मनेपद की प्राप्ति होती है, किन्तु इस धातु के चेतन-कर्तृक होने से 'अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात्' २७५४ से परस्मैपद की प्राप्ति में 'न पादम्याङ्' २७५५ से परस्मैपद का निषेध हो जाने पर आत्मनेपद में 'त' प्रत्यय होने से 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से एत्व होने पर परिमोहयते रूप निष्पन्न होता है।

रोचयते—'रुच् दीप्तावभिप्रीतौ च' ७९३ धातु से आत्मनेपद में रोचते पद बनता है, किन्तु इस धातु से णिच् करने पर 'णिचश्च' से आत्मनेपद प्राप्ति की स्थिति में 'अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात्' २७५४ से परस्मैपद प्राप्त होने से 'न पादम्याङ्यमाङ्—' २७५५ से परस्मैपद का निषेध हो जाने पर आत्मनेपद में 'त' प्रत्यय होने से टि (अ) का एत्व होने से रोचयते पद बना है।

नर्तयते—'नृती गात्रविक्षेपे' धातु परस्मैपदी है। अतः नृत्यति रूप होता है। इस धातु से णिच् प्रत्यय में 'अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात्' २७५४ से परस्मैपद प्राप्त होने पर 'न पादम्याङ्—' २७५५ से उसका निषेध हो जाने पर आत्मनेपद होने से 'त' प्रत्यय में एत्व होकर नर्तयते रूप होता है।

वादयते—वद धातु परस्मैपदी है। अतः वदति रूप होता है। इस धातु से 'णिच्' होने पर वादि धातु से 'अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात्' २७५४ से परस्मैपद प्राप्त होने पर 'न पादम्याङ्—' २७५५ से उसका निषेध करने पर आत्मनेपद होने से 'त' प्रत्यय में एत्व होकर वादयते पद बनता है।

वासयते—'वस् निवासे' धातु परस्मैपदी है। अतः वसति रूप होता है। इस धातु से णिच् होने पर वासि धातु से 'अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात्' २७५४ से परस्मैपद प्राप्त होने पर 'न पादम्याङ्—' २७५५ से उसका निषेध होने पर आत्मनेपद में 'त' प्रत्यय आने पर एत्व होकर वासयते पद बनता है।

धापयेते शिशुमेकं समीची—'धेट् पाने' धातु परस्मैपदी है। अतः धयति रूप होता है। धेट् धातु से णिच् होने पर धापि धातु के चेतनकर्तृक होने से 'अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात्' २७५४ से परस्मैपद की प्राप्ति होने पर 'धेट् उपसंख्यानम्' इस वार्तिक से परस्मैपद का निषेध हो जाने से आत्मनेपद में लट् के स्थान में 'आताम्' प्रत्यय होने पर धापयेते प्रयोग होता है। अतः वाक्य प्रयोग है—एकः शिशुः धयति तं समीची सेविके वा धापयेते।

वत्सान् पाययति पयः—वत्साः पयः पिबन्ति, तान् वत्सान् पायकः पयः पाययति।

'पा पाने' धातु परस्मैपदी है। अतः पिबति रूप होता है। पा धातु से णिच् होने पर पायि धातु के निगरणार्थक होने के कारण 'निगरणचलनार्थेभ्यश्च' २७५३ से परस्मैपद की प्राप्ति में 'न पादम्याङ्—' से परस्मैपद का निषेध होने पर आत्मनेपद प्राप्ति की स्थिति में धातु के कर्तृगामी क्रियाफल होने से 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' से परस्मैपद विधान होने से लट् के स्थान में तिप् प्रत्यय आने पर शप् (अ) से बाद 'पायि अ ति' की स्थिति में गुण एवम् अयादेश होने से पाययति पद होता है। अतः वाक्य प्रयोग है—वत्सान् पाययति पयः।

दमयन्ती कमनीयतामदम्—'दमु उपशमे' धातु परस्मैपदी है। अतः दाम्यति रूप होता है। इस धातु से णिच् प्रत्यय होने पर दमि धातु के चेतनकर्तृक होने से 'अणावकर्म-

काचित्तवत्कर्तृकात्' २७५४ से परस्मैपद की प्राप्ति होने पर 'न पादम्याङ्—' से परस्मैपद का निषेध हो जाता है। अतः आत्मनेपद विधान की स्थिति में दमि धातु के कर्तृभिन्न क्रियाफल होने से 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' २१५९ से परस्मैपद का विधान करने पर गुण एवम् अयादेश के बाद दमयत् शब्द से 'शप्श्यनोर्नित्यम्' से नुम् होने पर स्त्रीत्व विवक्षा में 'उगितश्च' ४५५ से ङीप् प्रत्यय आने पर दमयन्ती शब्द से सु विभक्ति में सुलोप के बाद दमयन्ती पद सिद्ध होता है। इसका अर्थ है—दमन करती हुई। अतः वाक्य प्रयोग है दमयन्ती कमनीयतामदम्।

भिक्षां वासयति—वस धातु परस्मैपदी है। अतः वसति रूप होता है। वस् धातु से णिच् प्रत्यय करने पर वासि धातु के अकर्मक होने के कारण 'अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात्' २७५४ से परस्मैपद प्राप्त होने पर 'न पादम्याङ्यमाङ्—' २७५५ से परस्मैपद का निषेध हो जाने पर आत्मनेपद प्राप्ति की स्थिति में कर्तृभिन्न क्रियाफल होने के कारण 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' २१५९ से तिप् आने पर शप् (अ) के बाद गुण एवम् अयादेश होकर वासयति रूप निष्पन्न होता है।

अतः वाक्य प्रयोग है—भिक्षां वासयति। अर्थात् भिक्षा के लिये निवास कराता है।

इति डॉ० रामविलासचौधरी-विरचितायां सिद्धान्तकौमुदीव्याख्यायां ध्रुव-विलासिन्यां परस्मैपदव्यवस्था परिपूर्णा।

अथ कृदन्ते कृत्यप्रकरणम्

२८२९। धातोः ३।१।९१।

आतृतीयसमाप्तेरधिकारोऽयम्।'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्' (सू० ७८१)। 'कृदतिङ्' (सू० ३७४)।

यह अधिकार सूत्र है। तृतीय अध्याय की समाप्ति तक इसका अधिकार होता है। इसलिये आगे के सूत्रों में 'धातोः' का ग्रहण किया जाता है। धातु से तिङ् एवं कृत् प्रत्यय होते हैं।

समास प्रकरण में आये 'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्' ७८१ का उल्लेख कृदन्त प्रकरण में परिभाषा सूत्र के रूप में किया गया है। इसका अर्थ है कि इस प्रकरण के सूत्रों में जो सप्तमी विभक्त्यन्त पद हैं उनसे उपपद का बोध होता है। जैसे 'कर्मण्यण्' २९१३ सूत्र में 'कर्मणि' सप्तमीस्थ है, उससे कर्म के उपपद रहने पर धातु से 'अण्' प्रत्यय होता है।

इसी तरह 'वदः सुपि क्यप् च' २८५४ इस सूत्र में सुपि के सप्तमीस्थ होने से सुप् के उपपद रहने पर ऐसा अर्थ इस परिभाषा सूत्र (तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्) ७८१ के अनुसार किया जाता है।

इसके बाद 'कृदतिङ्' ३७४ इस संज्ञा सूत्र को स्मरणार्थ लिखा गया है। इसका अर्थ है कि धातु से विहित तिङ् प्रत्यय से भिन्न प्रत्यय को कृत् कहा जाता है।

ये कृत् प्रत्यय विभिन्न अर्थों में होते हैं। सामान्य सूत्र है—'कर्तरि कृत्' २८३२। इस सूत्र से बताया जाता है कि कर्ता अर्थ में कृत् प्रत्यय होते हैं। विशेष सूत्र 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' २८३३ आदि हैं। उसके अनुसार कृत्य, क्त एवं खलर्थक प्रत्यय भाव एवं कर्म में ही होते हैं। उन्हीं कुछ अर्थों के आधार पर कृदन्त प्रकरण को तीन भागों में श्रीमद्भट्टोजिदीक्षित ने विभाजित किया है। वे हैं—कृत्य, पूर्वकृदन्त और उत्तरकृदन्त। 'कृत्याः' २८३१ के अधिकार में कृत्य प्रत्यय पढ़े गये हैं जिसका अधिकार 'ण्वुल्तृचौ' २८९५ से पूर्व तक जाता है और 'ण्वुल्तृचौ' २८९५ से लेकर 'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' ३१७५ सूत्र के पहले पूर्वकृदन्त और उस सूत्र से लेकर शेष अर्थात् 'अन्वच्चानुलोम्ये' ३३८६ तक को उत्तर कृदन्त कहते हैं।

धातु से कृत् प्रत्यय होने पर उससे बने शब्द को कृदन्त कहा जाता है तथा उसकी 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से प्रातिपदिकसंज्ञा होने पर सु आदि विभक्तियाँ आती हैं। जिससे वह सुबन्त बनता है और 'सुप्तिङन्तं पदम्' २८ से वह पदसंज्ञा को प्राप्त होता है।

व्याकरण निकाय में पद चार प्रकार के होते हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग और पात। जैसा कि यास्क ने कहा है—'चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च'। नमें कृदन्त पद नामपद के अन्तर्गत आता है।

२८३०। वाऽसरूपोऽस्त्रियाम् ३।१।९४।

परिभाषेयम्। अस्मिन्धात्वधिकारेऽसरूपोऽपवादप्रत्ययः उत्सर्गस्य बाधको ा स्यात्, स्त्र्यधिकारोक्तं विना।

यह परिभाषा-सूत्र है। अनियम में नियमकारक सूत्र परिभाषा-सूत्र कहलाता है। ह सामान्य परिभाषा स्वरूप है। इस प्रकरण में साधारण रूप से उपसर्ग (सामान्य) सूत्र वम् अपवाद (विशेष) सूत्र आये हैं। उन दोनों के एक साथ होने पर अपवाद बली ोता है। यह सामान्य सिद्धान्त है। परिभाषा है—

'परनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः।'

र्थात् पर, नित्य, अन्तरङ्ग और अपवाद सूत्रों में अपेक्षाकृत बाद वाले सूत्र बलवान् होते ं। इस तरह अपवाद सूत्र सबसे बलवान् होता है। यह सामान्य रूप से बताया गया है। सके भी अपवाद रूप में पाणिनि का 'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्' है। इसका अर्थ है कि इस धातु के धिकार में असमान रूप वाला अपवाद प्रत्यय उत्सर्ग सूत्र का बाधक विकल्प से होता है, केन्तु 'स्त्रियां क्तिन्' ३२७२ इस सूत्र से 'स्त्रियाम्' ४५४ के अधिकार में विहित प्रत्ययों को छोड़कर ही विकल्प से बाध करता है। उसके अधिकार के सूत्रों में तो नित्य ही बाधक होता है।

२८३१। कृत्याः ३।१।९५।

अधिकारोऽयं ण्वुलः प्राक्।

यह अधिकार सूत्र है। इसका अधिकार 'ण्वुल्तृचौ' २८९५ के पहले तक चलता है। इस अधिकार सूत्र में कुछ कृत्य प्रत्यय आते हैं। वे हैं—तव्यत्, तव्य, अनीयर्, केलिमर्, यत्, ण्यत् और क्यप् प्रत्यय। इस तरह कृत् प्रत्ययों के अन्तर्गत ही ये प्रत्यय हैं। अतः इनसे बने शब्द कृदन्त ही कहे जाते हैं।

२८३२। कर्तरि कृत् ३।४।६७।

कृत्प्रत्ययः कर्तरि स्यात्। इति प्राप्ते

यह सूत्र कृत्प्रत्ययों का सामान्य रूप से अर्थ बतलाने वाला है। इसका अर्थ है कि कर्ता अर्थ में कृत् प्रत्यय होते हैं। यह सामान्य सूत्र है। कृत्प्रत्यय दूसरे अर्थों में भी होते हैं। इसे बताने के लिये दूसरे अपवाद सूत्र कहे गये हैं। कृत्प्रत्ययों के कर्ता अर्थ में प्राप्त होने पर आगे विशेष सूत्र कहे गये हैं—

२८३३। तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः ३।४।७०।

एते भावकर्मणोरेव स्युः।

यह सूत्र 'कर्तरि कृत्' २८३२ का अपवाद है। इसके पहले 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' सूत्र है अतः 'तयोः' से 'कर्मणि च भावे च' अर्थात् कर्म और भाव का ग्रहण होता है। इस तरह सूत्र का अर्थ होता है कि कृत्य, क्त और खलर्थक (खल् आदि) प्रत्यय भाव एवं कर्म में ही होते हैं, कर्ता अर्थ में नहीं। इस सूत्र से 'कर्तरि कृत्' २८३२ का बाध हो जाता है। इस कारण कृत् प्रकरण के कृत्य प्रत्यय (तव्यत्, तव्य, अनीयर्, ण्यत्, यत् केलिमर् और क्यप् प्रत्यय) का विधान भाव और कर्म अर्थ मे ही होता है।

२८३४ तव्यत्तव्यानीयरः ३।१।९६।

धातोरेते प्रत्ययाः स्युः। तकाररेफौ स्वरार्थौ। एधितव्यम् एधनीयं त्वया। भावे औत्सर्गिकमेकवचनं क्लीवत्वञ्च। चेतव्यश्चयनीयो वा धर्मस्त्वया। 'वसेस्तव्यत्कर्तरि णिच्च' (वा १९२०)। वसतीति वास्तव्यः। 'केलिमर उपसंख्यानम्' (वा० १९१९)। पचेलिमा माषाः, पक्तव्याः। भिदेलिमाः सरलाः, भेत्तव्याः। कर्मणि प्रत्ययः। वृत्तिकारस्तु 'कर्मकर्तरि चायमिष्यते' इत्याह। तद्भाष्यविरुद्धम्।

इस सूत्र में 'धातोः' का अधिकार आता है। अतः सूत्र का अर्थ है—धातु से तव्यत्, तव्य और अनीयर् प्रत्यय होते हैं। यहाँ 'तव्यत् का 'त्' इत्संज्ञक है। जिससे 'तित् स्वरितम्' ३७२६ सूत्र से स्वरित स्वर होता है। इसी तरह 'अनीयर्' के 'र्' की इत्संज्ञा होती है जिससे 'उपोत्तमं रिति' ३७३० सूत्र से मध्योदात्तार्थं रेफ है। अनुबन्धरहित 'तव्य' प्रत्यय का आद्युदात्त स्वर होता है। ये प्रत्यय सकर्मक धातु से कर्म अर्थ में तथा अकर्मक धातु से भाव अर्थ में होते हैं। इसका उदाहरण है—एधितव्यम्। यहाँ एध धातु अकर्मक है। इसलिये एध धातु से भाव में 'तव्यत्' प्रत्यय होता है जिससे एधितव्यम् रूप बनता है। इसी तरह एध धातु से भाव अर्थ में 'अनीयर्' प्रत्यय होने पर एधनीयम् प्रयोग होता है। ऐसी स्थिति में कर्ता के अनुक्त हो जाने से 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' ५६२ सूत्र से उसमें तृतीया विभक्ति हो जाती है। इस तरह 'त्वया एधितव्यम् एधनीयं वा। ऐसा प्रयोग होता है।

भाव स्वभावतः एक होता है। इसलिए उसमें एकवचन ही होता है तथा भाव के नपुंसक (पुंल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग, नहीं) होने के कारण उसमें प्रत्यय आने पर नपुंसकलिङ्ग ही होता है।

कर्म में प्रत्यय का उदाहरण है—

चेतव्यश्चयनीयो वा धर्मस्त्वया यहाँ 'चि चयने' धातु के सकर्मक होने के कारण कर्म (धर्म) के अर्थ में 'तव्यत्' प्रत्यय होने पर कर्म के पुंल्लिङ्ग होने से 'चेतव्यः' तथा 'अनीयर्' प्रत्यय होने पर 'चयनीयः' प्रयोग सिद्ध होता है।

'वसेस्तव्यत्कर्तरि णिच्च' यह वार्तिक है। इसका अर्थ है कि वस् धातु से कर्ता अर्थ में 'तव्यत् प्रत्यय होता है और वह 'णिच्' के जैसा होता है। इस वार्तिक के द्वारा विशेष रूप से कर्ता अर्थ में 'वसति इति' इस विग्रह में 'तव्यत्' का विधान किया गया है जिससे 'वास्तव्यः'

प्रयोग बनता है। इसका अर्थ है रहने वाला। यहाँ कर्ता अर्थ में तव्यत् प्रत्यय होने के कारण कर्ता में तृतीया विभक्ति न होकर प्रथमा ही होती है।

भाव एवं कर्म अर्थ में 'केलिमर्' प्रत्यय भी होता है—ऐसा कहना चाहिये। इसका उदाहरण है—

पचेलिमाः माषाः—अर्थात् उड़द पकाना चाहिये। यहाँ पच् धातु से कर्म में इस वार्तिक से 'केलिमर्' प्रत्यय हुआ है। यह केलिमर् प्रत्यय विशेष रूप से विहित है अतः अपवाद होने के कारण उत्सर्ग रूप 'तव्यत्' का बाधक होता, किन्तु 'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्' २८३० के अनुसार विकल्प से ही बाध करता है। इसलिये पक्ष में 'तव्यत्' होने पर 'पक्तव्याः माषाः' ऐसा प्रयोग भी होता है

इसी प्रकार भिद् धातु से 'केलिमर्' होने पर 'भिदेलिमाः सरलाः' (सरल वृक्ष की लकड़ी को विदारण करना चाहिये) प्रयोग बनता है। यहाँ 'केलिमर्' प्रत्यय कर्म में है।

वृत्तिकार ने कहा है कि कर्मकर्त्ता अर्थ में भी यह प्रत्यय अभीष्ट है। किन्तु उनका कथन संगत नहीं है क्योंकि ऐसा मानना भाष्य विरुद्ध है, कारण कि भाष्य में 'भिदेलिमाः'—इस उदाहरण के बाद 'भेत्तव्याः' इस रूप में व्याख्या की गयी है जिससे कर्म अर्थ में ही प्रत्यय सिद्ध है।

प्रयोगसिद्धि :—

एधितव्यम्—एध धातु अकर्मक है। इसलिये उससे भाव में 'तव्यत्तव्यानीयरः' सूत्र से 'तव्यत्' प्रत्यय होता है। 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' २१८४ सूत्र से 'इट्' का आगम होने पर 'ट्' की इत्संज्ञा एवं लोप होने के बाद एधितव्य शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से होने पर 'स्वौजसमौट्' इत्यादि सूत्र से 'सु' विभक्ति आती है। 'एधितव्य सु' की स्थिति में भाव में नपुंसक होने के कारण 'अतोऽम्' ३०९ सूत्र से नपुंसक में 'सु' का 'अम्' आदेश हो जाता है। 'एधितव्य अम्' की स्थिति में 'अमि पूर्वः' १९४ से पूर्वरूप होने पर एधितव्यम् प्रयोग सिद्ध होता है।

एधनीयम्—एध धातु से भाव में 'तव्यत्तव्यानीयरः' से 'अनीयर्' प्रत्यय होने पर 'र्' की इत्संज्ञा 'रि च' सूत्र से होने पर एधनीय शब्द से प्रातिपदिकसंज्ञा के बाद सु विभक्ति के आने पर नपुंसकलिङ्ग में सु का अमादेश एवं पूर्वरूप होने से एधनीयम् रूप बनता है।

चेतव्यः—'चिञ् चयने' धातु के सकर्मक होने के कारण कर्म अर्थ में 'तव्यत्तव्यानीयरः' २८३४ सूत्र से 'तव्यत्' प्रत्यय होने पर 'त्' की इत्संज्ञा होती है और धातु के अनिट् होने के कारण 'इट्' का आगम नहीं होने से 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' सूत्र से 'चि' के 'इ' के स्थान में गुण 'ए' हो जाता है जिससे चेतव्य शब्द बनता है। इसकी प्रातिपदिकसंज्ञा 'कृत्तद्धितसमासाश्च' १७९ से होने पर 'सु' वि भक्ति आती है। यहाँ 'तव्यत्' प्रत्यय सकर्मक

धातु से हुआ है और उसका कर्म इस वाक्य में धर्म है जो पुंल्लिङ्ग है। अतः धर्म के अनुसार पुंल्लिङ्ग चेतव्य शब्द से आये 'सु' का 'ससजुषो रुः' १६२ से रुत्व एवं 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' ७६ से विसर्ग होने पर चेतव्यः रूप सिद्ध होता है।

चयनीयः—सकर्मक 'चिञ् चयने' धातु से कर्म अर्थ में 'तव्यत्तव्यानीयरः' २८३४ सूत्र से 'अनीयर्' प्रत्यय होने पर 'र्' की इत्संज्ञा तथा लोप के बाद 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' २१६८ से 'इ' का गुण 'ए' होने पर 'चे अनीय' की स्थिति में 'एचोऽयवायावः' सूत्र से अयादेश होने के बाद चयनीय शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा 'कृत्तद्धितसमासाश्च' १०९ से होती है तथा सु विभक्ति के आगम होने पर कर्म (धर्म) के पुंल्लिङ्ग होने से स् का रुत्व एवं विसर्ग होने पर चयनीयः प्रयोग सिद्ध होता है तथा 'चयनीयः धर्मः' यह वाक्य प्रयुक्त होता है।

वास्तव्यः—वसति इति इस विग्रह से कर्ता अर्थ में 'वसेस्तव्यत्कर्तरि णिच्च' इस वार्तिक से वस् धातु से तव्यत् प्रत्यय होने पर 'त्' की इत्संज्ञा तथा लोप के बाद उक्त वार्तिक से 'तव्यत्' प्रत्यय के णित् विधान किये जाने के कारण 'अत उपधायाः' २२८२ सूत्र से धातु में उपधा (अ) की वृद्धि (आ) हो जाने पर वास्तव्य शब्द बनता है। उसकी प्रातिपदिकसंज्ञा 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से होने पर सु विभक्ति आती है। कर्ता के पुंल्लिङ्ग होने के कारण स् का 'ससजुषो रुः' १६२ से रुत्व एवं 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से विसर्ग होने पर वास्तव्यः पद बनता है।

पचेलिमाः—'डुपचष् पाके' धातु से 'केलिमर उपसंख्यानम्' इस वार्तिक से कर्म अर्थ में 'केलिमर्' प्रत्यय होता है। 'लशक्वतद्धिते' सूत्र से 'क्' की इत्संज्ञा तथा लोप होने पर 'र्' की भी इत्संज्ञा हो जाती है जिससे पचेलिम शब्द बनता है। उसकी प्रातिपदिकसंज्ञा 'कृत्तद्धितसमासाश्च' १७९ से होने पर 'माष' इस कर्म के अनुसार बहुवचन में 'जस्' विभक्ति के आने पर तथ्य कर्म (माष) के पुंल्लिङ्ग होने से 'चुटू' १८९ सूत्र से 'ज्' की इत्संज्ञा होने के बाद दीर्घ होकर 'पचेलिमास्' के 'स्' का 'रु' आदेश 'ससजुषो रुः' १६२ से होता है और उसका विसर्ग होने पर पचेलिमाः पद बनता है तथा 'पचेलिमाः माषाः' वाक्य प्रयुक्त होता है।

पक्ष में पच् धातु से तव्यत् प्रत्यय होने पर कुत्व होने से प्रातिपदिकसंज्ञा के बाद जस् विभक्ति में पक्तव्याः प्रयोग भी बनता है।

भिदेलिमाः—भिद् धातु से कर्म अर्थ में 'केलिमर उपसंख्यानम्' इस वार्तिक से 'केलिमर्' प्रत्यय होता है। 'क्' एवं 'र्' की इत्संज्ञा तथा लोप होने पर भिदेलिम शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा होती है तथा सरल के अनुसार बहुवचन में जस् विभक्ति के आने पर दीर्घ होने के बाद रुत्व एवं विसर्ग होने पर 'भिदेलिमाः' पद बनता है तथा 'भिदेलिमाः सरलाः' प्रयोग होता है।

पक्ष में 'तव्यत्' प्रत्यय होने पर गुण एवं प्रातिपदिकादि कार्य होने के बाद भेत्तव्याः पद सिद्ध होता है।

२८३५ । कृत्यचः ८।४।२९ ।

उपसर्गस्थान्निमित्तात् परस्याच उत्तरस्य कृत्स्थस्य नस्य णत्वं स्यात् । प्रयाणीयम् । 'अचः' किम् ? प्रमग्नः । 'निर्विण्णस्योपसंख्यानम्' (वा० ५००४) अचः परत्वाभावादप्राप्ते वचनम् । परस्य णत्वम्, पूर्वस्य ष्टुत्वम् । निर्विण्णः ।

कृत्य प्रकरण में 'अनीयर्' के 'न' का 'ण' विधान करने के लिये कुछ सूत्र पढ़े गये हैं । उनमें 'कृत्यचः' २८३५ प्रथम सूत्र है । इस सूत्र में 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' १३५ इस सूत्र की अनुवृत्ति होती है तथा 'उपसर्गाद्बहुलम्' ८६१ से 'उपसर्गाद्' का ग्रहण होता है । इसलिये सूत्र का अर्थ होता है कि उपसर्गस्थ रेफ एवं षकार रूप निमित्त से पर में रहने वाले अच् से उत्तर में स्थित कृत् के 'न' के स्थान में 'ण' हो जाता है । इसका उदाहरण है— प्रयाणीयम् । यहाँ प्र पूर्वक या धातु से 'अनीयर्' प्रत्यय हुआ है । 'प्र' उपसर्ग में रहने वाले निमित्त रेफ से पर में अच् ('या' धातु का 'आ') है और उसके बाद में 'अनीयर्' में 'न' है । अतः इस 'न' का 'ण' आदेश 'कृत्यचः' २८३५ सूत्र से हो गया है ।

सूत्र में 'अच्' पढ़ा गया है । इसलिये प्र पूर्वक मस्ज धातु से 'क्त' प्रत्यय करने पर बने 'प्रमग्नः' प्रयोग में 'न' का 'ण' नहीं होता है क्योंकि अच् से उत्तर में 'न' नहीं है बल्कि हल् (ग्) के बाद है ।

'निर्विण्णस्योपसंख्यानम्'—यह विशेष वार्तिक है । इसका अर्थ है कि 'निर्विण्ण' शब्द में भी 'न' का 'ण' कहना चाहिये । 'निर्' पूर्वक 'विद्' धातु से 'क्त' प्रत्यय करने पर 'निर्विन्न' बनता है । यहाँ अच् से उत्तर में प्रत्ययस्थ 'न' नहीं है । अतः 'कृत्यचः' २८३५ सूत्र से णत्व नहीं होता इसलिये वहाँ णित्व विधान के लिये यह वार्तिक लिखा गया है ।

रूपसिद्धि :—

प्रयाणीयम्—प्र उपसर्ग पूर्वक 'या प्रापणे' धातु से भाव अर्थ में 'तव्यत्तव्यानीयरः' २८३४ सूत्र से 'अनीयर्' प्रत्यय होने पर 'र' की इत्संज्ञा एवं लोप होने पर दीर्घ के बाद प्रयानीय की स्थिति में 'कृत्यचः' सूत्र से 'अनीयर्' के 'न' का 'ण' हो जाता है क्योंकि यहाँ 'प्र' उपसर्ग में स्थित निमित्त रेफ से परे 'या' में अच् (आ) है । अतः प्रयाणीय शब्द बनता है । उसकी प्रातिपदिक संज्ञा 'कृत्तद्धितसमासाश्च' १७९ से होने पर 'सु' विभक्ति आती है । भाव में प्रत्यय होने के कारण नपुंसकलिङ्ग होने से 'अतोऽम्' ३०९ सूत्र से 'सु' का अमादेश होने पर 'अमि पूर्वः' १९४ से पूर्वरूप होकर 'प्रयाणीयम्' पद बनता है ।

निर्विण्णः—निर् उपसर्ग पूर्वक विद् धातु से 'क्त' प्रत्यय होने पर 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' ३०१६ सूत्र से 'द्' एवं 'त' के स्थान में क्रमशः 'न्' और 'न' आदेश होने पर निर्विन्न शब्द बनता है । अच् से परे प्रत्यय का 'न' नहीं रहने के कारण 'कृत्यचः' २८३५ से यहाँ णत्व नहीं होने की स्थिति में 'निर्विण्णस्योपसंख्यानम्' इस वार्तिक से परवर्ती 'न' का 'ण' आदेश होता है और 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व होकर पूर्व के 'न्' का भी 'ण्' हो जाता है ।

तब निर्विण्ण शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा करने पर सु विभक्ति के आने पर उसका रुत्व एवं विसर्ग करने पर निर्विण्णः पुरुषः प्रयोग होता है।

२८३६। णेर्विभाषा ८।४।३०।

उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य ण्यन्ताद् विहितो यः कृत् तत्स्थस्य नस्य णो वा स्यात्। प्रयापणीयम्। प्रयापनीयम्। विहितविशेषणं किम्? यका व्यवधानेऽपि यथा स्यात्। प्रयाप्यमाणं पश्य। 'णत्वे दुर उपसर्गत्वं न' इत्युक्तम्, दुर्यानिम्, दुर्यापनम्।

उपसर्गस्थ निमित्त से पर में रहने वाले ण्यन्त से विहित कृत् प्रत्यय में रहने वाले 'न' के स्थान में विकल्प से 'ण' आदेश हो जाता है। इसका उदाहरण है—प्रयापणीयम् प्रयापनीयम्।

यहाँ प्र पूर्वक या धातु के ण्यन्त से अनीयर् करने पर प्रयापनीय शब्द के 'न' का 'ण' विकल्प से इस सूत्र से होने पर प्रयापणीयम् प्रयोग होता है पक्ष में णत्व नहीं होने पर प्रयापनीयम् रूप होता है।

सूत्र में विहित विशेषण क्यों कहा? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'यक्' से व्यवधान रहने पर भी णत्व हो जाता है। जैसे 'प्रयाप्यमाणं पश्य'—इस प्रयोग में प्र पूर्वक ण्यन्त याप से कर्म में प्रत्यय करने पर प्रयाप्यते प्रयोग बनता है और उस (प्रयाप्यते) से शानच् प्रत्यय करने पर प्रयाप्यमान शब्द बनता है। यहाँ यदि ण्यन्त से पर में अर्थ रखते तो प्रयाप से 'शानच्' का 'आन' पर में चकार से व्यवधान होने के कारण नहीं मिलता अतः णत्व नहीं होता, किन्तु विहित विशेषण देने पर तो ण्यन्त से विहित होने के कारण उसका णत्व हो हो जाता है।

णत्व के कार्य में 'दुर्' को उपसर्ग संज्ञा नहीं होती है, ऐसा कहा गया है। इसलिये 'दुर्' पूर्वक या धातु से 'ल्युट्' एवम् उसके स्थान में 'अन' आदेश करने पर बने 'दुर्यान' शब्द में 'दुर्' के उपसर्ग न होने के कारण 'कृत्यचः २८३५ से णत्व नहीं होता है। इसी तरह 'दुर्' पूर्वक याप ण्यन्त से 'ल्युट्' का 'अन' होने पर बने दुर्यापन शब्द में 'दुर्' के उपसर्ग न माने जाने के कारण 'णेर्विभाषा' २८३६सूत्र से णत्व नहीं होता है।

रूपसिद्धि :—

प्रयापणीयम्—प्र पूर्वक या धातु से णिच् प्रत्यय होने पर 'अर्तिह्रीव्लीरी.......' २५७० इत्यादि सूत्र से 'पुक्' का आगम होने पर बने प्रयापि धातु से 'तव्यत्तव्यानीयरः' २८३४ सूत्र से 'अनीयर्' प्रत्यय आने पर 'णेरनिटि' २३१३ सूत्र से 'णिच्' का लोप होने के बाद 'णेर्विभाषा' २८३६ सूत्र से विकल्प से 'न' का 'ण' होने पर प्रयापणीय शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा 'कृत्तद्धितसमासाश्च' १७९ से होने पर 'सु' विभक्ति आती है। भाव में नपुंसक होने के कारण 'अतोऽम्' ३०९ से सु का 'अम्' आदेश होने पर पूर्वरूप के बाद प्रयापणीयम् प्रयोग बनता है।

'णेर्विभाषा' २८३६ सूत्र से णत्व विकल्प से होता है। अतः पक्ष में णत्व नहीं होने पर प्रयापनीयम् रूप होता है।

२८३७। **हलश्चेजुपधात्** ८।४।३१।

हलादेरिजुपधात् कृन्नस्याचः परस्य णो वा स्यात्। प्रकोपणीयम्-प्रकोपनीयम्। हलः किम्? प्रोहणीयम्। इजुपधात् किम्? प्रवपणीयम्।

हलादि (हल् अर्थात् व्यञ्जन जिसके आदि में हो) एवम् इजुपध जिसकी उपधा में इच् अर्थात् इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ और औ हो) धातु के अच् से पर में रहने वाले कृत् प्रत्यय के नकार का विकल्प से णकार हो जाता है। इसका उदाहरण है—प्रकोपणीयम्, प्रकोपनीयम्।

यहाँ प्र पूर्वक कुप् धातु से 'अनीयर्' प्रत्यय करने पर प्रकोपनीय की स्थिति में प्रकृत सूत्र से णत्व होने पर प्रकोपणीयम् रूप बनता है तथा विकल्प पक्ष में णत्व नहीं होने पर प्रकोपनीयम् होता है।

सूत्र में 'हलः' कहा गया है। इसलिये हलादि धातु में ही इस सूत्र की प्रवृति होने से णत्व होता है। अतः प्र पूर्वक उह धातु से 'अनीयर्' होने पर धातु के अजादि होने के कारण इस सूत्र से विकल्प से णत्व नहीं होने के कारण 'कृत्यचः' २८३५ सूत्र से नित्य ही णत्व हो जाता है। अतः प्रोहणीहम् प्रयोग बनता है।

सूत्र में 'इजुपधात्' के ग्रहण के कारण प्र पूर्वक वप् धातु से अनीयर् प्रत्यय करने पर प्रवपनीय की स्थिति में धातु (वप्) के इजुपध न होने के कारण विकल्प से णत्व नहीं होता है बल्कि 'कृत्यचः' २८३५ सूत्र से नित्य ही णत्व होकर प्रवपणीयम् प्रयोग बनता है।

रूपसिद्धि :—

प्रकोपणीयम्—प्र उपसर्ग पूर्वक 'कुप् क्रोधे' धातु से 'अनीयर्' प्रत्यय करने पर 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' २१६८ सूत्र से गुण होने पर प्रकोपनीय की स्थिति में 'हलश्चेजुपधात्' २८३७ सूत्र से 'न' का 'ण' आदेश विकल्प से होने पर प्रकोपणीय शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा 'कृत्तद्धितसमासाश्च' १७९ सूत्र से होकर सु विभक्ति आती है और उसका अमादेश तथा पूर्वरूप होकर प्रकोपणीयम् पद बनता है।

'हलश्चेजुपधात्' से णत्व विकल्प से होता है। अतः पक्ष में णत्व नहीं होने पर प्रकोपनीयम् रूप होता है।

२८३८। **इजादेः सनुमः** ८।४।३२।

सनुमश्चेद् भवति तर्हि इजादेर्हलन्ताद्विहितो यः कृत्तस्यस्यैव। प्रेङ्खनीयम्। इजादेः किम्? 'मगि सर्पणे' प्रमङ्गनीयम्। नुम्ग्रहणमनुस्वारोपलक्षणार्थम्। 'अटकुप्वाङ्' (सू० १९७) इति सूत्रेऽप्येवम्। तेनेह न, प्रेन्वनम्। इह तु स्यादेव—प्रोम्भणम्।

नुम् सहित धातु में यदि णत्व हो तो इजादि एवम् हलन्त धातु से विहित कृत् प्रत्ययो में रहने वाले 'न' का ही णत्व होता है और दूसरे इजादि से भिन्न तथा हलन्त से भिन्न धात् से णत्व नहीं होता है। यथा—प्रेङ्खनीयम्।

यहाँ प्र पूर्वक इखि धातु से 'अनीयर' प्रत्यय आने पर अन्तिम इकार की इत्संज्ञ होने पर 'नुम्' का आगम एवं नुम् का अनुस्वार तथा परसवर्ण होने के बाद 'इजादेःसनुमः सूत्र से णत्व होने पर प्रेङ्खनीयम् प्रयोग बनता है।

सूत्र में इजादि धातु का निर्देश हैं। अतः 'मगि सर्पणे' धातु में 'इ' की इत्संज्ञा हो के कारण 'इदितो नुम् धातोः' २२६२ से नुम् का आगम तथा उसका अनुस्वार ए परसवर्ण के बाद 'अनीयर्' प्रत्यय के नकार का णकार नहीं होता है। अतः प्रमङ्गनीय रूप बनता है।

इस सूत्र में 'नुम्' का ग्रहण अनुस्वार का उपलक्षण है। उपलक्षण से तात्पर्य है– लक्षणा शक्ति से बोध। 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' १९७ सूत्र में भी 'नुम्' ग्रहण अनुस्वार ‹ उपलक्षण है। अतः प्र पूर्वक इवि धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय तथा उसके स्थान में 'अन' होने प धातु के इदित होने के कारण 'इदितो नुम् धातोः' २२६८ सूत्र से नुम् होने पर प्रेन्वन प्रयोग बना है।

यहाँ सन्देह होता है कि धातु (इव्) सनुम् (नुम् सहित) तथा इजादि ए हलन्त है। इसलिये णत्व होना चाहिये। उसी के उत्तर में कहा गया है कि यहाँ 'नु ग्रहण अनुस्वार का भी उपलक्षण है (लक्षणा से बोध्य है)। इसलिये ऐसा 'नुम्' जिस कहीं अनुस्वार भी होता हो, अपेक्षित है, किन्तु यहाँ अनुस्वार होता ही नहीं है। इसलि णत्व नहीं होता है।

प्रोम्भणम्—इस प्रयोग में प्र पूर्वक उम्भ धातु से ल्युट् तथा उसके स्थान में 'अ होने पर धातु के सनुम् (नुम् सहित) नहीं होने के कारण 'इजादेः सनुमः' २८३८ नियम सूत्र नहीं लगता है किन्तु 'कृत्यचः' २८३५ से नित्य ही णत्व होकर प्रोम्भ प्रयोग बनता है।

रूपसिद्धि :—

प्रेङ्खनीयम्—प्र पूर्वक इखि धातु से 'तव्यत्तव्यानीयरः' २८३४ सूत्र से 'अनी प्रत्यय होने पर इखि धातु के इदित् (इकार की जहाँ इत्संज्ञा होती है) होने के का 'इदितो नुम् धातोः' सूत्र से 'नुम्' का आगम तथा अनुस्वार होने के बाद 'अनुस्वारस्य परसवर्णः' सूत्र से उस (अनुस्वार) का परसवर्ण यहाँ (ङ्) होने पर गुण होने के प्रेङ्खनीय की स्थिति में 'इजादेः सनुमः' २८३८ सूत्र से 'न' का 'ण' होने पर प्रेङ्ख शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से होने पर सु विभक्ति में नपुंसकि होने के कारण 'अतोऽम्' १०९ से 'सु' का 'अम्' आदेश तथा पूर्वरूप होने पर प्रेङ्खर्ण पद बनता है।

२८३९। वा निंसनिक्षनिन्दाम् ८।४।३३।

एषां नस्य णो वा स्यात् कृति-परे। प्रणिंसितव्यम्-प्रनिंसितव्यम्।

कृत् प्रत्यय यदि पर में हो तो निंस, निक्ष तथा निन्द धातु के नकार का णकार विकल्प से होता है। इसका उदाहरण है—प्रणिंसितव्यम्—प्रनिंसितव्यम्। यहाँ प्र पूर्वक निंस धातु से तव्यत् प्रत्यय में प्रकृत सूत्र से 'न' का 'ण' विकल्प से होने पर प्रणिंसितव्यम् और विकल्प पक्ष में णत्व नहीं होने पर प्रनिंसितव्यम् पद बनता है।

इसी तरह निक्ष एवं निन्द धातु से तव्यत् प्रत्यय होने पर णत्व विधान विकल्प से होने पर प्रणिक्षितव्यम्—प्रनिक्षितव्यम् तथा प्रणिन्दितव्यम्—प्रनिन्दितव्यम् रूप बनते हैं।

रूपसिद्धि :—

प्रणिंसितव्यम्—प्र पूर्वक निंस् धातु से 'तव्यत्तव्यानीयरः' २८३४ सूत्र से तव्यत् प्रत्यय होने पर 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' सूत्र से 'इट्' का आगम होने पर प्रनिंसितव्य शब्द बनता है। यहाँ कृत् प्रत्यय (तव्यत्) धातु से पर में है। इसलिये 'वा निंसनिक्ष-निन्दाम्' सूत्र से 'न' को णत्व विधान होने पर प्रणिंसितव्यम् प्रयोग बनता है।

'वा निंसनिक्षनिन्दाम्' २८२९ सूत्र से णत्व विकल्प से होता है। अतः पक्ष में (णत्व नहीं होने पर) प्रनिंसितव्यम् प्रयोग सिद्ध होता है।

२८४०। न भा भू पूकमिगमिप्यायीवेपाम् ८।४।३४।

एभ्यः कृन्नस्य णो न। प्रभानीयम्। प्रभवनीयम्। पूञ् एवेह ग्रहणमिष्यते। (वा० ५०११)। पूङस्तु प्रपवणीयः सोमः। 'ण्यन्तभादीनामुपसंख्यानम्' (वा० ५०१२)। प्रभापनीयम्। 'ख्शाञः शस्य यो वा' (वा० १५८४) इत्युक्तम्। णत्वप्रकरणोपरि तद्बोध्यम्। यत्वस्यासिद्धत्वेन शकारव्यवधानान्न णत्वम्। प्रख्यानीयम्।

भा, भू, पू, कम्, गम्, प्यायी तथा वेप् धातुओं से पर में रहने पर कृत् के नकार का णकार नहीं होता है। इस प्रकार यह णत्व का निषेधक है। प्र पूर्वक भा धातु से 'अनीयर्' प्रत्यय होने पर 'कृत्यचः' २८३५ सूत्र से 'न' का 'ण' आदेश प्राप्त था जिसका निषेध प्रकृत सूत्र से होता है। अतः प्रभानीयम् रूप बनता है। इसी तरह प्र पूर्वक भू धातु से 'अनीयर्' प्रत्यय होने पर 'कृत्यचः' २८३५ से प्राप्त णत्व का इस सूत्र से निषेध होने पर प्रभवनीयम् प्रयोग सिद्ध होता है।

पू धातु से यहाँ क्र्यादि के 'पूञ् पवने' धातु का ही ग्रहण होता है, भ्वादि के 'पूङ् पवने' का नहीं। इसलिये प्र पूर्वक पूञ् धातु से 'अनीयर्' प्रत्यय होने पर इस सूत्र से णत्व का निषेध होने पर प्रपवनीयः प्रयोग बनता है, किन्तु प्र पूर्वक पूङ् धातु से अनीयर् प्रत्यय करने पर णत्व हो जाता है इसलिये प्रपवणीयः प्रयोग सिद्ध होता है।

भा आदि धातु यदि ण्यन्त हो तब भी उससे पर में रहने वाले कृत् के 'न' का भी 'ण' नहीं होता है—ऐसा कहना चाहिये। इसलिये प्र पूर्वक भा धातु से णिच् प्रत्यय होने पर

'पुक्' का आगम होने के बाद 'अनीयर्' प्रत्यय में उसके नकार के णत्व का निषेध हो जाता है इसलिये प्रभापनीयम् प्रयोग बनता है ।

वशात् धातु के 'श' के स्थान में विकल्प से 'य' हो जाता है । इसलिये प्र पूर्वक ख्या धातु से 'अनीयर्' प्रत्यय होने पर 'कृत्यचः' से णत्व होता, किन्तु यत्व असिद्ध हो जाता है । इसलिये बीच में 'श' मिलता है जो अट्, कवर्ग, पवर्ग तथा आङ् एवं नुम् से भिन्न 'श' के व्यवधान होने के कारण वहाँ णत्व नहीं होता है । अतः प्रख्यानीयम् प्रयोग होता है ।

२८४१ । कृत्यल्युटो बहुलम् ३।३।११३ ।

स्नात्यनेन स्नानीयं चूर्णम् । दीयतेऽस्मै दानीयो विप्रः ।

कृत्य प्रत्यय 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' सूत्र से भाव एवं कर्म में ही बताये गये हैं । उस प्रकरण का दूसरा सूत्र है--'कृत्यल्युटो बहुलम्' २८४१ इसका अर्थ है कि कृत्य प्रत्यय तथा ल्युट् प्रत्यय बहुल यानी बहुत अर्थों में होते हैं । इसका उदाहरण-स्नानीयम् तथा दानीयः है ।

यहाँ स्नाति अनेन इस विग्रह में करण अर्थ में अनीयर् प्रत्यय होने पर स्नानीयम् प्रयोग बनता है जिसका अर्थ है—स्नान का साधन चूर्ण । इसी तरह दीयतेऽस्मै इस विग्रह में सम्प्रदान अर्थ में दाधातु से 'अनीयर्' प्रत्यय होने पर दानीयः प्रयोग होता है । इसलिये जिसे दिया जाय उस ब्राह्मण का वह विशेषण बनता है—दानीयः विप्रः ।

रूपसिद्धि :—

दानीयः—दा धातु से 'कृत्यल्युटो बहुलम्' सूत्र के अनुसार दीयतेऽस्मै इस विग्रह में सम्प्रदान अर्थ में 'तव्यत्तव्यानीयरः' २८३४ सूत्र से 'अनीयर्' प्रत्यय होता है । 'र' की इत्संज्ञा तथा लोप होने पर दा+अनीय की स्थिति में 'अकः सवर्णे दीर्घः' ८५ सूत्र से दीर्घ (आ) होकर दानीय शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा 'कृत्तद्धितसमासाश्च' सूत्र से होने के बाद 'स्वौजसमौट्—' इत्यादि सूत्र से सु विभक्ति आती है पुंल्लिङ्ग रूप बनाने के लिये स् का रुत्व 'ससजुषो रुः' १६२ सूत्र से होने पर विसर्ग होकर दानीयः प्रयोग बनता है जो विप्रः (पुंल्लिङ्ग) का विशेषण है । दानीयः का अर्थ है जिसे दिया जाय ।

'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' २८३३ सूत्र से कृत्य (अनीयर्) प्रत्यय भाव एवं कर्म अर्थ में विहित है । इसलिये दा धातु से कर्म अर्थ में 'अनीयर्' प्रत्यय होने पर 'दानीयं द्रव्यम्' ऐसा प्रयोग भी होता है । इसका अर्थ है जो वस्तु दी जाये ।

स्नानीयम्—यह प्रयोग 'कृत्यल्युटो बहुलम्' सूत्र का उदाहरण है । 'कृत्यल्युटो बहुलम्' २८४१ इस सूत्र के अनुसार स्नाति अनेन इस विग्रह में करण अर्थ में 'तव्यत्तव्यानीयरः' २८३४ सूत्र से 'अनीयर्' प्रत्यय होता है । 'र' की इत्संज्ञा 'रि च' सूत्र से होने पर स्ना+अनीय की स्थिति में 'अकः सवर्णे दीर्घः' ८५ से दीर्घ (आ) होकर स्नानीय शब्द बनता है । उसकी 'कृत्तद्धितसमासाश्च' सूत्र से प्रातिपदिकसंज्ञा होने पर 'सु' विभक्ति आती है 'चूर्णम्' का विशेषण होने के कारण नपुंसकलिङ्ग में रूप बनाने के लिये 'अतोऽम्' ३०९ से सु का

अमादेश हो जाता है तथा पूर्वरूप होने पर 'स्नानीयम्' रूप सिद्ध होता है अतः स्नानीयं चूर्णम् वाक्य बनता है इसका अर्थ है स्नान का साधन भूत चूर्ण ।

भाव अर्थ में भी स्नाति इति इस विग्रह में 'तव्यत्तव्यानीयरः' २८३४ से अनीयर् प्रत्यय होने पर स्नानीयम् रूप बनता है। जैसे 'मया स्नानीयम्', इसका अर्थ है मुझे नहाना चाहिये।

२८४२। अचो यत् ३।१।९७।

अजन्ताद् धातोर्यत् स्यात्। चेयम्। जेयम्। अज्ग्रहणं शक्यमकर्तुम्। योगविभागोऽप्येवम्। तव्यदादिष्वेव यतोऽपि सुपठत्वात्।

अजन्त (स्वरान्त) धातुओं से यत् प्रत्यय होता है। यत् में 'त्' की इत्संज्ञा होने पर लोप हो जाता है। अतः 'य' बचता है। इसका उदाहरण है—चेयम्। जेयम्। यहाँ चि धातु से कर्म अर्थ में यत् प्रत्यय में चेयम् तथा जि धातु से यत् प्रत्यय होने पर जेयम् पद बनता है।

भट्टोजिदीक्षित का मत है कि इस सूत्र में अच् का ग्रहण नहीं भी कर सकते हैं। केवल 'यत्' इस रूप में सूत्र रहने पर भी 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ सूत्र के द्वारा हलन्त से ण्यत् प्रत्यय का विधान किया गया है। इसलिये उससे बचे अजन्त धातुओं से यत् प्रत्यय का विधान समझ लिया जाता। अलग से 'अच्' कहने की आवश्यकता नहीं थी।

इसी तरह 'तव्यत्तव्यानीयरः' २८३४ 'सूत्र में ही 'तव्यत्' आदि के समान 'यत्' पढ देने से भी काम चल जाता। अलग विभक्त कर सूत्र नहीं भी किया जा सकता है।

रूपसिद्धि :—

चेयम्—'चिञ् चयने' धातु से कर्म अर्थ में चि धातु के अजन्त होने के कारण 'अचो यत्' २८४२ सूत्र से यत् प्रत्यय होने पर 'त्' की इत्संज्ञा एवं लोप के बाद चि+य की स्थिति में 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' २१६८ सूत्र से गुण ('इ' का 'ए') होने पर चेय शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा 'कृत्तद्धितसमासाश्च' १७९ सूत्र से करने पर सु विभक्ति आती है। नपुंसकलिङ्ग में 'अतोऽम्' ३०९ सूत्र से 'सु' का 'अम्' आदेश होता है तथा पूर्वरूप होने पर चेयम् पद बनता है।

जेयम्—'जि जये' धातु से कर्म एवं भाव अर्थ में 'अचो यत्' २८४२ सूत्र से 'यत्' प्रत्यय होने पर 'त्' की इत्संज्ञा एवं लोप के बाद गुण होने पर जेय शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा होने पर उससे सु विभक्ति आती है। उसका अमादेश तथा पूर्वरूप करने पर जेयम् पद बनता है।

२८४३। ईद्यति ६।४।६५।

यति परे आत ईत् स्यात्। गुणः। देयम्। ग्लेयम्। 'तकिशसिचतियतिजनिभ्यो यद्वाच्यः' (वा० १९२२)। तक्यम्। शस्यम्। चत्यम्। यत्यम्। जन्यम्। जनेर्यद्विधिः

स्वरार्थः, ण्यतापि रूपसिद्धेः। न च वृद्धिप्रसङ्गः, जनिवध्योश्चेति निषेधात्। हनो वा यद्वधश्च वक्तव्यः (वा० १९२३)। वध्यः। पक्षे वक्ष्यमाणो ण्यत्, घात्यः।

'यत्' प्रत्यय के पर में रहने पर आकारान्त धातु के 'आ' के स्थान में 'ईत्' आदेश हो जाता है। उस 'ई' का गुण 'ए' हो जाता है। उदाहरण है—देयम्, ग्लेयम्। दा धातु से यत् प्रत्यय होने पर इस सूत्र से 'आ' का 'ई' आदेश होने पर गुण होने से देयम् प्रयोग बनता है। इसी प्रकार ग्लै धातु से 'यत्' प्रत्यय होने पर धातु के 'ऐ' का 'आ' आदेश 'आदेच उपदेशेऽशिति' २३७० सूत्र से होता है। 'ईद्यति' सूत्र से 'आ' का 'ईत्' होने पर गुण के बाद ग्लेयम् पद सिद्ध होता है।

तक्, शस्, चत्, यत् एवं जन् धातुओं से यत् प्रत्यय कहना चाहिये। इसके उदाहरण हैं—तक्यम्, शस्यम्, चत्यम्, यत्यम् तथा जन्यम्। यह वार्तिक 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ का अपवाद है। जन् धातु से ण्यत् प्रत्यय करने पर भी 'जन्यम्' इस रूप की सिद्धि हो जाती, किन्तु स्वर के लिये यत् प्रत्यय का विधान किया गया है। यह नहीं कहा जा सकता कि जन् धातु से ण्यत् प्रत्यय करने पर वृद्धि होने से 'जान्यम्' ऐसा प्रयोग होता क्योंकि 'जनिवध्योश्च' २५१२ सूत्र से जन् धातु में वृद्धि का निषेध होता है।

हन् धातु से विकल्प से यत् प्रत्यय होता है और हन् धातु के स्थान में 'वध्' आदेश होता है—ऐसा कहना चाहिये। इसका उदाहरण है—वध्यः। हन् धातु से 'हनो वा यद्वधश्च वक्तव्यः' इस वार्तिक से एक साथ 'यत्' एवं 'हन्' के स्थान में वध् आदेश होने पर वध्यः प्रयोग बनता है। इस वार्तिक से विकल्प से यत् का विधान होने के कारण 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ से ण्यत् प्रत्यय होने पर घात्यः रूप बनता है।

रूपसिद्धि :—

देयम्—'डुदाञ् दाने' धातु के अनुबन्ध लोप होने पर दा धातु से कर्म अर्थ में धातु के अजन्त होने के कारण 'अचोयत्' २८४२ से यत् प्रत्यय होता है। 'त्' की इत्संज्ञा एवं लोप होने पर 'दा य' की स्थिति में 'ईद्यति' २८४३ सूत्र से 'दा' के 'आ' के स्थान में 'ईत्' आदेश होने पर 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' २१६८ सूत्र से गुण (ए) होने के बाद देय शब्द की 'कृत्तद्धितसमासाश्च' १७९ सूत्र से प्रातिपदिकसंज्ञा होने पर सु विभक्ति में 'अतोऽम्' ३०९ से सु का 'अम्' आदेश तथा पूर्वरूप होने से देयम् पद बनता है।

ग्लेयम्—'ग्लै हर्षक्षये' धातु से कर्म अर्थ में, धातु के अजन्त होने के कारण, 'अचो यत्' २८४२ सूत्र से 'यत्' प्रत्यय होता है 'आदेच उपदेशेऽशिति' २३७० इस सूत्र से धातु के 'ऐ' का 'आ' आदेश होता है तथा 'ईद्यति' २८४३ सूत्र से 'आ' के स्थान में 'ईत्' आदेश होने पर 'त्' की इत्संज्ञा एवं लोप के बाद 'ग्ली य' की स्थिति में 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' २१६८ सूत्र से गुण होने पर ग्लेय शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा 'कृत्तद्धितसमासाश्च' १७९ से होकर 'सु' विभक्ति में 'सु' का अमादेश तथा पूर्वरूप होकर ग्लेयम् पद बनता है।

तक्यम्—'तक हसने' धातु से भाव अर्थ में तक् धातु के हलन्त होने से 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ सूत्र से ण्यत् की प्राप्ति थी। उसे बाधकर 'तकिशसि—' इत्यादि वार्तिक से 'यत्' प्रत्यय का विधान किया गया है 'त्' की इत्संज्ञा एवं लोप के बाद तक्य शब्द की प्रातिपदिक-संज्ञा करने पर सु विभक्ति में अमादेश तथा पूर्वरूप होकर तक्यम् पद बनता है।

शस्यम्—'शसु हिंसायाम्' इस सकर्मक धातु से 'तकिशसि—' आदि वार्तिक से यत् प्रत्यय करने पर प्रातिपदिकसंज्ञा होने पर सु विभक्ति में शस्यम् रूप होता है।

चत्यम्—'चते याचने' धातु से कर्म अर्थ में 'तकिशसियति' आदि वार्तिक से 'यत्' प्रत्यय करने पर प्रातिपदिकादिकार्य करने पर चत्यम् पद बनता है।

यत्यम्—'यति प्रयत्ने' धातु से भाव अर्थ में 'तकिशसिचतियतिजनिभ्यो यद्वाच्यः' इस वार्तिक से यत् प्रत्यय होने पर प्रातिपदिकादि कार्य के बाद यत्यम् रूप होता है।

जन्यम्—'जनी प्रादुर्भावे' धातु से भाव अर्थ में धातु के हलन्त होने से 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ सूत्र से प्राप्त 'ण्यत्' को बाध कर 'तकिशसि—' इत्यादि वार्तिक से यत् प्रत्यय होने पर प्रातिपदिकादि कार्य के अनन्तर जन्यम् प्रयोग होता है।

वध्यः—'हन् हिंसागत्योः' धातु से कर्म अर्थ में धातु के हलन्त होने के कारण 'ऋहलोर्ण्यत्' सूत्र से 'ण्यत्' की प्राप्ति थी किन्तु 'हनो वा यद्वधश्च वक्तव्यः' इस वार्तिक से 'ण्यत्' को बाधकर विकल्प से 'यत्' प्रत्यय का विधान किया जाता है तथा इसी वार्तिक से 'हन्' का (वध) आदेश भी हो जाता है। अतः वध्य शब्द बनता है उसकी प्रातिपदिकसंज्ञा 'कृत्तद्धितसमासाश्च' १७९ सूत्र से होने पर सु विभक्ति आती है उसका रुत्व एवं विसर्ग होने पर वध्यः पद बनता है।

चूंकि यह वार्तिक 'हनो वा यद्वधश्च वक्तव्यः' विकल्प से यत् का विधान करता है। इसलिये पक्ष में हन् धातु से 'ण्यत्' प्रत्यय 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ सूत्र से होता है। 'ण्यत्' के 'ण्' की इत्संज्ञा होने से णित् होने के कारण 'हनस्तोऽचिण्णलोः' २५०४ सूत्र से 'हन् के 'न' के स्थान में 'त्' आदेश होता है एवम् 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' ३५८ सूत्र से कुत्व ('ह' के स्थान में 'घ' आदेश होने पर 'अत उपधायाः' २२८२ सूत्र से उपधा (अ) की वृद्धि (आ) होने पर घात्य शब्द बनता है उसकी प्रातिपदिकसंज्ञा होने पर सु विभक्ति में स् का रुत्व एवं विसर्ग होने पर घात्यः प्रयोग सिद्ध होता है।

२८४४। पोरदुपधात् ३।१।९८।

पवर्गान्ताद् अदुपधात् यत् स्यात्। ण्यतोऽपवादः। शप्यम्। लभ्यम्। 'नानुबन्धकृतमसारूप्यम्' (प० ८)। अतो न ण्यत्। तव्यदादयस्तु स्युरेव।

पवर्गान्त (जिसके अन्त में प् फ् ब् भ् और म् हो) तथा अदुपधक (अकार जिसकी उपधा में हो) धातुओं से 'यत्' प्रत्यय होता है। यह सूत्र 'ऋहलोर्ण्यत्' का अपवाद है। पवर्गान्त शप् धातु से यत् प्रत्यय होने पर शप्यम् तथा लभ् धातु से 'यत्' होने पर लभ्यम् प्रयोग बनते हैं।

यद्यपि 'ण्यत्' प्रत्यय में 'ण्' अनुबन्ध है, किन्तु उसे लेकर 'यत्' एवं 'ण्यत्' प्रत्ययों में असारूप्य (असमान रूप) है। अतः 'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्' २८३० सूत्र के अनुसार 'यत्' प्रत्यय 'ण्यत्' को विकल्प से बाधेगा। इसलिये पक्ष में 'ण्यत्' भी होना चाहिये— ऐसी आशंका हो सकती है, किन्तु 'नानुबन्धकृतमसारूप्यम्' (अनुबन्ध के कारण दो में असारूप्य (असमानता) नहीं होती है) इस परिभाषा के अनुसार 'यत्' एवं 'ण्यत्' में असारूप्य नहीं माना जाता है। इसलिये 'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्' २८३० की प्रवृत्ति यहाँ नहीं होती है, जिससे अपवाद भूत 'यत्' नित्य ही ण्यत् का बाधक होता है। अतः पक्ष में 'ण्यत्' नहीं होता है। 'यत्' के साथ असारूप्य रखने वाले 'तव्यत्' 'अनीयर' आदि प्रत्यय तो पक्ष में होते ही हैं। अतः लभ धातु से 'तव्यत्' तथा 'अनीयर्' होने पर लब्धव्यम् और लभनीयम् आदि प्रयोग पक्ष में होते ही हैं।

रूपसिद्धि :—

शप्यम्—'शप आक्रोशे' धातु के हलन्त होने के कारण कर्म अर्थ में 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ सूत्र से 'ण्यत्' की प्राप्ति होती है, किन्तु 'पोरदुपधात्'—इस विशेष सूत्र के द्वारा सामान्य सूत्र 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ का बाध हो जाने पर 'पोरदुपधात्' २८४४ सूत्र से 'यत्' प्रत्यय होता है। 'त्' की इत्संज्ञा एवं लोप के बाद शप्य शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा 'कृत्तद्धितसमासाश्च' सूत्र से होती है और सु विभक्ति के आने पर नपुंसकलिङ्ग में 'अतोऽम्' ३०९ से 'सु' का अमादेश हो जाने से तथा पूर्वरूप होने पर शप्यम् पद बनता है।

लभ्यम्—'डुलभष् प्राप्तौ' धातु से कर्म अर्थ में इस धातु के हलन्त होने के कारण 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ सूत्र से 'ण्यत्' को प्राप्ति होती है किन्तु 'ऋहलोर्ण्यत्' यह उत्सर्ग सूत्र है। अतः अपवाद सूत्र 'पोरदुपधात्' से उस उत्सर्ग सूत्र का बाध हो जाता है तथा पवर्गान्त एवम् अदुपध (जिसकी उपधा में अ हो) लभ् धातु से 'यत्' प्रत्यय होता है। 'त्' की इत्संज्ञा एवं लोप के बाद लभ्य शब्द की 'कृत्तद्धितसमासाश्च' १७९ सूत्र से प्रातिपदिकसंज्ञा होने पर सु विभक्ति के आने से नपुंसकलिङ्ग में 'अतोऽम्' ३०९ से सु का अमादेश एवम् 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप होकर लभ्यम् रूप सिद्ध होता है।

२८४५। आङो यि ७।१।६५।

आङः परस्य लभेर्नुम् स्याद्यादौ प्रत्यये विवक्षिते। नुमि कृतेऽदुपधत्वाभावात् ण्यदेव। आलम्भ्यो गौः।

आङ् उपसर्ग से पर में रहने पर लभ् धातु से नुम् का आगम होता है यदि यकारादि (यकार जिसके आदि में हो) प्रत्यय विवक्षित (बोलने का इच्छित) हो। 'नुम्' होने पर आलम्भ शब्द की उपधा में 'अ' नहीं रहने के कारण 'पोरदुपधात्' २८४४ सूत्र से 'यत्' नहीं होता है। अतः 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ से 'ण्यत्' ही होता है। इसका उदाहरण है—आलम्भ्यो गौः।

यहाँ आङ् पूर्वक लभ् धातु से कर्म अर्थ में पोरदुपधात् सूत्र से 'यत्' की प्राप्ति होती है, किन्तु 'आङो यि' सूत्र से धातु के मध्य में 'नुम्' का आगमन होने से आलम्भ की स्थिति में अदुपध नहीं रहने से पोरदुपधात् से 'यत्' नहीं होकर ऋहलोर्ण्यत् से 'ण्यत्' होने पर आलम्भ्य शब्द से पुंलिङ्ग में आलम्भ्यः रूप बनता है।

रूपसिद्धि :—

आलम्भ्यो गौः—आङ् उपसर्ग पूर्वक लभ धातु से 'पोरदुपधात्' सूत्र से कर्म अर्थ में 'यत्' प्रत्यय की प्राप्ति होती है क्योंकि लभ् धातु के अन्त में पवर्ग (भ्) है तथा उपधा में 'अ' है किन्तु 'आङो यि' सूत्र से धातु के मध्य में 'नुम्' का आगमन होने पर अनुबन्ध लोप के बाद आलन् भ् की स्थिति में 'न्' का 'नश्चापदान्तस्य झलि' से अनुस्वार होकर 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' सूत्र से अनुस्वार का परसवर्ण 'म्' होने के बाद आलम्भ रूप बनने पर यहाँ अदुपध नहीं रहने के कारण 'पोरदुपधात्' २८४४ सूत्र से 'यत्' नहीं होता है, किन्तु धातु के हलन्त होने के कारण 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ सूत्र से 'ण्यत्' प्रत्यय होने पर अनुबन्ध लोप के बाद आलम्भ्य शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से होती है और सु विभक्ति आती है। यहाँ गो (पुंलिङ्ग) के विशेषण रूप में आलम्भ्य शब्द आया है। अतः स् का रुत्व 'ससजुषो रुः' १६२ सूत्र से होने पर 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' सूत्र से विसर्ग होने से आलम्भ्यः रूप बनता है तथा वाक्य में 'आलम्भ्यो गौः' प्रयोग होता है।

२८४६। उपात्प्रशंसायाम् ७।१।६६।

उपलम्भ्यः साधुः। स्तुतौ किम् ? उपलब्धुं शक्यः उपलभ्यः।

उप उपसर्ग पूर्व में रहने पर प्रशंसा अर्थ में लभ् धातु से 'नुम्' होता है यदि यकारादि (यकार जिसके आदि में हो) प्रत्यय विवक्षित हो। इसका उदाहरण है—उपलम्भ्यः साधुः। अर्थात् प्रशंसनीयः साधुः। यहाँ उपपूर्वक लभ् धातु से 'यत्' प्रत्यय के विवक्षित होने पर इस सूत्र से 'नुम्' होने पर बने उपलम्भ के अदुपध नहीं होने से यत् नहीं होकर 'ण्यत्' होता है जिससे प्रातिपदिकादि कार्य होने पर उपलम्भ्यः पद बनता है।

सूत्र में 'प्रशंसा' अर्थात् स्तुति का उल्लेख किया गया है। अतः प्रशंसा अर्थ न रहने पर उपलब्धुं शक्यः इस विग्रह में उप पूर्वक लभ् धातु से 'नुम्' का आगम 'उपात्प्रशंसायाम्' २८४६ से नहीं होने के कारण 'पोरदुपधात्' सूत्र से 'यत्' प्रत्यय होकर उपलभ्यः प्रयोग बनता है जिसका अर्थ है प्राप्त करने योग्य। सूत्र में 'प्रशंसायाम्' नहीं रहने पर यहाँ भी 'नुम्' हो जाता जो इष्ट नहीं है। अतः सूत्र में 'प्रशंसायाम्' पद दिया गया है।

रूपसिद्धि :—

उपलम्भ्यः—उपलब्धुं योग्यः इस विग्रह में प्रशंसनीय अर्थ में उपपूर्वक लभ् धातु से कर्म के अर्थ में 'यत्' प्रत्यय की विवक्षा रहने पर 'उपात्प्रशंसायाम्' २८४६ सूत्र से 'नुम्' का आगम होने पर अनुबन्ध लोप के बाद 'नश्चापदान्तस्य झलि' १२३ सूत्र से 'न्'

का अनुस्वार हो जाने पर 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' १२४ सूत्र से अनुस्वार का परसवर्ण (म्) हो जाता है। अतः उपलम्भ् बनने पर यहाँ अदुपध नहीं रहने के कारण 'पोरदुपधात्' सूत्र से 'यत्' प्रत्यय नहीं होकर 'उपलम्भ्' के हलन्त होने से 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ सूत्र से ण्यत् प्रत्यय हो जाता है। 'ण्' एवं 'त्' की इत्संज्ञा एवं लोप के बाद 'ण्यत्' प्रत्यय के णित् होने पर भी उपधा में 'अत्' नहीं रहने के कारण 'अत उपधायाः' २२८२ सूत्र से वृद्धि नहीं होती है अतः उपलम्भ्य शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा 'कृत्तद्धितसमासाश्च' १७९ सूत्र से होती है तथा 'सु' विभक्ति का आगमन होता है 'सु' का रुत्व एवं विसर्ग होने पर उपलम्भ्यः पद बनता है जो साधुः का विशेषण है। अतः उपलम्भ्यः साधुः— ऐसा प्रयोग होता है।

२८४७। शकिसहोश्च ३।१।९९।

शक्यम्। सह्यम्।

शक् एवं सह् धातु से यत् प्रत्यय होता है। यह सूत्र 'ऋहलोर्ण्यत्' का अपवाद है। शक् धातु से यत् प्रत्यय होने पर शक्यम् तथा सह् धातु से 'यत्' होने पर सह्यम् पद इसके उदाहरण हैं।

रूपसिद्धि :—

शक्यम्—शक् धातु के हलन्त होने के कारण भाव अर्थ में शक् धातु से 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ सूत्र से 'ण्यत्' की प्राप्ति होती है, किन्तु 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ का अपवाद सूत्र है— 'शकिसहोश्च'। अतः इसी सूत्र से शक् धातु से 'यत् प्रत्यय आता है। अतः शक्य शब्द बनता है जिसकी प्रातिपदिक संज्ञा 'कृत्तद्धितसमासाश्च' १७९ सूत्र से होने पर सु विभक्ति आती है भाव के नुपंसकलिङ्ग होने के कारण 'अतोऽम्' ३०९ सूत्र से 'सु' का 'अम्' आदेश हो जाता है तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप होने पर शक्यम् रूप सिद्ध होता है।

सह्यम्— सह् धातु से भाव अर्थ में धातु के हलन्त होने के कारण 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ सूत्र से 'ण्यत् की प्राप्ति थी किन्तु 'शकिसहोश्च' के अपवाद होने के कारण इस सूत्र से ऋहलोर्ण्यत् २८७२ का बाध हो जाता है। अतः सह् धातु से 'यत्' होने पर प्रातिपदिकादि कार्य के बाद सह्यम् पद बनता है।

२८४८। गदमदचरयमश्चानुपसर्गे ३।१।१००।

गद्यम्। मद्यम्। चर्यम्। 'चरेराङि चागुरौ' (वा० १९२५)। आचर्यो देशः, गन्तव्य इत्यर्थः। अगुरौ किम्? आचार्यो गुरुः। यमेर्नियमार्थम्, सोपसर्गान्मा भूत् इति। प्रयाम्यम्। निपूर्वात् स्यादेव, 'तेन तत्र न भवेद्विनियम्यम्' (वा० १९३०) इति वार्तिकप्रयोगात्। एतेन 'अनियम्यस्य नायुक्तिः' 'त्वया नियम्या ननु दिव्यचक्षुषा' इत्यादि व्याख्यातम्। नियमे साधुरिति वा।

उपसर्ग के उपपद में न रहने पर गद्, मद्, चर् एवं यम् धातुओं से 'यत्' प्रत्यय कर्म अर्थ में होता है। जैसे गद्+यत्=गद्यम्। मद्+यत्=मद्यम्, चर्+यत्=चर्यम्।

'आङ्' उपसर्ग पूर्व में रहने पर चर् धातु से यत् प्रत्यय होता है, किन्तु गुरु अर्थ रहने पर (यत्) नहीं होता है। अतः आङ् पूर्वक चर धातु से यत् प्रत्यय होकर आचर्यः पद बनता है जो देशः का विशेषण है। आचर्यः का अर्थ है—गन्तव्यः।

इस वार्तिक में 'अगुरौ' पद का प्रयोग होने के कारण आङ् पूर्वक चर धातु से कर्म अर्थ में 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ सूत्र से ण्यत् होने पर आचार्यः पद बनता है जो गुरु का विशेषण होता है। अतः 'आचार्यो गुरुः' प्रयोग होता है।

'पोरदुपधात्' सूत्र से ही यम् धातु से यत्प्रत्यय के सिद्ध हो जाने पर भी 'गदमदचरयमश्चानुपसर्गे' सूत्र में फिर 'यम्' का पाठ नियम के लिये किया गया है। इससे नियम किया जाता है कि सोपसर्ग (उपसर्ग सहित) यम् धातु से 'यत्' प्रत्यय नहीं होता है। इसलिये प्र पूर्वक यम् धातु से 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ सूत्र से ण्यत् होने पर प्रयाम्यम् प्रयोग होता है।

उपसर्ग रहने पर भी 'नि' पूर्वक यम् धातु से तो यत् होता ही है क्योंकि 'तेन तत्र न भवेद्विनियम्यम्' इस वार्तिक में 'विनियम्यम् पद' 'वि एवं नि' पूर्वक यम् धातु से 'यत्' प्रत्यय करके प्रयुक्त है। नि पूर्वक यम् धातु से उस वार्तिक निर्देश के आधार पर 'यत्' प्रत्यय मानने पर ही 'अनियम्यस्य नायुक्तिः' एवं 'त्वया नियम्या ननु दिव्यचक्षुषा' आदि कालिदास प्रभृति कवियों के प्रयोगों का भी साधुत्व सिद्ध किया जा सकता है। अथवा 'नियमे साधुः' इस विग्रह में तद्धित के 'तत्र साधुः' सूत्र से नियम शब्द से 'नियमे साधुः' इस अर्थ में नियम्यः प्रयोग बनता है जिसका अर्थ है—नियम के आचरण में साधु है।

रूपसिद्धि :—

गद्यम्—गद् धातु हलन्त है। इसलिये कर्म अर्थ में 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ सूत्र से 'ण्यत्' प्रत्ययप्राप्त होता है किन्तु 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ का अपवाद सूत्र है—'गदमदचरयमश्चानुपसर्गे'। २८४४ अतः इस अपवाद सूत्र से गद् धातु से यत् प्रत्यय होने पर 'त्' की इत्संज्ञा एवं लोप के बाद गद्य शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा 'कृत्तद्धितसमासाश्च' सूत्र से होने पर सु विभक्ति आती है जिसका अमादेश एवं पूर्वरूप होने पर गद्यम् प्रयोग होता है।

मद् धातु से यत् होने पर मद्यम् प्रयोग होता है।

चर धातु से 'यत्' होने पर चर्यम् रूप बनता है।

आचार्यः—आचरितुं योग्यः इति आचर्यः देशः अर्थात् गन्तव्यः। आचरितुं योग्यः इस विग्रह में आङ् उपसर्ग पूर्वक चर धातु के रहने से 'गदमदचरयमश्चानुपसर्गे' सूत्र से यत् की प्राप्ति नहीं होने की स्थिति में 'चरेराङि चागुरौ' इस वार्तिक से गुरु अर्थ नहीं रहने पर आङ् पूर्वक चर् धातु से यत् प्रत्यय होता है। अतः आचर्यः पद बनता है जिसका अर्थ होता है विचरण करने योग्य देश।

गुरु अर्थ रहने पर आङ् पूर्वक चर् धातु से यत् का निषेध होने पर इस धातु के हलन्त होने के कारण 'ऋहलोर्ण्यत्' सूत्र से 'ण्यत्' प्रत्यय होता है अनुबन्ध लोप के बाद

'आ चर् य' की स्थिति में 'ण्यत्' प्रत्यय के णित् होने के कारण 'अत उपधायाः' २२८२ सूत्र से धातु के 'अ' को वृद्धि ('आ') होने पर आचार्य शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा 'कृत्तद्धित-समासाश्च' १७९ सूत्र से होती है। सु विभक्ति के आने पर उसका रुत्व एवं विसर्ग होने पर आचार्यः पद बनता है। जो गुरु का विशेषण है। अतः 'आचार्यो गुरुः' प्रयोग होता है।

२८४९। अवद्यपण्यवर्या गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु ३।१।१०१।

बदेर्नञ्युपपदे 'वदः सुपि—' (सू० २८५४) इति यत्क्यपोः प्राप्तयोर्यदेव, सोऽपि गर्हायामेवेत्युभयार्थं निपातनम्। अवद्यं पापम्। गर्ह्ये किम्? अनुद्यं गुरुनाम। तद्धि न गर्ह्यं वचनानर्हं च।

आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च।
श्रेयस्कामो न गृह्णीयाज्ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः॥

इति स्मृतेः। पण्या गौः, व्यवहर्तव्येत्यर्थः। पाण्यमन्यत्। स्तुत्यर्हमित्यर्थः। अनिरोधोऽप्रतिबन्धस्तस्मिन् विषये वृङो यत्। शतेन वर्या कन्या। वृत्यान्या।

गर्ह्य (निन्दनीय) अर्थ में अवद्य, पणितव्य (व्यवहरणीय) अर्थ में पण्य तथा अनिरोध (रुकावट नहीं) अर्थ में वर्या—ये प्रयोग यत् प्रत्यय आदि कार्यों के निपातन से सिद्ध होते हैं। 'नञ्' उपपद वद धातु से 'वदः सुपि क्यप् च' सूत्र से 'यत्' एवं 'क्यप्' प्रत्यय प्राप्त थे किन्तु उनमें 'यत्' प्रत्यय ही होता है वह भी गर्हा (निन्दा) अर्थ में ही। इस तरह इन दोनों कार्यों के लिये वद धातु से अवद्यम् यह निपातन होता है। इसका उदाहरण है—

'अवद्यम् पापम्' अर्थात् पाप बोलने योग्य नहीं है क्योंकि वह (पाप) गर्ह्य अर्थात् निन्दनीय है। जो गर्ह्य नहीं है एवं कहने योग्य भी नहीं है वहाँ नञ् पूर्वक वद् धातु से क्यप् ही होता है। अतः सम्प्रसारण आदि के बाद अनुद्यम् पद बनता है तथा 'अनुद्यं गुरुनाम' यह प्रयोग होता है। गुरु का नाम गर्ह्य (निन्द्य) नहीं है, किन्तु न बोलने के योग्य है। स्मृति में गुरु के नाम लेने का निषेध करते हुए कहा है—अपना नाम, गुरु का नाम, अतिकृपण का नाम एवं ज्येष्ठ सन्तान तथा पत्नी के नाम का उच्चारण कल्याण चाहने वाला व्यक्ति न करे।

पण धातु व्यवहार एवं स्तुति अर्थ में है। व्यवहर्तव्य अर्थ में पण् धातु से 'यत्' प्रत्यय का निपातन प्रकृत सूत्र से होने पर स्त्रीलिङ्ग में पण्या पद बनता है एवं 'पण्या गौः' वाक्य होता है। स्तुति अर्थ में पण धातु से 'ण्यत्' होने पर पाण्यम् पद बनता है जिसका अर्थ होता है—स्तुति के योग्य।

निरोध का अर्थ है—प्रतिबन्ध। उसके विपरीत अनिरोध का अर्थ है—अप्रतिबन्ध यानि, बिना रुकावट का। इस अर्थ में वृङ् धातु से 'यत्' प्रत्यय का निपातन प्रकृत सूत्र से होने पर वर्य शब्द से स्त्रीलिङ्ग में वर्या पद बनता है। अतः शतेन वर्या कन्या प्रयोग होता है।

इसका अर्थ है--सौ रुपये में बिना प्रतिबन्ध के ग्रहण की जाने वाली कन्या। प्रतिबन्ध अर्थ रहने पर तो क्यप् प्रत्यय होने से वृत्या प्रयोग होगा। जो कन्या रूप, गुण आदि के प्रतिबन्ध के साथ ग्रहण के योग्य हो।

रूपसिद्धि :--

अवद्यम्--वद् धातु से कर्म अर्थ में 'वदः सुपि क्यप् च' २८५४ सूत्र से 'क्यप्' एवं 'यत्' प्रत्यय की प्राप्ति होती है जिसे बाधकर निन्दा अर्थ में 'अवद्यपण्यवर्या गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु' २८४९ सूत्र से नञ् पूर्वक वद् धातु से 'यत्' का निपातन होता है साथ ही गर्हा (निन्दा) अर्थ में ही होता है--यह भी निपातन होता है अतः नञ् उपपद वद धातु से 'अवद्यपण्यवर्या गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु' २८४९ सूत्र से गर्हा अर्थ में 'यत्' का निपातन होने से अनुबन्धलोप के बाद 'नलोपो नञः' सूत्र से 'नञ्' के 'न्' का लोप होने पर अवद्य शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा 'कृत्तद्धितसमासाश्च' सूत्र से होने पर सु विभक्ति के आने पर नपुंसकलिङ्ग में 'सु' का अम् आदेश एवं पूर्वरूप होने पर अवद्यम् पद बनता है अतः अवद्यं पापम्---ऐसा वाक्य प्रयोग होता है।

अनुद्यम्--नञ् पूर्वक वद् धातु से कर्म अर्थ में गर्हा (निन्दा) अर्थ रहने पर अवद्यपण्यवर्या गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु' २८४९ सूत्र से 'यत्' निपातन करने पर 'अवद्यम्' प्रयोग बनता है, किन्तु जहाँ निन्दा अर्थ नहीं है वहाँ नञ् उपपद वद् धातु से 'वदः सुपि क्यप् च' २८५४ सूत्र से क्यप् प्रत्यय होता है। अनुबन्ध लोप के बाद न वद् य की स्थिति में 'क्यप्' प्रत्यय के कित् होने के कारण 'वचिस्वपियजादीनां किति' २४०९ सूत्र से 'व' का 'उ' सम्प्रसारण हो जाता है तथा 'नलोपो नञः' ७५८ सूत्र से 'न' के 'न्' का लोप होने पर 'अ उ द् य' की स्थिति में 'तस्मान्नुडचि' ६५९ सूत्र से 'नुट्' का आगम होने पर अनुबन्ध लोप के बाद अनुद्य शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा होने पर सु विभक्ति में सु का अमादेश नपुंसक लिङ्ग में होने से पूर्वरूप के बाद अनुद्यम् प्रयोग होता है। अतः 'अनुद्यं गुरुनाम' यह वाक्य होता है। गुरु का नाम गर्ह्य नहीं है, किन्तु न बोलने योग्य है। स्मृति में भी 'आत्मनाम गुरोर्नाम' आदि वचन के द्वारा गुरु के नाम लेने का निषेध किया गया है।

पण्या—पण् धातु से कर्म अर्थ में धातु के हलन्त होने के कारण 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ सूत्र से 'ण्यत्' प्रत्यय की प्राप्ति होने पर 'अवद्यपण्यवर्या गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु' २८४९ सूत्र से पण् धातु से व्यवहार अर्थ में 'यत्' का निपातन होने पर 'त्' की इत्संज्ञा एवं लोप के बाद बने पण्य शब्द से स्त्रीलिङ्ग में टाप् (आ) प्रत्यय होने पर दीर्घ के बाद पण्या शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा होने पर सु विभक्ति आती है तथा 'हल्ङ्याब्भ्यो—' २५२ आदि सूत्र से सु का लोप होने पर पण्या पद बनता है। अतः पण्या गौः वाक्य बनता है जिसका अर्थ होता है—व्यवहार करने योग्य गाय।

जहाँ पण् धातु का अर्थ स्तुति करना हो वहाँ 'ऋहलोर्ण्यत्' से ण्यत् प्रत्यय करने पर पाण्यम् प्रयोग बनता है। उसका अर्थ है--स्तुति के योग्य।

वर्या—वृङ् धातु से कर्म अर्थ में धातु के हलन्त होने के कारण 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ सूत्र से ण्यत् की प्राप्ति होने पर 'अवद्यपण्यवर्या गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु' २८४९ सूत्र से वृङ् धातु के अप्रतिबन्ध (बिना रुकावट के) रूप में ग्रहण अर्थ में 'यत्' प्रत्यय का निपातन होता है। इससे बने वर्य शब्द से स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' करके प्रातिपदिकसंज्ञा एवं सु विभक्ति करने पर उसके (सु के) लोप के बाद वर्या पद बनता है। अतः 'शतेन वर्या कन्या'—यह प्रयोग देखा जाता है। इसका अर्थ है सौ रुपये से वरण करने योग्य कन्या अर्थात् जिसे कोई व्यक्ति सौ रुपये देकर बेरोक टोक ग्रहण कर सके। उसमें कोई प्रतिबन्ध नहीं।

दूसरी ओर अप्रतिबन्ध अर्थ नहीं रहने पर तो वृङ्धातु से 'एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्' २८५७ सूत्र से 'क्यप्' प्रत्यय होने पर 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' २८५८ सूत्र से तुक् (त्) प्रत्यय आने पर वृत्या प्रयोग होता है जिसका अर्थ है रूप, योग्यता आदि प्रतिबन्ध के साथ वरण करने योग्य। पुंल्लिङ्ग में भी 'वार्या ऋत्विजः' तथा 'सुग्रीवो मम वर्योऽसौ'—ऐसा भट्टि-प्रयोग पाया जाता है।

२८५०। वह्यं करणम् ३।१।१०२।

वहन्त्यनेनेति वह्यं शकटम् (करणं) किम् ? वाह्यम्, वोढव्यम्।

वह् धातु (वहन करना) से करण अर्थ में 'यत्' प्रत्यय का निपातन होने से वह्यम् प्रयोग बनता है। वहन्ति अनेन इस विग्रह में करण अर्थ में वह् धातु से 'यत्' का निपातन प्रकृत सूत्र से होने पर वह्यम् पद बनता है। यह सूत्र 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ का अपवाद है।

सूत्र में 'करणम्' इस प्रयोग का फल है कि कर्म आदि के अर्थ में 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ से 'ण्यत्' प्रत्यय होने पर वृद्धि होने से वाह्यम् प्रयोग बनता है जिसका अर्थ है—ढोने योग्य। वह धातु से 'तव्यत्' होने पर वोढव्यम् पद बनता है।

रूपसिद्धि :—

वह्यम्—वह प्रापणे धातु से वहन्त्यनेन इस विग्रह में करण अर्थ में 'वह्यं करणम्' सूत्र से 'यत्' प्रत्यय का निपातन किया जाता है। अतः वह्य शब्द बनता है। उसकी प्रातिपदिकसंज्ञा 'कृत्तद्धितसमासाश्च' १७९ सूत्र से होने पर सु विभक्ति में नपुंसकलिङ्ग में 'अतोऽम्' ३०९ सूत्र से 'सु' का 'अम्' आदेश तथा 'अमि पूर्वः' १९४ से पूर्वरूप होने पर वह्यम् पद बनता है जो शकटम् आदि का विशेषण है। अतः वह्यं शकटम्—प्रयोग दीक्षितजी ने किया है।

वह् धातु हलन्त है। अतः 'ऋहलोर्ण्यत्' से यहाँ 'ण्यत्' की प्राप्ति थी जिसे बाध कर 'वह्यं करणम्' २८५० सूत्र से 'यत्' प्रत्यय किया गया है क्योंकि इसका विग्रह करते हैं—वहन्त्यनेनेति वह्यम्। अर्थात् सवारी या साधन जिससे ढोया जाये।

दूसरी ओर करण से भिन्न—कर्म अर्थ रहने पर तो 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ से ण्यत् करने पर णित् होने के कारण 'अत उपधायाः' २२८२ से वृद्धि होकर वाह्यम् प्रयोग बनता है जिसका अर्थ होता है—ढोने योग्य वस्तु।

२८५१ । अर्यः स्वामिवैश्ययोः ३।१।१०३ ।

'ऋ गतौ' अस्माद्यत् । ण्यतोऽपवादः । अर्यः स्वामी वैश्यो वा । (अनयोः) किम् ? आर्यो ब्राह्मणः, प्राप्तव्य इत्यर्थः ।

स्वामी एवं वैश्य अर्थ में 'ऋ गतौ' धातु से 'यत्' प्रत्यय का निपातन कर अर्यः प्रयोग बनता है । यह सूत्र 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ का अपवाद है । इसका उदाहरण है—अर्यः । गत्यर्थक ऋ धातु से स्वामी एवं वैश्य अर्थ में यत् प्रत्यय प्रकृत सूत्र से होने पर अर्यः प्रयोग बनता है जिसका अर्थ है—प्राप्त करने योग्य स्वामी या वैश्य ।

इस (स्वामी या वैश्य) से भिन्न अर्थ में तो ऋ धातु से 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ सूत्र से ण्यत्प्रत्यय होने पर आर्यः प्रयोग होता है । वह आर्य 'प्राप्तव्य' ब्राह्मण आदि का विशेषण माना जाता है ।

रूपसिद्धि :—

अर्यः—'ऋ गतौ' धातु से कर्म अर्थ में, धातु के ऋकारान्त होने के कारण, 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ सूत्र से 'ण्यत्' की प्राप्ति होती है, किन्तु प्राप्त करने योग्य व्यक्ति स्वामी या वैश्य है, अतः 'अर्यः स्वामिवैश्ययोः' सूत्र से 'यत्' ही होता है । 'त्' की इत्संज्ञा एवं लोप के बाद 'ऋ य' की स्थिति में 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' २१६८ सूत्र से गुण एवं रपरत्व होने पर अर्य शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा करके सु विभक्ति में स् का रुत्व एवं विसर्ग होने पर अर्यः प्रयोग बनता है ।

जहाँ प्राप्तव्य व्यक्ति स्वामी या वैश्य से भिन्न हो वहाँ ऋ धातु से 'ण्यत्' प्रत्यय 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ से करने पर णित् के कारण 'अचोञ्णिति' २५४ से वृद्धि एवं रपरत्व होकर आर्य शब्द से प्रातिपदिकसंज्ञा एवं सु विभक्ति में रुत्व तथा विसर्ग करने पर आर्यः प्रयोग बनता है । वह आर्य (प्राप्तव्य) ब्राह्मण आदि का विशेषण बनता है ।

२८५२ । उपसर्या काल्या प्रजने ३।१।१०४ ।

गर्भग्रहणे प्राप्तकाला चेदित्यर्थः । उपसर्या गौः । गर्भाधानार्थं वृषभेणोपगन्तुं योग्येत्यर्थः । प्रजने काल्या इति किम् ? उपसार्या काशी । प्राप्तव्येत्यर्थः ।

गर्भ ग्रहण के प्राप्त काल में जाने के योग्य अर्थ में उप पूर्वक सृ धातु से यत् प्रत्यय का निपातन इस सूत्र से करने पर उपसर्या प्रयोग बनता है । इस सूत्र का उदाहरण है—उपसर्या गौः । अर्थात् गर्भाधान के लिये वृषभ के पास जाने योग्य गाय ।

सूत्र में 'काल्या' पढा गया है । इसलिये दूसरे सन्दर्भ में प्राप्तव्य अर्थ रहने पर तो उप पूर्वक सृ धातु से 'ण्यत्' प्रत्यय 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ सूत्र से होने पर स्त्रीलिङ्ग में उपसार्या प्रयोग बनता है जो प्राप्त करने योग्य काशी, मथुरा आदि का विशेषण है ।

रूपसिद्धि :—

उपसर्या—उपपूर्वक 'सृ गतौ' धातु से कर्म अर्थ में, धातु के ऋकारान्त होने से, 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ सूत्र से ण्यत् की प्राप्ति होती है; किन्तु यहाँ गर्भ ग्रहण के प्राप्त काल में

जाने योग्य—इस अर्थ की प्रतीति होने पर 'उपसर्या काल्या प्रजने' सूत्र से 'यत्' प्रत्यय का निपातन होता है। 'त्' की इत्संज्ञा एवं लोप के बाद 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' २१६८ से गुण तथा रपरत्व होने पर उपसर्य शब्द से स्त्रीलिङ्ग में टाप् होकर प्रातिपदिकादि कार्य होने पर उपसर्या पद सिद्ध होता है। यह गौः का विशेषण है अतः 'उपसर्या गौः' वाक्य होता है।

गर्भ ग्रहण का प्राप्त काल विवक्षित नहीं होने पर उपपूर्वक सृज धातु से 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ सूत्र से ण्यत् करने पर णित् के कारण 'अचोञ्णिति' २५४ से वृद्धि एवं रपरत्व के बाद प्रातिपदिकादि कार्य होने पर उपसार्या पद बनता है। अतः 'उपसार्या काशी' वाक्य होता है।

२८५३। अजर्यं सङ्गतम् ३।१।१०५।

नञ्पूर्वाज्जीर्यतेः कर्तरि यत् सङ्गतं चेद्विशेष्यम्, न जीर्यतीति अजर्यम्।

'तेन सङ्गतमार्येण रामाजर्यं कुरु द्रुतम्।' इति भट्टिः।

मृगैरजर्यं जरसोपदिष्टमदेहबन्धाय पुनर्बबन्ध॥

इत्यत्र तु 'सङ्गतम्' इति विशेष्यमध्याहार्यम्। 'सङ्गतम्' किम्? अजरिता कम्बलः। भावे तु सङ्गकर्तृकेऽपि ण्यदेव, अजार्यं सङ्गतेन।

नञ् पूर्वक जॄ धातु से कर्ता अर्थ में यत् प्रत्यय का निपातन होता है यदि उसका विशेष्य सङ्गत (साथ) हो। न जीर्यति इस विग्रह में नञ् पूर्वक जॄ धातु से कर्ता अर्थ में यत् प्रत्यय का निपातन होने पर गुण के बाद अजर्यम् प्रयोग बनता है। भट्टिकाव्य में प्रयोग आया है—

तेन सङ्गतमार्येण रामाजर्यं कुरु द्रुतम्। यहाँ हनुमान् का कथन है कि हे राम, उस आर्य (सुग्रीव) के साथ शीघ्र अविनश्वर सङ्गत कीजिये जो कभी नष्ट न हो। वहाँ 'सङ्गतम्' साक्षात् विशेष्य है। दूसरे कालिदास के वाक्य—'मृगैरजर्यम्' का अर्थ है कि फिर देह का बन्धन न हो। अर्थात् देह धारण न करना पड़े। इसलिये बुढ़ापा से उपदिष्ट (उपदेश दिये) मृगों के साथ अजर्य (अविनश्वर) सङ्गत (साथ) को उसने बाँधा। इस पद्य में सङ्गत विशेष्य नहीं पढ़ा गया है, किन्तु उसका अध्याहार करना चाहिये।

सूत्र में 'सङ्गतम्' पढ़ा गया है। इसलिये दूसरे विशेष्य के रहने पर तो जॄ धातु से तृच् प्रत्यय होने पर नञ् समास कर अजरिता प्रयोग बनता है। कम्बल आदि उसके विशेष्य होते हैं।

भाव में तो सङ्गत कर्तृक रहने पर भी जॄ धातु से 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ सूत्र से ण्यत् प्रत्यय ही होता है। अतः वृद्धि होने पर नञ् समास में 'अजार्यं सङ्गतेन' प्रयोग बनता है। यहाँ भाव में प्रत्यय होने से कर्ता सङ्गत में तृतीया विभक्ति हुई है।

रूपसिद्धि :—

अजर्यम्—न जीर्यति इस विग्रह में कर्ता अर्थ में सङ्गत (साथ) के विशेषण होने के कारण 'अजर्यं सङ्गतम्' सूत्र से 'यत्' प्रत्यय का निपातन होता है। 'त्' की इत्संज्ञा एवं लोप के बाद नञ् जॄ य की स्थिति में 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' २१६८ सूत्र से गुण एवं

रपरत्व होने पर नञ् समास करने से 'नलोपो नञः' ७५८ सूत्र से 'न्' के लोप के बाद अजर्य शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा होकर सु विभक्ति आती है । 'सङ्गतम्' का विशेषण होने के कारण अजर्य शब्द के नपुंसक होने से उससे आये सु का 'अतोऽम्' ३०९ से अमादेश तथा पूर्वरूप होने पर अजर्यम् पद बनने पर 'अजर्यं सङ्गतम्'—वाक्य होता है । इसका अर्थ होता है—नहीं नष्ट होने वाला कम्बल ।

भाव अर्थ में जॄ धातु के ॠकारान्त होने से 'ऋहलोर्ण्यत्' से ण्यत् प्रत्यय होने पर णित् होने के कारण वृद्धि एवं रपरत्व होने पर नञ् समास में अजार्य पद बनता है । इसके कर्ता में तृतीया होने से अजार्यं सङ्गतेन वाक्य होता है ।

२८५४ । वदः सुपि क्यप् च ३।१।१०६ ।

उत्तरसूत्रादिह 'भावे' इत्यपकृष्यते । वदे र्भावे क्यप् स्यात्, चाद्यदनुपसर्गे सुप्युपपदे । ब्रह्मोद्यम्-ब्रह्मवद्यम् । ब्रह्म वेदः तस्य वदनमित्यर्थः । कर्मणि प्रत्ययावित्येके । उपसर्गे तु ण्यदेव । अनुवाद्यम् । अपवाद्यम् ।

'वदः सुपि क्यप् च'—इस सूत्र में आगे के सूत्र 'भुवो भावे' २८५५ से 'भावे' का अपकर्षण किया जाता है । अतः सूत्र का अर्थ होता है कि वद् धातु से भाव अर्थ में 'क्यप्' प्रत्यय होता है । एवं सूत्र में 'च' पढ़े जाने के कारण 'यत्' प्रत्यय भी होता है यदि उपसर्ग से भिन्न सुप् उपपद रहे । इसका उदाहरण है—ब्रह्मोद्यम्-ब्रह्मवद्यम् ।

ब्रह्म का अर्थ वेद होता है । कुछ लोग कहते हैं कि कर्म अर्थ में ये—क्यप् एवं यत् प्रत्यय होते हैं । उपसर्ग उपपद रहने पर तो 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ से ण्यत् प्रत्यय ही होता है । अनु उपपद वद् धातु से ण्यत् होने पर अनुवाद्यम् प्रयोग होता है । इसी तरह अप उपपद वद धातु से ण्यत् प्रत्यय होने पर अपवाद्यम् प्रयोग होता है ।

रूपसिद्धि :—

ब्रह्मोद्यम्—ब्रह्मणः वदनम् इस विग्रह में ब्रह्म उपपद वद धातु से 'वदः सुपि क्यप् च' २८५४ सूत्र से क्यप् प्रत्यय होता है । इसमें 'क्' एवं 'प्' की इत्संज्ञा तथा लोप होने पर—कित् होने से 'वचिस्वपि यजादीनां किति' २४०९ सूत्र से 'व' का सम्प्रसारण 'उ' होने से ब्रह्म उद्य की स्थिति में 'आद्गुणः' सूत्र से गुण होने पर ब्रह्मोद्य शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा होने पर सु विभक्ति में सु का अमादेश होने पर ब्रह्मोद्यम् प्रयोग बनता है ।

पक्ष में ब्रह्म पूर्वक वद् धातु से 'वदः सुपि क्यप् च' २८५४ सूत्र से ही यत् प्रत्यय होने पर ब्रह्मवद्य शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा कर 'सु' विभक्ति में सु का अमादेश होने पर ब्रह्मवद्यम् प्रयोग बनता है ।

अनुवाद्यम्—अनु पूर्वक वद् धातु से धातु के हलन्त तथा उपसर्गपूर्वक होने से 'ऋहलोर्ण्यत्' सूत्र से 'ण्यत्' होने पर 'अत उपधायाः' २२८२ से वृद्धि होने पर प्रातिपदिकादि कार्य के बाद अनुवाद्यम् प्रयोग होता है ।

अपवाद्यम् अप पूर्वक वद् धातु से 'ऋहलोर्ण्यत्' २२७२ सूत्र से 'ण्यत्' होने पर वृद्धि के बाद प्रातिपदिकादि कार्य होने पर अपवाद्यम् प्रयोग होता है ।

२८५५ । भुवो भावे ३।१।१०७ ।

क्यप् स्यात् । ब्रह्मणो भावो ब्रह्मभूयम् । 'सुपि' इत्येव, भव्यम् । अनुपसर्गे इत्येव, प्रभव्यम् ।

उपसर्ग से भिन्न 'सुप्' उपपद रहने पर भू धातु से भाव अर्थ में क्यप् प्रत्यय होता है । ब्रह्मणो भावः इस विग्रह में ब्रह्म उपपद भू धातु से क्यप् प्रत्यय होकर ब्रह्मभूयम् प्रयोग बनता है जो इस सूत्र का उदाहरण है । सुप् उपपद रहने पर ही इस सूत्र से क्यप् होता है । इसलिये केवल भू धातु से तो 'अचो यत्' २८४२ सूत्र से 'यत्' होने पर भव्यम् प्रयोग होता है ।

उपसर्ग से भिन्न सुप उपपद रहने पर ही इस सूत्र से क्यप् होता है—यह कहा गया है । इसलिये प्र पूर्वक भू धातु से 'अचो यत्' २८४२ से 'यत्' प्रत्यय होने पर प्रभव्यम् पद बनता है । यहाँ उपसर्ग की स्थिति होने से क्यप् नहीं होता है ।

रूपसिद्धि :—

ब्रह्मभूयम्—ब्रह्मणः भावः इस विग्रह में 'सुप्' अर्थात् ब्रह्म उपपद भू धातु से क्यप् प्रत्यय का निपातन 'भुवो भावे' सूत्र से होता है अनुबन्धलोप के बाद ब्रह्म भूय की स्थिति में 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' २१६८ सूत्र से गुण की प्राप्ति होती है किन्तु 'क्यप्' में कित् होने के कारण 'क्ङिति च' सूत्र से गुण का निषेध होने पर ब्रह्मभूय शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा होने पर सु विभक्ति में अमादेश तथा पूर्वरूप के बाद ब्रह्मभूयम् पद बनता है ।

भव्यम्—भू धातु से भाव अर्थ में धातु के अजन्त होने के कारण 'अचो यत्' २८४२ से 'यत्' प्रत्यय होने पर 'त्' की इत्संज्ञा तथा लोप के बाद भू य की स्थिति में 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः; सूत्र से गुण (उ का ओ) होने पर 'वान्तो यि प्रत्यये' ६८ सूत्र से 'ओ' का 'अव्' आदेश होने पर भव्य शब्द से प्रातिपदिकसंज्ञा के बाद सु विभक्ति में सु का अमादेश तथा पूर्वरूप होने पर भव्यम् पद बनता है ।

यहाँ 'सुप्' उपपद में नहीं रहने के कारण भू धातु से 'भुवो भावे' २८५५ से 'क्यप्' का निपातन नहीं होता है । 'क्यप्' होने पर भूयम् प्रयोग बनता ।

२८५६ । हनस्त च ३।१।१०८ ।

अनुपसर्गे सुप्युपपदे हन्तेर्भावे क्यप् स्यात्तकारश्चान्तादेशः । ब्रह्मणो हननं ब्रह्महत्या । स्त्रीत्वं लोकात् ।

उपसर्ग से भिन्न सुप् के उपपद रहने पर हन् धातु से भाव अर्थ में क्यप् प्रत्यय होता है तथा हन् के अन्तिम वर्ण 'न्' के स्थान में 'त्' आदेश हो जाता है । ब्रह्मणः हननम् इस विग्रह में ब्रह्म उपपद हन् धातु से 'हनस्त च' इस सूत्र से क्यप् एवं तकारादेश होकर बने ब्रह्महत्य शब्द का लोक में स्त्रीलिङ्ग होने से ब्रह्महत्या प्रयोग बनता है ।

रूपसिद्धि :—

ब्रह्महत्या—ब्रह्मणः हननं इस विग्रह में ब्रह्म उपपद हन् धातु से भाव अर्थ में 'हनस्त च' २८५६ सूत्र से 'क्यप्' प्रत्यय होता है साथ ही 'हन्' के 'न्' का 'त्' आदेश भी हो जाता है जिससे ब्रह्महत्य शब्द बनता है। उससे 'टाप्' करने पर ब्रह्महत्या शब्द से प्रातिपदिकसंज्ञा होने पर सु विभक्ति में 'हल्ङ्याब्भ्यो—' २५२ इत्यादि सूत्र से सु का लोप होने पर ब्रह्महत्या पद बनता है।

यहाँ स्त्रीलिङ्ग लोकतः है। भाष्यकार ने कहा है। लिङ्गमशिष्यम्, लोकाश्रयत्वात्। लोक में ब्रह्महत्या शब्द स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होता है। इसलिये कौमुदीकार भी कहते हैं—स्त्रीत्वं लोकात्।

२८५७। एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप् ३।१।१०९।

इण्, स्तु, शास्, वृ, दृ तथा जुष् धातुओं से क्यप् प्रत्यय होता है।

२८५८। ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् ६।१।७१।

इत्यः। स्तुत्यः। 'शास इदङ्हलोः' (सू० २४८६) शिष्यः। 'वृ' इति वृञो ग्रहणम् न वृङः, वृत्यः। वृङस्तु 'वार्याः' ऋत्विजः। आदृत्यः। जुष्यः। पुनः क्यबुक्तिः परस्यापि ण्यतो बाधनार्था। अवश्यस्तुत्यः। 'शंसिदुहिगुहिभ्यो वा' इति काशिका। शस्यम्-शंस्यम्। दुह्यम्-दोह्यम्। गुह्यम्-गोह्यम्। 'प्रशस्यस्य श्रः' (सू० १००९) 'ईडवन्दवृशंसदुहां ण्यतः' (सू० ३६९९) इति सूत्रद्वयबलाच्छंसेः सिद्धम्। इतरयोस्तु मूलं मृग्यम्। 'आङ्पूर्वादञ्जेः संज्ञायामुपसंख्यानम्' (वा० १९२५)। 'अञ्जू' व्यक्ति-म्रक्षणादिषु। बाहुलकात्करणे क्यप् 'अनिदिताम्—' (सू० ४१६) इति नलोपः, आज्यम्।

ह्रस्व धातु से पित् एवं कृत्य प्रत्यय के पर में रहने पर तुक् (त्) का आगम होता है। जैसे—'इण् गतौ' धातु से 'एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्' २८५७ सूत्र से क्यप् होने पर 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' २८५८ से तुक् (त्) का आगम होने पर इत्यः प्रयोग बनता है। इसी प्रकार स्तु धातु से क्यप् एवं तुक् होने पर स्तुत्यः पद बनता है।

'शास् अनुशिष्टौ' धातु से 'एतिस्तुशास्—' २८५७ सूत्र से क्यप् प्रत्यय होने पर 'शास इदङ्हलोः' २४८६ सूत्र से 'शास्' के 'आ' का 'इ' आदेश होने पर षत्व होकर शिष्यः पद सिद्ध होता है।

(एतिस्तु)—सूत्र में 'वृ' से 'वृञ्' धातु का ग्रहण है वृङ् धातु का नहीं। इसलिये वृञ् धातु से क्यप् होने पर तुक् का आगम होकर वृत्यः प्रयोग बनता है। वृङ् धातु से तो 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ से ण्यत् होकर वृद्धि एवं रपरत्व के बाद वार्य शब्द से प्रथमा बहुवचन में वार्याः प्रयोग बनता है जो ऋत्विजः का विशेषण है।

आङ् पूर्वक दृ धातु से 'एतिस्तुशास्----' सूत्र से क्यप् होने पर तुक् का आगम होकर आदृत्यः प्रयोग होता है।

जुष् धातु से क्यप् होने पर जुष्यः बनता है।

'वदः सुपि क्यप् च' २८५४ सूत्र में 'क्यप्' पढा गया है। उससे ही काम हो जाने पर भी 'एतिस्तु' २८५७ में फिर क्यप् इसलिये पढा गया है कि ण्यत् पर में होने पर भी ण्यत् को बाधकर क्यप् ही होवे। अतः अवश्य उपपद स्तु धातु से 'ओरावश्यके' सूत्र से परत्वात् ण्यत् प्रत्यय प्राप्त होता है, किन्तु उसे बाधकर क्यप् हो जाता है एवं तुक् होने से अवश्यस्तुत्यः प्रयोग बनता है।

शंस एवं गुह धातुओं से विकल्प से क्यप् प्रत्यय होता है। इसे बताने के लिये काशिका में वार्तिक पढा गया है। अतः शंस् धातु से इस वार्तिक से क्यप् होने पर 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' ४१६ सूत्र से शंस् के नकार का लोप हो जाने पर शस्यम् प्रयोग बनता है।

पक्ष में क्यप् नहीं होने पर ण्यत् होने से 'न्' का लोप नहीं होने पर शंस्यम् सिद्ध होता है।

दुह् धातु से क्यप् होने पर दुह्यम् तथा पक्ष में ण्यत् होने पर दोह्यम् पद बनता है।

गुह् धातु से क्यप् होने पर गुह्यम् तथा ण्यत् होने पर गोह्यम् पद सिद्ध होता है।

'प्रशस्यस्य श्रः' २००९ सूत्र में 'शस्य' आया है एवम् 'इडवन्दतृशंसदुहां ण्यतः' सूत्र में 'शंस' पढा गया है। इससे काशिका में पठित विकल्प से 'क्यप्' एवं 'ण्यत्' की बात सिद्ध हो जाती है, किन्तु दुह् एवं गुह् धातु से विकल्प से 'क्यप्' किस आधार पर किया गया ? उसका मूल अन्वेष्य है।

आङ् पूर्वक अञ्जू धातु से संज्ञा अर्थ में क्यप् प्रत्यय कहना चाहिये। अञ्जू धातु व्यक्ति (अभिव्यक्ति) एवं म्रक्षण (स्पष्ट करना) आदि अर्थों में पठित है—'अञ्जू व्यक्ति-म्रक्षणकान्तिगतिषु'। उससे बाहुलकात् करण में क्यप् प्रत्यय होता है। अज्यते अनेन इस विग्रह में आङ् पूर्वक अञ्जू धातु से 'आङ्पूर्वादञ्जेः' 'संज्ञायामुपसंख्यानम्' (वा० १९२५)—इस वार्तिक से क्यप् प्रत्यय होने पर वृद्धि एवं 'ञ्', का लोप होने पर आज्यम् प्रयोग बनता है।

रूपसिद्धि :—

इत्यः—'इण् गतौ' धातु से कर्म अर्थ में 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' २८३३ सूत्र के अनुसार 'एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्' सूत्र से क्यप् प्रत्यय आने पर 'क' एवं 'प्' की इत्संज्ञा तथा लोप के बाद 'इ य' की स्थिति में 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' २१६८ से प्राप्त गुण का निषेध 'क्ङिति च' २२१७ सूत्र से होने पर 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' २२५८ सूत्र से 'तुक्' का आगम होने पर 'उ' तथा 'क्' की इत्संज्ञा एवं लोप के बाद इत्य शब्द बनता है जिसकी

प्रातिपदिकसंज्ञा 'कृत्तद्धितसमासाश्च' १७९ से होने पर सु विभक्ति में 'स्' का रुत्व तथा विसर्ग होने पर इत्यः प्रयोग होता है।

स्तुत्यः—स्तु धातु से कर्म अर्थ में 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' २८३३ इस सूत्र के अनुसार 'एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्' २८५७ से क्यप् प्रत्यय होता है। अनुबन्ध ('क्' एवं 'प्') लोप के बाद 'स्तु य' की स्थिति में 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' २१६८ से प्राप्त गुण का निषेध 'क्ङिति च' २२१७ से होने पर 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' २२५८ से तुक् (त्) का आगम होने पर बने स्तुत्य शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा कृत्तद्धितसमासाश्च १७९ से होने से सु विभक्ति आती है। 'स्' का रुत्व एवं विसर्ग होने पर स्तुत्यः पद सिद्ध होता है।

शिष्यः—(शास् अनुशिष्टौ) धातु से कर्म अर्थ में (तयोरेव 'कृत्यक्तखलर्थाः') २८३३ सूत्र के अनुसार एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्' २८५७ सूत्र से 'क्यप्' प्रत्यय होने पर 'क्' एवं 'प्' की इत्संज्ञा तथा लोप के बाद 'शास् य' की स्थिति में 'शास इदङ्हलोः' २५८६ सूत्र से 'शास्' के 'आ' के स्थान में 'इ' आदेश होने पर 'आदेशप्रत्यययोः' २१२ सूत्र से 'स्' का 'ष्' होने से शिष्य शब्द की प्रतिपदिक संज्ञा कृत्तद्धितसमासाश्च १७९ से होने के बाद सु विभक्ति आती है। 'स्' का रुत्व एवं विसर्ग होने पर शिष्यः प्रयोग बनता है।

वृत्यः—'वृञ् वरणे' धातु से कर्म अर्थ में 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' २८३३ सूत्र के अनुसार 'एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्' सूत्र से क्यप् प्रत्यय होने पर अनुबन्ध (क् एवं प्) लोप के बाद 'वृ य' की स्थिति में 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' २१६८ से प्राप्त गुण का निषेध 'क्ङिति च' २२१७ सूत्र से होने पर 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' २८५२ से तुक् (त्) का आगम होने से वृत्य शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा होने से सु विभक्ति में 'स्' का रुत्व एवं विसर्ग होने पर वृत्यः पद बनता है।

शंस्यम्, शस्यम्—शंस् धातु से कर्म अर्थ में 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' २८३३ सूत्र के अनुसार धातु के हलन्त होने से 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ सूत्र से 'ण्यत्' की प्राप्ति होती है जिसे बाधकर 'शंसिदुहिगुहिभ्यो वा' इस वार्तिक से विकल्प से क्यप् होने पर अनुबन्ध ('क्' एवं 'प्') लोप के बाद 'शंस य' की स्थिति में 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' ४१६ सूत्र से 'शंस्' के 'न्' का लोप होने के बाद शस्य शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा होने पर सु विभक्ति में उसका अमादेश तथा पूर्वरूप होने से शस्यम् प्रयोग होता है।

यहाँ 'शंसिदुहिगुहिभ्यो वा' इस वार्तिक से क्यप् प्रत्यय विकल्प से होता है। अतः पक्ष में क्यप् नहीं होने से 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ से ण्यत् प्रत्यय होने पर अनुबन्ध ('ण्' एवं 'त्') का लोप होने से कित् के अभाव में 'न्' का लोप नहीं होने पर शंस शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा के बाद सु विभक्ति में उसका अमादेश तथा पूर्वरूप होकर शंस्यम् पद सिद्ध होता है।

दुह्यम्-दोह्यम्--'दुह प्रपूरणे' धातु से कर्म अर्थ में 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' २८३३ के अनुसार 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ से प्राप्त ण्यत् को बाध कर 'शंसिदुहिगुहिभ्यो वा' इस वार्तिक से विकल्प से क्यप् होने पर कित् होने के कारण 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से प्राप्त गुण का निषेध 'क्क्ङिति च' २२१७ से होने पर दुह्य शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा सु विभक्ति के आने पर उसका अमादेश एवं पूर्वरूप होने पर दुह्यम् पद बनता है।

यहाँ क्यप् प्रत्यय के विकल्प से होने के कारण पक्ष में 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ से ण्यत् होने पर गुण के बाद दोह्य शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा होने पर सु विभक्ति में अमादेश एवं पूर्वरूप होने से दोह्यम् प्रयोग होता है।

गुह्यम्-गोह्यम्---'गुहू संवरणे' धातु से कर्म अर्थ में 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ सूत्र से प्राप्त ण्यत् को बाधकर 'शंसिदुगुहिभ्यो वा' इस वार्तिक से क्यप् होने पर गुण का निषेध होने से प्रातिपदिकादि कार्य के बाद गुह्यम् प्रयोग होता है।

पक्ष में ण्यत् होने पर गुण के बाद प्रातिपदिकादि कार्य होकर गोह्यम् पद होता है।

आज्यम्—आङ् पूर्वक अञ्जू धातु से अज्यते अनेन इस विग्रह में संज्ञा अर्थ में 'आङ्पूर्वादञ्जेः संज्ञायामुपसंख्यानम्' इस वार्तिक से क्यप् प्रत्यय होने पर अनुबन्ध (क् एवं प्) लोप के बाद 'अञ्ज् य' की स्थिति में 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' ४१६ सूत्र से 'न्' का लोप होने से वृद्धि के बाद आज्य शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा होने पर सु विभक्ति में उसका अमादेश तथा पूर्वरूप होने पर आज्यम् प्रयोग होता है। हवनसाधनीभूत द्रव्य विशेष को आज्य कहते हैं। आज्य शब्द का अर्थ घी है। अमरकोष में कहा है—'घृतमाज्यं हविः सर्पिः'[1]

२८५९। ऋदुपधाच्चाक्लृपिचृतेः ३।१।११०।

वृत्, वृत्यम्। वृध, वृध्यम्। क्लृपिचृत्योस्तु—कल्प्यम्, चर्त्यम्। तपरकरणं किम्? कृत्, कीर्त्यम्। अनित्यण्यन्ताश्चुरादय इति णिजभावे ण्यत्। णिजन्तात्तु यदेव।

क्लृप तथा चृत धातुओं को छोड़कर ऋदुपधक (जिसकी उपधा में ऋ हो) धातुओं से क्यप् प्रत्यय होता है। वृत् धातु से क्यप् होने पर वर्त्यम् प्रयोग होता है। इसी तरह वृध धातु से क्यप् होने पर वृध्यम् पद होता है। क्लृप् धातु से ण्यत् प्रत्यय में कल्प्यम् तथा चृत् धातु से ण्यत् में चर्त्यम् पद होता है।

'ऋदुपधात्' सूत्र में 'ऋत्' में तपर है। इसलिये 'तपरस्तत्कालस्य' सूत्र के अनुसार ह्रस्व ऋकार वाले का ही ग्रहण होता है। अतः कृत् धातु से क्यप् नहीं होता है। बल्कि 'ण्यत्' होने पर कीर्त्यम् प्रयोग होता है।

कॄत धातु चुरादि में पढा गया है। इसलिये कृति धातु से कीर्तयति रूप बनता है, किन्तु चुरादि में 'णिच्' अनित्य रूप में होता है। इसलिये 'णिच्' न होने पर हलन्त होने से

---

1. अमरकोष २-९-५२

'ण्यत्' प्रत्यय होकर भी कीर्त्यम् बनता है। णिच् होने पर अजन्त होने से 'अचो यत्' २८४२ सूत्र से यत् ही होता है।

रूपसिद्धि :—

वृत्यम्—वृत् धातु से कर्म अर्थ में 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' २८३३ सूत्र के अनुसार 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ सूत्र से ण्यत् की प्राप्ति थी जिसे बाध कर 'ऋदुपधाच्चाक्लृपि चृतेः' २८५९ सूत्र से 'क्यप्' प्रत्यय होने पर अनुबन्ध ('क' एवं 'प्') के लोप के बाद वृत्य शब्द के 'ऋ' का गुण (अ) 'पुगन्तलघूपधस्य' २१८९ सूत्र से प्राप्त था जिसका निषेध 'क्ङिति च' २२१७ सूत्र से हो जाने पर वृत शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा 'कृत्तद्धितसमासाश्च' १७९ सूत्र से होने पर सु विभक्ति में 'सु' का अमादेश एवं पूर्वरूप होने से वृत्यम् पद बनता है।

वृध्यम्—वृध धातु से भाव अर्थ में 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ सूत्र से प्राप्त ण्यत् का निषेध 'ऋदुपधाच्चाक्लृपि चृतेः' २८५९ सूत्र से क्यप् प्रत्यय होने पर अनुबन्ध ('क्' एवं 'प्') लोप के बाद वृध्य शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा के बाद सु विभक्ति में सु का अमादेश तथा पूर्वरूप होने पर वृध्यम् प्रयोग बनता है।

कल्प्यम्—क्लृप् धातु से 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ सूत्र से ण्यत् प्रत्यय होने पर अनुबन्ध ('ण' एवं 'त') लोप के बाद 'पुगन्तलघूपधस्य च' २१८९ सूत्र से गुण एवं लपरत्व होने पर प्रातिपदिकादि कार्य के बाद कल्प्यम् प्रयोग बनता है।

चर्त्यम्–चृत् धातु से 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ सूत्र से 'ण्यत्' प्रत्यय होने पर अनुबन्धलोप के बाद गुण एवं लपरत्व होने पर प्रातिपदिकादि कार्य होने से चर्त्यम् पद सिद्ध होता है।

कीर्त्यम्—कृत् धातु से भाव अर्थ में, 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ से ण्यत् प्रत्यय होने पर अनुबन्धलोप के बाद 'ऋत इद्धातोः' २३९० सूत्र से धातु के स्थान में 'ई' आदेश होने पर रपरत्व होकर कीर्त्यम् पद बनता है।

२८६०। ई च खनः ३।१।१११।

चात्क्यप्। आद्गुणः, खेयम्। 'इच्' इति ह्रस्वः सुपठः।

खन् धातु से 'क्यप्' प्रत्यय होता है और धातु के अन्त 'न्' के स्थान में 'ई' आदेश होता है। खन् धातु से क्यप् प्रत्यय 'ई च खनः' २८६० सूत्र से होने पर तथा ईकारादेश होकर 'आद्गुणः' ६९ से गुण के बाद खेयम् पद बनता है। भाष्य का मत है कि 'इ च' ऐसा ह्रस्व भी सुपठ है क्योंकि वहाँ 'न्' के स्थान में 'इ' होने पर भी गुण के बाद 'खेयम्' पद होता है।

रूपसिद्धि :—

खेयम्—'खनु अवदारणे' धातु से कर्म अर्थ में 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' २८३३ सूत्र के अनुसार 'ई च खनः' २८६ सूत्र से क्यप् होता है साथ ही 'खन्' के अन्तिम वर्ण 'न्' के

स्थान में 'ई' आदेश हुआ। अतः 'ख ई य' की स्थिति में 'आद्गुणः' ६९ सूत्र से गुण होकर खेय शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा होने पर सु विभक्ति में सु का अमादेश तथा पूर्वरूप होकर खेयम् पद बनता है।

२८६१ । भृञोऽसंज्ञायाम् ३।१।११२ ।

भृत्याः कर्मकराः। भर्तव्या इत्यर्थः । क्रियाशब्दोऽयं न तु संज्ञा। समश्च बहुलम्। संभृत्याः। संभार्याः। असंज्ञायामेव विकल्पार्थमिदं वार्तिकम्। असंज्ञायां किम् ? भार्या नाम क्षत्रियाः। अथ कथं भार्या वधूरिति।

इह हि 'संज्ञायां समज—' (सू० ३२७६) इति क्यपा भाव्यम्। संज्ञापर्युदासस्तु पुंसि चरितार्थः। सत्यम्। बिभर्तेर्भॄ इति दीर्घान्तात् क्र्यादेर्वा ण्यत्। क्यप् तु भरतेरेव। 'तदनुबन्धकग्रहणे नातदनुबन्धकस्य' इति परिभाषया।

भृ धातु से क्यप् प्रत्यय होता है यदि उससे बनने वाला शब्द संज्ञावाचक नहीं हो। भृ धातु से क्यप् प्रत्यय होने पर बना भृत्य शब्द कर्मकर 'पारिश्रमिक लेकर काम करने वाला' का विशेषण है। उसका अर्थ है भर्तव्य। अर्थात् भरण पोषण किये जाने योग्य – यह क्रियापद है संज्ञा नहीं।

सम् पूर्वक भृ धातु से क्यप् बहुल रूप से होता है। इसलिये सम्भृत्याः रूप होता है। ण्यत् होने पर सम्भार्याः प्रयोग होता है। संज्ञा अर्थ नहीं रहने पर ही विकल्प विधान के लिये यह वार्तिक है। संज्ञा अर्थ में तो ण्यत् ही होगा। सूत्र में 'संज्ञायाम्' पढे जाने का फल है कि भृ धातु से संज्ञा अर्थ में ण्यत् होकर भार्याः प्रयोग होता है। कुछ क्षत्रिय विशेष के लिये भार्या शब्द रूढि है। उसका भेद बताने के लिये यहाँ प्रश्न उठता है कि संज्ञा अर्थ में निषेध रहने पर वधू अर्थ में भार्या शब्द कैसे बना ? वहाँ तो 'संज्ञायां समजनिषद' ३२७६ सूत्र से संज्ञा अर्थ में क्यप् होना चाहिये। यह नहीं कह सकते कि 'भृञोऽसंज्ञायाम्' २८६१ सूत्र में 'संज्ञायाम्' यह पर्युदास है। इसलिये क्यप् नहीं होगा क्योंकि वह पर्युदास पुंल्लिङ्ग में भार्याः क्षत्रियाः आदि पुंल्लिङ्ग रूपों में निषेध कर चरितार्थ है।

इसके समाधान में कहा गया है कि 'डुभृञ् धारणपोषणयोः' इस जहोत्यादि के तथा 'भॄ भर्त्सने' इस क्र्यादि के दीर्घान्त धातुओं में 'ऋहलोर्ण्यत्' २२७२ से ण्यत् होता है। 'भृञ् भरणे' धातु से 'भृञोऽसंज्ञायाम्' २८६१ सूत्र से क्यप् होता है क्योंकि उसी 'भृञ् भरणे' का 'संज्ञायां समजनिषदनि—' ३२७६ इत्यादि सूत्र में तथा 'भृञोऽसंज्ञायाम्' इस सूत्र में ग्रहण होता है। परिभाषा है—'तदनुबन्धकग्रहणे नातदनुबन्धकस्य'। अर्थात् किसी एक अनुबन्धक को लगाकर जो पढ़ा गया है उसका उससे भिन्न अनुबन्ध वाले से ग्रहण नहीं होता है। इन दोनों सूत्रों में 'भृञ्' पढा गया है। इसलिये उसी से 'क्यप्' होता है। 'डुभृञ्' आदि धातुओं से तो 'ण्यत्' ही होता है। इसलिये भार्या वधू—में डुभृञ् धातु से ण्यत् होकर भार्या शब्द बनता है— ऐसा समझना चाहिये।

रूपसिद्धि :—

भृत्यः—'भृञ् भरणे' धातु से संज्ञा से भिन्न अर्थ में 'भृञोऽसंज्ञायाम्' २८६१ सूत्र से क्यप् प्रत्यय होता है। अनुबन्ध ('क' एवं 'प्') लोप के बाद 'भृ य्' की स्थिति में 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' २८५८ सूत्र से तुक् (त्) का आगम होने से भृत्य शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा होने पर जस् विभक्ति में 'चुटू' १८९ सूत्र से 'ज्' की इत्संज्ञा एवं लोप के बाद भृत्यास् के स् का रुत्व एवं विसर्ग होने पर भृत्याः पद बनता है। इस शब्द का अर्थ है—कर्मकर (पारिश्रमिक के बदले काम करने वाला) अर्थात् भर्तव्य—जो भरण पोषण के योग्य हो।

२८६२। मृजेर्विभाषा ३।१।११३।

मृजेः क्यब्वा स्यात्। पक्षे ण्यत्। मृज्यः।

मृज् धातु से विकल्प से क्यप् होता है। पक्ष में ण्यत् होता है। मृज् धातु से क्यप् होने पर मृज्यः प्रयोग होता है। इसका अर्थ है—शुद्ध करने योग्य। 'मृज्' में ऋकारोपध होने से 'ऋदुपधाच्चाक्लृपिचृतेः' २८५९ सूत्र से नित्य क्यप् प्राप्त था। उसको बाधकर इस सूत्र से विकल्प से क्यप् होता है।

रूपसिद्धि :—

मृज्यः—मृज् धातु से कर्म अर्थ में धातु के ऋदुपध होने से 'ऋदुपधाच्चाक्लृपिचृतेः' २८५९ सूत्र से नित्य ही क्यप् प्राप्त था जिसे बाध कर 'मृजेर्विभाषा' २८६२ सूत्र से विकल्प से क्यप् होने पर अनुबन्ध ('क्' एवं 'प्') लोप के बाद 'पुगन्तलघूपधस्य' २१८९ से प्राप्त गुण का 'क्यप्' के कित् होने के कारण 'क्ङिति च' २२१७ से निषेध होने पर मृज्य शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा के बाद सु विभक्ति में 'सु' का रुत्व एवं विसर्ग होने पर मृज्यः रूप होता है।

पक्ष में क्यप् नहीं होने पर ण्यत् होने से मार्ग्यः रूप बनता है।

२८६३। चजोः कु घिण्ण्यतोः ७।३।५२।

चस्य जस्य च कुत्वं स्यात् घिति ण्यति च प्रत्यये परे। 'निष्ठायामनिट् इति वक्तव्यम्' (वा० ४५५१)। तेनेह न गर्ज्यम्। 'मृजेर्वृद्धिः' (सू० २४७३)। मार्ग्यः

'च' तथा 'ज्' के स्थान में कुत्व हो जाता है यदि घित् या ण्यत् प्रत्यय पर में हो। इस सूत्र पर आये वार्तिक का अर्थ है कि निष्ठा में जो अनिट् धातु हो उसी में कुत्व कहना चाहिये। इसलिये गर्ज धातु से ण्यत् होने पर कुत्व नहीं होता है क्योंकि गर्ज धातु निष्ठा में सेट है। अतः गर्ज्यम् प्रयोग होता है। मृज् धातु से क्यप् के विकल्प पक्ष में 'मृजेर्विभाषा' २८६२ सूत्र से ण्यत् प्रत्यय होता है। कुत्व एवं वृद्धि के बाद मार्ग्यः पद बनता है।

रूपसिद्धि :—

मार्ग्यः—मृज् धातु से कर्म अर्थ में धातु के हलन्त होने के कारण 'मृजेर्विभाषा' २८६२ के विकल्प पक्ष में ण्यत् होने पर अनुबन्ध ('ण्' एवं 'त्') लोप के बाद मृज् य की स्थिति में

'चजोः कुघिण्यतोः' २८६३ सूत्र से 'ज्' के स्थान में कुत्व 'ग्' हो जाता है और 'मृजेर्वृद्धिः' २४७३ सूत्र से ऋ की वृद्धि एवं रपरत्व होने पर मार्ग्य शब्द बनता है। उसकी प्रातिपदिकसंज्ञा कर सु विभक्ति के आने पर 'सु' का रुत्व एवं विसर्ग होने पर मार्ग्यः पद सिद्ध होता है।

२८६४। न्यङ्क्वादीनां च ७।३।५३।

कुत्वं स्यात्। न्यङ्कुः। नावञ्चेरित्युप्रत्ययः।

न्यङ्कु आदि गण में पठित शब्दों में भी कुत्व हो जाता है। न्यङ्कु शब्द कृष्णमृग का पर्याय है। यहाँ नि पूर्वक अञ्चू धातु से 'नावञ्चेः' इस गणादि सूत्र से 'उ' प्रत्यय होने पर न्यञ्चु शब्द से 'न्यङ्क्वादीनाञ्च' सूत्र से 'च' का कुत्व 'क्' निपातन होने पर न्यङ्कु शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा 'कृत्तद्धितसमासाश्च' सूत्र से होने पर सु विभक्ति सु का रुत्व एवं विसर्ग होने पर न्यङ्कुः पद बनता है।

२८६५। राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपच्याव्यथ्याः ३।१।११४।

एते सप्त क्यबन्ता निपात्यन्ते, राज्ञा सोतव्योऽभिषवद्वारा निष्पादयितव्यः। यद्वा लतात्मकः सोमो राजा स सूयते खण्ड्यतेऽत्रेत्यधिकरणे क्यप्, निपातनाद् दीर्घः। राजसूयः, राजसूयम्। अर्धर्चादिः। सरत्याकाशे सूर्यः, कर्तरि क्यप्, निपातनादुत्वम्। यद्वा 'षू प्रेरणे' तुदादिः। सुवति कर्मणि लोकं प्रेरयति, क्यपो रुट्। मृषोपपदाद्वधेः कर्मणि नित्यं क्यप्, मृषोद्यम्। विशेष्यनिघ्नोऽयम्। 'उच्छ्रायसौन्दर्यगुणा मृषोद्याः।' रोचतेः रुच्यः। गुपेरादेः कत्वं च संज्ञायाम् सुवर्णरजतभिन्नं धनं कुप्यम्। 'गोप्यम्' अन्यत्। कृष्टे स्वयमेव पच्यन्ते कृष्टपच्याः कर्मकर्तरि। शुद्धे तु कर्मणि 'कृष्टपाक्याः।' न व्यथते अव्यथ्यः।

राजसूय आदि सात शब्द क्यप् प्रत्ययान्त निपातन किये जाते हैं। राजा से सोतव्य अर्थात् अभिषव (रस चुआना) द्वारा निष्पादित करने योग्य इस अर्थ में राजन् उपपद 'षुञ् अभिषवे' धातु से क्यप् निपातन कर राजसूय शब्द बनता है अथवा लता रूप सोम राजा जहाँ रस निकालने के लिये कूटा जाय—इस विग्रह में क्यप् प्रत्यय का निपातन तथा दीर्घ का निपातन करने पर राजसूय प्रयोग बनता है। यह शब्द अर्धर्चादिगण में पठित है। इसलिये 'अर्धर्चाः पुंसि च' ८१७ सूत्र से विकल्प से नपुंसकलिङ्ग भी हो जाता है। इसलिये राजसूयः तथा राजसूयम् दोनों प्रयोग बनते हैं।

सरति आकाशे इति सूर्यः—इस विग्रह में सृ धातु से कर्ता अर्थ में 'राजसूयसूर्य—' २८६५ आदि सूत्र से क्यप् एवम् उत्व का भी निपातन होने के बाद गुण एवं रपरत्व होने पर 'हलि च' ३५४ से दीर्घ होने से सूर्य शब्द से प्रातिपदिकसंज्ञा के बाद सु विभक्ति में रुत्व एवं विसर्ग होने पर सूर्यः पद बनता है। अथवा तुदादि के 'षु प्रेरणे' धातु से सुवति कर्मणि लोकं प्रेरयति—इस विग्रह में प्रेरणार्थक षू धातु से क्यप् प्रत्यय एवं रुट् का निपातन कर प्रातिपदिकादि कार्य होने पर सूर्यः बनता है।

मृषोद्यम्—मृषा उपपद वद् धातु से कर्म में नित्य ही क्यप् होता है। मृषा उद्यते इस विग्रह में वद् धातु से कर्म में क्यप् प्रत्यय का निपातन होने पर मृषोद्यम् बनता है।

इसमें लिङ्ग का निर्धारण विशेष्य के अनुसार होता है। जैसा कि प्रयोग है—

उच्छ्रायसौन्दर्यगुणा मृषोद्याः।

रुच्यः—रुच् धातु से कर्ता अर्थ में प्रकृत सूत्र से क्यप् का निपातन होने पर 'क्ङिति च' २२१७ से गुण का निषेध हो जाने से रुच्यः प्रयोग बनता है।

कुप्यम्- गुप् धातु से क्यप् एवम् आदि गकार के स्थान में ककार निपातन कर संज्ञा अर्थ में कुप्यम् प्रयोग बनता है। सोना तथा चाँदी से भिन्न द्रव्य को कुप्य कहा जाता है। यह उनकी संज्ञा है। संज्ञा से भिन्न अर्थ रहने पर तो गुप् धातु से ण्यत् होने पर 'पुगन्तलघूपधस्य च' २१८९ से गुण करके गोप्यम् प्रयोग बनता है। जिसका अर्थ है— छिपाने योग्य।

कृष्टपच्या—जोते हुए खेत मे जो अपने ही पकते हैं—इस अर्थ में कृष्ट उपपद पच् धातु से क्यप् का निपातन प्रकृत सूत्र से करने पर कृष्टपच्याः रूप बनता है। यहाँ शुद्ध कर्म में प्रत्यय होने पर तो ऋहलोर्ण्यत् से ण्यत् प्रत्यय होने पर 'अत उपधायाः' २२८२ से वृद्धि एवं 'चजोः कुघिण्यतोः' २८६३ सूत्र से कुत्व होकर कृष्टपाक्याः प्रयोग बनता है।

अव्यथ्याः—न व्यथते इस विग्रह में नञ् पूर्वक व्यथ धातु से क्यप् का निपातन 'राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपच्याव्यथ्याः' २८६५ सूत्र से होने पर अव्यथ्याः रूप सिद्ध होता है।

२८६६। भिद्योद्ध्यौ नदे ३।१।११५।

भिदेरुज्झेश्च क्यप् स्यात्। उज्झेर्धत्वञ्च। भिनत्ति कुलं भिद्यः। उज्झत्युदकमुद्ध्यः। नदे किम्? भेत्ता, उज्झिता।

भिद् तथा उज्झ धातु से कर्ता अर्थ में क्यप् निपातन कर भिद्य तथा उद्ध्य प्रयोग नद अर्थ में होते हैं। भिनत्ति कूलम्-इस अर्थ में भिद् धातु से प्रकृत सूत्र से क्यप् प्रत्यय का निपातन होने पर कित् होने से 'पुगन्तलघूपधस्य च' २१८ से प्राप्त गुण का 'क्ङिति च' २२१७ से निषेध होकर प्रातिपदिकादि कार्य के बाद भिद्यः प्रयोग बनता है जिसका अर्थ है किनारे का विदारणकर्ता।

इसी तरह उज्झति उदकम् इस विग्रह मे उज्झ धातु से क्यप् तथा धत्व एवं दत्व का निपातन प्रकृत सूत्र से होने पर उद्ध्यः प्रयोग बनता है जिसका अर्थ है जल को त्याग करने वाला नद।

सूत्र में 'नद' शब्द पढ़ा गया है। अतः नद से भिन्न अर्थ रहने पर कर्त्ता अर्थ में 'ण्वुल्तृचौ' २८९५ सूत्र से भिद् धातु से तृच् होने पर भेत्ता तथा उज्झ धातु से तृच् होने पर उज्झिता प्रयोग सिद्ध होता है।

२८६७। पुष्यसिध्यौ नक्षत्रे ३।१।११६।

अधिकरणे क्यब्निपात्यते। पुष्यन्त्यस्मिन्नर्थाः पुष्यः। सिध्यन्त्यस्मिन् सिध्यः।

नक्षत्र अर्थ में क्यप् प्रत्यय निपातन कर पुष्यः तथा सिध्यः प्रयोग बनते हैं। यहाँ अधिकरण अर्थ में क्यप् का निपातन होता है। पुष्यन्त्यस्मिन्नर्थाः (जिसमें प्रयोजन पुष्ट होते हैं) इस विग्रह में प्रकृत सूत्र से क्यप् का निपातन होने पर कित् के कारण गुण का निषेध हो जाता है। अतः पुष्यः प्रयोग बनता है जो नक्षत्र विशेष की संज्ञा है।

सिध्यन्त्यस्मिन्नर्थाः इस विग्रह में क्यप् का निपातन प्रकृत सूत्र से होने पर कित् के कारण गुण का निषेध होने से सिध्यः प्रयोग बनता है।

२८६७। विपूयविनीयजित्या मुञ्जकल्कहलिषु ३।१।११७।

पूङ्नीञ्जिभ्यः क्यप्। विपूयो मुञ्जः। रज्ज्वादिकरणाय शोधयितव्य इत्यर्थः। विनीयः कल्कः, पिष्ट औषधिविशेष इत्यर्थः। पापं वा। जित्यो हलिः। बलेन क्रष्टव्य इत्यर्थः। कृष्टसमीकरणार्थं स्थूलकाष्ठम् हलिः। अन्यत्तु विपव्यम्, विनेयम्, जेयम्।

मुञ्ज, कल्क एवं हलि अर्थ में क्रमशः विपूय, विनीय तथा जित्य ये निपातित होते हैं। वि उपसर्ग पूर्वक पूङ् धातु से क्यप् प्रत्यय का निपातन प्रकृत सूत्र से होने पर कित् होने के कारण 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' २१६८ से प्राप्त गुण का निषेध 'क्ङिति च' ४१६ से होने पर प्रातिपदिकसंज्ञा के बाद सु विभक्ति में विपूयः प्रयोग बनता है। इसका अर्थ है—रस्सी आदि बनाने के लिये पीट कर शुद्ध किया हुआ मूञ्ज।

वि पूर्वक नी धातु से प्रकृत सूत्र से क्यप् का निपातन होने पर प्राप्त गुण का कित् के कारण निषेध होने पर विनीयः प्रयोग होता है। इसका अर्थ है—विशेष रूप से एक जगह लाकर पीसा गया औषधि विशेष या काढ़ा। कल्क का अर्थ पाप भी होता है।

जि धातु से प्रकृत-सूत्र से क्यप् निपातन करने पर 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' २८५८ से तुक् (त्) का आगम होने पर जित्यः प्रयोग होता है जो हलिः का विशेषण है जोते हुए खेत को बराबर करने के लिये निर्मित काष्ठ विशेष को हलि कहा जाता है। जित्य का अर्थ है बल से खींचे जाने योग्य।

अन्य अर्थों में तो वि पूर्वक पू धातु से 'अचो यत्' से 'यत्' होने पर 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण होने पर 'वान्तो यि प्रत्यये' से अवादेश होने पर प्रातिपदिकसंज्ञा होने के बाद सु विभक्ति में विपव्यम् प्रयोग होता है।

वि पूर्वक नी धातु से यत् प्रत्यय होने पर गुण करके विनेयम् रूप होता है।

जि धातु से यत् होने पर जेयम् प्रयोग बनता है

२८६९। प्रत्यपिभ्यां ग्रहेः ३।१।११८।

छन्दसीति वक्तव्यम् (वा० १९४४)। प्रतिगृह्यम्। अपिगृह्यम्। लोके तु प्रतिग्राह्यम्। अपिग्राह्यम्।

प्रति एवम् अपि उपसर्ग से पर में ग्रह धातु के रहने से क्यप् प्रत्यय होता है, वह छन्द में ही होता है। प्रति पूर्वक ग्रह धातु से इस सूत्र से क्यप् होने पर अनुबन्ध ('क' एवं 'प्') लोप के बाद 'ग्रहिज्यावयिव्यधि—' २४१२ सूत्र से 'र्' का सम्प्रसारण 'ऋ' होने पर प्रातिपदिकादि कार्य के बाद प्रतिगृह्यम् प्रयोग छन्द में होता है।

अपि पूर्वक ग्रह धातु से क्यप् प्रत्यय का निपातन प्रकृत सूत्र से होने पर 'ग्रहिज्या—' २४१२ सूत्र से सम्प्रसारण होने पर प्रातिपदिकादि कार्य होने से अपिगृह्यम् रूप होता है।

वार्तिक के अनुसार छन्द में ही ऐसा प्रयोग होता है। लोक में तो प्रति पूर्वक ग्रह् धातु से 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ सूत्र से ण्यत् प्रत्यय होने पर वृद्धि होकर प्रतिग्राह्यम् रूप होता है। इसी तरह अपि उपसर्ग पूर्वक ग्रह् धातु से ण्यत् होने पर वृद्धि होकर अपिग्राह्यम् प्रयोग सिद्ध होता है।

२८७०। पदास्वैरिबाह्यापक्ष्येषु च ३।१।११९।

अवगृह्यम्। प्रगृह्यं पदम्। अस्वैरी परतन्त्रः। गृह्यकाः शुकाः। पञ्जरादि-बन्धनेन परतन्त्रीकृता इत्यर्थः। बाह्यायां—ग्रामगृह्या सेना। ग्रामबहिर्भूतेत्यर्थः। स्त्रीलिङ्गनिर्देशात्पुन्नपुंसकयोर्न। पक्षे भवः पक्ष्यः। दिगादित्वाद्यत्। आर्यैर्गृह्यते आर्यगृह्यः। तत्पक्षाश्रित इत्यर्थः।

पद, अस्वैरी, बाह्य एवं पक्ष्य अर्थों में ग्रह् धातु से क्यप् प्रत्यय होता है। अवगृह्यम्, प्रगृह्यम् आदि। अवगृह्यम्—अव पूर्वक ग्रह् धातु से 'पदास्वैरि—' २८७० इत्यादि सूत्र से क्यप् होने पर 'ग्रहिज्यावयिव्यधि—' २४१२ सूत्र से सम्प्रसारण होने पर प्रातिपदिकादि कार्य के बाद सु विभक्ति में अवगृह्यम् पद बनता है। अर्थात् विच्छेद किये जाने योग्य पद।

प्रगृह्यम्—प्र पूर्वक ग्रह् धातु से क्यप् प्रत्यय इस सूत्र से होने पर सम्प्रसारण के बाद प्रातिपदिकादि कार्य होने से प्रगृह्यम् पद बनता है। प्रकृतिभावादि को प्रग्रह कहते हैं, जिसकी प्रगृह्य संज्ञा हुई हो उसे प्रगृह्य कहते हैं। यह वृत्तिमत है। अवगृह्य शब्द प्रातिशाख्य में पदविशेष परत्वेन रूढ़ हैं।

अस्वैरी का अर्थ है—परतन्त्र। इस अर्थ में भी ग्रह धातु से क्यप् प्रत्यय प्रकृत सूत्र से होने पर 'ग्रहिज्या—' २४१२ सूत्र से सम्प्रसारण होकर तथा 'अनुकम्पायाम्' २०३१ सूत्र से 'क' प्रत्यय होने से गृह्यक शब्द से प्रातिपदिक संज्ञा के बाद जस् विभक्ति में गृह्यकाः पद बनता है जो पिंजरे में बाँधे जाने के कारण परतन्त्र शुक (सुग्गा) के लिये प्रयुक्त होता है।

बाह्य अर्थ में ग्रह धातु से प्रकृत सूत्र से क्यप् होता है तथा सम्प्रसारण होने पर स्त्रीलिंग में गृह्या प्रयोग बनता है। ग्रामात् गृह्या इस विग्रह में समास किये जाने पर ग्रामगृह्या प्रयोग होता है जो सेना का विशेषण है। अतः दीक्षितजी ने 'ग्रामगृह्या सेना'— ऐसा प्रयोग किया है अर्थात् गाँव से बाहर हुई सेना। यहाँ सूत्र में स्त्रीलिंग (बाह्य) निर्देश होने के कारण पुंलिंग तथा नपुंसकलिंग में इसका प्रयोग नहीं होता है।

पक्षे भवः इस अर्थ में तद्धित के 'दिगादिभ्यो यत्' १४३१ सूत्र से 'यत्' प्रत्यय होने पर पक्ष्य प्रयोग बनता है उस अर्थ में ग्रह धातु के रहने पर प्रकृत सूत्र से क्यप् होता है तथा 'ग्रहि ज्या—' २४१२ से सम्प्रसारण होने पर गृह्य शब्द बनता है। आर्यैः गृह्यः—इस विग्रह में समास होने पर आर्यगृह्यः पद बनता है। इसका अर्थ है आर्यों के पक्ष का आश्रयण करने वाले।

२८७१। विभाषा कृवृषोः ३।१।१२०।

क्यप् स्यात्। कृत्यम्। वृष्यम्। पक्षे—

कृ एवं वृष् धातु से विकल्प से क्यप् होता है। इसका उदाहरण है—कृत्यम्, वृष्यम्। पक्ष में वक्ष्यमाण सूत्र (ऋहलोर्ण्यत्) २८७२ से ण्यत् होता है।

रूपसिद्धि :—

कृत्यम्—कृ धातु से कर्म अर्थ में 'विभाषा कृवृषोः' सूत्र से क्यप् प्रत्यय होने पर अनुबन्ध (क् एवं प्) लोप के बाद 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' २८५२ सूत्र से तुक् (त्) का आगम होने पर कृत्य शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा 'कृत्तद्धितसमासाश्च' १७९ से होने पर सु विभक्ति में 'सु' का अमादेश तथा पूर्वरूप होने से कृत्यम् रूप सिद्ध होता है।

वृष्यम्—वृष् धातु से 'विभाषा कृवृषोः' २८७१ सूत्र से क्यप् प्रत्यय होने पर अनुबन्ध ('क्' एवं 'प') लोप के बाद 'पुगन्तलघूपधस्य' २१८९ सूत्र से प्राप्त गुण का 'क्ङिति च' २२१७ सूत्र से निषेध हो जाने पर वृष्य शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा 'कृत्तद्धित-समासाश्च' सूत्र से होने पर सु विभक्ति के आने पर सु का अमादेश तथा पूर्वरूप होने से वृष्यम् रूप होता है।

२८७२। ऋहलोर्ण्यत् ३।१।१२४।

ऋवर्णान्ताद्धलन्ताच्च धातोर्ण्यत्। स्यात् कार्यम्। वर्ष्यम्।

ऋवर्णान्त एवं हलन्त धातुओं से ण्यत् प्रत्यय होता है। इसका उदाहरण है—कार्यम्, वर्ष्यम्।

रूपसिद्धि :—

कार्यम्—कृ धातु से कर्म अर्थ में 'ऋहलोर्ण्यत्' सूत्र से 'ण्यत्' प्रत्यय होने पर अनुबन्ध ('ण्' एवं 'त्') लोप के बाद णित् होने के कारण 'अचो ञ्णिति' २५४ सूत्र से वृद्धि (ऋ का आ) तथा 'उरण् रपरः' ७० से रपरत्व होकर कार्य शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा 'कृत्तद्धितसमासाश्च' १७९ सूत्र से होने पर सु विभक्ति में सु का अमादेश तथा पूर्वरूप होने पर कार्यम् रूप होता है।

वर्ष्यम्—'वृष् सेचने' धातु से ण्यत् प्रत्यय 'ऋहलोर्ण्यत्' सूत्र से होने पर अनुबन्ध ('ण्' एवं 'त्') लोप के बाद 'वृष् य' की स्थिति में 'पुगन्तलघूपधस्यच' २१८९ से गुण तथा रपरत्व होने पर वर्ष्य शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा के बाद सु विभक्ति में सु का अमादेश होने पर पूर्वरूप के बाद वर्ष्यम् प्रयोग बनता है। इसका अर्थ है—सींचने योग्य।

२८७३। युग्यं च पत्रे ३।१।१२१।

पत्रं वाहनम्। युग्यो गौः। अत्र क्यप् कुत्वं निपात्यते।

पत्र का अर्थ वाहन होता है। पतन्ति गच्छन्ति अनेन इस अर्थ में वाहनार्थक पत्र शब्द है। इस अर्थ में युज् धातु से 'क्यप्' एवं कुत्व निपातन कर युग्य शब्द बनता है। गौ का विशेषण होने से युग्यः गौः—पुंल्लिग में प्रयोग है। यहाँ 'ऋहलोर्ण्यत्' से ण्यत् प्राप्त था, किन्तु निपातन से उसका बाध हो जाता है।

२८७४। अमावस्यदन्यतरस्याम् ३।१।१२२।

अमोपपदाद्वसेरधिकरणे ण्यत्। वृद्धौ सत्यां पाक्षिको ह्रस्वश्च निपात्यते। अमा सह वसतोऽस्यां चन्द्रार्कावमावास्या अमावस्या। 'ऋहलोर्ण्यत्' (सू० २८७२) 'चजोः'—(सू० २८६३) इति कुत्वम्। पाक्यम्। 'पाणौ सृजेर्ण्यद्वाच्यः' (वा० १९४६) ऋदुपधलक्षणस्य क्यपोऽपवादः। पाणिभ्यां सृज्यते पाणिसर्ग्या रज्जुः। 'समवपूर्वाच्च' (वा० १९४७) समवसर्ग्या।

अमा उपपद वस् धातु से अधिकरण अर्थ मे ण्यत् प्रत्यय होता है तथा वृद्धि होने पर पक्ष में निपातन से ह्रस्व हो जाता है। 'अमा' शब्द सह (साथ) अर्थ में रहने वाला अव्यय है। इसलिये अमा सह वसतः चन्द्रार्कौ यस्यां तिथौ (सूर्य और चन्द्रमा दोनों जिस तिथि में एक साथ रहें) इस अधिकरण अर्थ में ण्यत् प्रत्यय होकर अमावास्या तथा पक्ष में ह्रस्व होने पर अमावस्या रूप होता है। 'पच्' धातु से 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ से ण्यत् प्रत्यय और 'चजोः' से कुत्व होने पर पाक्यम् प्रयोग होता है। पाणि उपपद सृज् धातु से ण्यत् प्रत्यय कहना चाहिये। 'ऋदुपधाच्चाक्लृपि चृतेः' २८५३ सूत्र से प्राप्त क्यप् का यह अपवाद है। पाणिभ्यां सृज्यते इस विग्रह में ण्यत् प्रत्यय होकर पाणिसर्ग्या (हाथ से बनायी जाने वाली) पद बनता है जो रस्सी का विशेषण है। समवपूर्वक सृज् धातु से ण्यत् होता है। कुत्व एवं गुण होने पर समवसर्ग्या प्रयोग बनता है।

रूपसिद्धि :—

अमावास्या, अमावस्या—अमा सह वसतः चन्द्रार्कौ यस्यां तिथौ—इस विग्रह में अमा उपपद वस् धातु से 'अमावस्यदन्यतरस्याम्' २८७४ सूत्र से ण्यत् प्रत्यय आता है। अनुबन्ध लोप के बाद णित् होने के कारण 'अत उपधायाः' २२८२ से वृद्धि होकर प्रातिपदिकसंज्ञा के बाद सु विभक्ति में सु का लोप होने पर अमावास्या प्रयोग सिद्ध होता है।

विकल्प से ह्रस्व का निपातन 'अमावस्यदन्यतरस्याम्' सूत्र से होने पर अमावस्या प्रयोग होता है। पक्ष में (ह्रस्व नहीं होने पर) अमावास्या रूप होता है।

पाक्यम्—पच् धातु से कर्म अर्थ में 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ से ण्यत् प्रत्यय होने पर अनुबन्ध (ण् एवं त्) लोप होने के बाद णित् के कारण 'अत उपधायाः' से वृद्धि एवं

'चजोः कु घिण्यतोः' २८६३ से कुत्व होने पर पाक्य शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा होकर सु विभक्ति में अमादेश तथा पूर्वरूप होकर पाक्यम् पद बनता है।

पाणिसर्ग्या—पाणिभ्यां सृज्यते इस विग्रह में पाणि उपपद सृज् धातु के ऋदन्त होने के कारण, 'ऋदुपधाच्चाक्लृपि चृतेः' २८५९ सूत्र से क्यप् की प्राप्ति थी जिसे बाधकर 'पाणौ सृजेर्ण्यद्वाच्यः' इस वार्तिक से ण्यत् प्रत्यय आता है। अनुबन्ध ('ण्' एवं 'त्') की इत्संज्ञा तथा लोप के बाद 'पुगन्तलघूपधस्य च' २१८९ से गुण एवं रपरत्व होने पर 'चजोः कुघिण्यतोः' २८६३ सूत्र से कुत्व होने के बाद स्त्रीलिंग में 'टाप्' होने से दीर्घ के बाद पाणिसर्ग्या शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा कर सु विभक्ति में विभक्ति लोप के बाद पाणिसर्ग्या पद होता है। जो रज्जु का विशेषण है। अतः 'पाणिसर्ग्या रज्जुः वाक्य में प्रयोग होता है।

२८७५ न क्वादेः ७।३।५९।

क्वादेर्धातोश्चजोः कुत्वं न। गर्ज्यम्। वार्तिककारस्तु 'चजोः—' (सू० २८६३) इति सूत्रे 'निष्ठायामनिटः' इति पूरयित्वा 'न क्वादेः' इत्यादि प्रत्याचख्यौ। तेन अर्जितर्जिप्रभृतीनां न कुत्वम्, निष्ठायां सेट्त्वात्। ग्रुचुग्लुञ्चुप्रभृतीनां तु क्वादित्वेऽपि कुत्वं स्यादेव। सूत्रमते तु यद्यपि विपरीतं प्राप्तम्, तथापि 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्'।

कवर्ग आदि में रहने वाले धातुओं से च् एवं ज् का कुत्व नहीं होता है। यह सूत्र 'चजोः कुघिण्यतोः' २८६३ का अपवाद है। जैसे गर्ज धातु से ण्यत् होने पर 'चजोः कुघिण्यतोः' से कुत्व ('ज्' का 'ग्') प्राप्त था उसका निषेध इस सूत्र से होने पर गर्ज्यम् होता है। वार्तिककार ने 'चजोः कुघिण्यतोः' २८६३ सूत्र में 'निष्ठायामनिटः'—इस वार्तिक के पढ देने से काम चल जायेगा, 'न क्वादेः' सूत्र की आवश्यकता नहीं है—ऐसा कहकर 'न क्वादेः' सूत्र का प्रत्याख्यान किया है। वैसा वार्तिक करने से अर्ज, तर्ज प्रभृति धातुओं से कुत्व नहीं होगा क्योंकि वे (धातु) निष्ठा (क्त, क्तवतु) प्रत्यय के पद में रहने पर सेट् (इट् सहित) होते हैं। इसलिये कुत्व की प्राप्ति ही नहीं होती है। ग्रुचु तथा ग्लुञ्चु आदि धातुओं के क्वादि होने पर भी अनिट् होने के कारण कुत्व होता ही है। वहाँ 'न क्वादेः' सूत्र के रहने पर भी कुत्व का निषेध नहीं होता है। इस तरह वार्तिककार के मत से सूत्रकार के मत में विपरीत कार्य यद्यपि होता है, फिर भी 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्'—(उत्तरवर्ती मुनियों का मत ही प्रमाण है) यह सिद्धान्त है। अतः वार्तिककार का मत ही प्रमाण माना जायेगा।

गर्ज्यम्—'गर्ज शब्दे धातु से भाव में, धातु के हलन्त होने के कारण, ऋहलोर्ण्यत् २८७२ से ण्यत् प्रत्यय आने पर 'अनुबन्ध ('ण' एवं 'त्') लोप के बाद 'चजोः कुघिण्यतोः' से 'ज्' का कुत्व 'ग्' प्राप्त था जिसका निषेध 'न क्वादेः' सूत्र से हो जाता है। अतः गर्ज्य शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा के बाद सु विभक्ति में सु का अमादेश तथा पूर्वरूप होने पर गर्ज्यम् पद बनता है।

२८७६ । अजिव्रज्योश्च ७।३।६० ।

न कुत्वम् । समाजः परिव्राजः ।

अज् तथा व्रज धातु से कुत्व नहीं होता है । अतः सम् पूर्वक अज् धातु से भाव में 'घञ्' प्रत्यय होने पर कुत्व के अभाव में समाजः तथा परि पूर्वक व्रज धातु से कुत्व नहीं होने से परिव्राजः पद बनता है ।

रूपसिद्धि :—

समाज :—'सम् पूर्वक अज गतिक्षेपणयोः' धातु से समं साकम् अजन्ति गच्छन्ति जनाः यस्मिन् समुदाये—इस विग्रह में भाव में 'घञ्' प्रत्यय होने पर अनुबन्ध ('घ्' और ञ्) लोप के बाद ञित् के कारण 'अत उपधायाः' २२८२ से वृद्धि होने पर घित् के कारण 'चजोः कुघिण्यतोः' २८६३ सूत्र से कुत्व ('ज्' का 'ग्') की प्राप्ति होती है जिसका 'अजिव्रज्योश्च' २८७६ सूत्र से निषेध होने पर प्रातिपदिकादि कार्य होने से समाजः प्रयोग बनता है ।

परिव्राजः परिव्रजनम् - इस विग्रह में परि पूर्वक व्रज् गतौ धातु से भाव में घञ् प्रत्यय होने पर अनुबन्ध लोपके बाद ञित् के कारण 'अत उपधायाः' २२८२ से वृद्धि होने पर घित् के कारण 'चजोः कुघिण्यतोः' २८६३ से कुत्व की प्राप्ति होती है जिसका 'अजिव्रज्योश्च' २८७६ से निषेध होने पर प्रातिपदिकादि कार्य के बाद परिव्राजः प्रयोग होता है ।

२८७७ । भुजन्युब्जौ पाण्युपतापयोः ७।३।६१ ।

एतयोरेतौ निपात्यौ । भुज्यतेऽनेनेति भुजः=पाणिः । हलश्चेति घञ् । न्युब्जन्त्यस्मिन्निति न्युब्जः । उपतापो रोगः । पाण्युपतापयोः किम् ? भोगः समुद्गः ।

भुज एवं न्युब्ज शब्द क्रमशः पाणि एवम् उपताप अर्थ में निपातन से होते हैं । इन दोनों में कुत्व का अभाव तथा न्युब्ज शब्द में नि पूर्वक उद्ज धातु के दकार का बकार निपातन किया जाता है । भुज्यतेऽनेन इस विग्रह में भुज् धातु से 'हलश्च' ३३०० सूत्र से घञ् प्रत्यय होने पर निपातन से हाथ अर्थ में भुज शब्द का निपातन होता है । इसी प्रकार न्युब्जन्त्यस्मिन्निति इस विग्रह में उपताप के अर्थ में न्युब्जः निपातन से सिद्ध होता है ।

सूत्र में 'पाण्युपतापयोः' पठित है । इसलिये दूसरा अर्थ रहने पर ये निपातन नहीं होते हैं । वहाँ भुज धातु से घञ् होने पर गुण एवं कुत्व होकर भोगः प्रयोग बनता है जिसका अर्थ है—उपभोग । सम् पूर्वक उद्ज धातु से घञ् होने पर कुत्व होकर समुद्गः प्रयोग बनता है । इसका अर्थ है—पूर्णतः उद्गत या व्यापक ।

रूपसिद्धि :—

भुजः—भुज्यतेऽनेन इस करण अर्थ में 'भुज पालनाभ्यवहारयोः' धातु से 'हलश्च' ३३०० सूत्र से घञ् प्रत्यय होने से अनुबन्ध ('घ्' एवं 'ञ्') लोप के बाद घित् मानकर 'चजोः कुघिण्यतोः' २८६३ सूत्र से कुत्व ('ज्' का 'ग्') की प्राप्ति थी किन्तु 'भुजन्युब्जौ पाण्युपतापयोः' सूत्र से पाणि (हाथ) के अर्थ में निपातन होकर भुज शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा होने पर सु विभक्ति में सु का रुत्व एवं विसर्ग होने पर भुजः प्रयोग बनता है ।

न्युब्जः—न्युब्जन्ति नताः भवन्ति अस्मिन्निति इस विग्रह में नि पूर्वक उद्ज धातु से 'हलश्च' ३३०० सूत्र से घञ् प्रत्यय होने पर अनुबन्ध ('घ' एवं ञ्) लोप के बाद घित मानकर 'चजोः कुघिण्ण्यतोः' से प्राप्त कुत्व को 'भुजन्युब्जौ पाण्युपतापयोः' २८७७ बाधकर कुत्वाभाव तथा 'द्' का 'ज्' निपातन होने पर न्युब्ज शब्द से प्रातिपदिकसंज्ञा कर सु विभक्ति में न्युब्जः प्रयोग बनता है जो (न्युब्जः) उपताप (रोग) का विशेषण है।

२८७८। प्रयाजानुयाजौ यज्ञाङ्गे ७।३।६२।

एतौ निपात्यौ यज्ञाङ्गे। पञ्च प्रयाजाः। त्रयोऽनुयाजाः। यज्ञाङ्गे किम्? प्रयागः, अनुयागः।

यज्ञ विशेष अङ्ग के अर्थ में प्रयाजः तथा अनुयाजः प्रयोग निपातन से सिद्ध होते हैं। प्रपूर्वक यज् धातु से तथा अनु पूर्वक यज् धातु से 'हलश्च' ३३०० से घञ् प्रत्यय होने पर कुत्वाभाव के कारण क्रमशः प्रयाजाः तथा अनुयाजाः प्रयोग बनते हैं।

सूत्र में 'यज्ञाङ्गे' पाठ होने के कारण यज्ञ से भिन्न अर्थ में तो कुत्व होकर प्रयागः तथा अनुयागः प्रयोग बनते है क्योंकि वह यज्ञ का अंग नहीं है बल्कि यज्ञ के स्थान आदि का बोधक है।

रूपसिद्धि :—

पञ्च प्रयाजाः—प्रयजनं प्रकृष्टं यजनम्—इस विग्रह में प्र पूर्वक यज धातु से 'हलश्च' ३३०० सूत्र से घञ् प्रत्यय होने पर 'अत उपधायाः' २२८२ से वृद्धि के बाद घित् मानकर 'चजोः कुघिण्ण्यतोः' २८६३ से कुत्व की प्राप्ति होती है, किन्तु यज्ञ का अङ्ग होने के कारण 'प्रयाजानुयाजौ यज्ञाङ्गे' सूत्र से कुत्वाभाव का निपातन होने से प्रयाज शब्द से प्रातिपदिक संज्ञा के बाद जस् विभक्ति में प्रयाजाः प्रयोग बनता है क्योकि वे पाँच होते हैं। अतः पञ्च प्रयाजाः पढा गया है।

त्रयोऽनुयाजाः—अनु पूर्वक यज धातु से घञ् प्रत्यय होने पर वृद्धि के बाद 'प्रयाजानुयाजौ यज्ञाङ्गे' सूत्र से कुत्वाभाव का निपातन होने से प्रातिपदिक संज्ञा के बाद जस् विभक्ति में अनुयाजाः प्रयोग होता है। यज्ञ के अङ्ग तीन होते हैं। अतः त्रयोऽनुयाजाः पढा गया है।

२८७९। वञ्चेर्गतौ ७।३।६०।

कुत्वं न। वञ्च्यम्। गतौ किम्? वङ्क्यं काष्ठम्। कुटिलीकृतमित्यर्थः।

वञ्च् धातु से गति अर्थ में कुत्व नहीं होता है। वञ्च धातु से ण्यत् प्रत्यय होने पर प्राप्त कुत्व का निषेध होने पर वञ्च्यम् पद बनता है।

सूत्र में 'गतौ' पढ़ा गया है। अतः कुटिल किया हुआ—इस अर्थ में वञ्च् धातु से ण्यत् होने पर कुत्व होकर वङ्क्यम् प्रयोग बनता है। अतः 'वङ्क्यम् काष्ठम्' प्रयोग होता है। जिसका अर्थ है टेडा किया हुआ काठ।

रूपसिद्धि :—

वञ्चयम् इस अर्थ में वञ्च् धातु से ण्यत् प्रत्यय 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ सूत्र से होने पर 'चजोः कुघिण्यतोः' २८६३ सूत्र से कुत्व की प्राप्ति थी उसका गति अर्थ में 'वञ्चेर्गतौ' २८७९ सूत्र से निषेध होने पर वञ्च्य शब्द से प्रातिपदिकादि कार्य होने से वञ्च्यम् प्रयोग गति अर्थ में होता है।

२८८०। ओक उचः के ७।३।६४।

उचेर्गुणकुत्वे निपात्येते के परे। ओकः शकुन्तवृषलौ। इगुपधलक्षणः कः। घञा सिद्धे अन्तोदात्तार्थमिदम्।

उच् समवाये धातु से 'क' प्रत्यय परे रहने पर गुण एवं कुत्व निपातन कर ओकः प्रयोग बनता है। यह प्रयोग ('ओकः') शकुन्त एवं वृषल अर्थ में होता है। यहाँ 'क' प्रत्यय 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' सूत्र से होता है। यद्यपि घञ् प्रत्यय करने से यह प्रयोग सिद्ध हो जाता किन्तु 'ओकः' में अन्तोदात्त स्वर की सिद्धि के लिये 'क' प्रत्यय कर गुण एवं कुत्व का निपातन किया गया है। वैसा नहीं करने पर 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' ३६८३ सूत्र से आद्युदात्त हो जाता जो इष्ट नहीं है।

२८८१। ण्य आवश्यके ७।३।६५।

कुत्वं न। अवश्यपाच्यम्।

अवश्य अर्थ में ण्य प्रत्यय के परे रहने पर कुत्व नहीं होता है। अवश्यं पचनीयम् इस अर्थ में अवश्य उपपद पच् धातु से ण्यत् प्रत्यय होने पर 'चजोः कुघिण्यतोः' २८६३ सूत्र से कुत्व की प्राप्ति होती है किन्तु 'ण्य आवश्यके' २८८१ सूत्र से निषेध हो जाता है और उपधा वृद्धि होकर अवश्यपाच्यम्—यह प्रयोग बनता है।

२८८२। यजयाचरुचप्रवचर्चश्च ७।३।६६।

ण्ये कुत्वं न। याज्यम्। याच्यम्। रोच्यम्। प्रवाच्यम् ग्रन्थविशेषः। ऋच् अर्च्यम्। ऋदुपधत्वेऽप्यत एव ज्ञापकाण्ण्यत्। 'त्यजेश्च' त्याज्यम्। 'त्यजिपूज्योश्च' इति काशिका। तत्र पूजेर्ग्रहणं चिन्त्यम्। भाष्यानुक्तत्वात्। 'ण्यत्प्रकरणे त्यजेरुपसङ्ख्यानम्' इति हि भाष्यम्।

यज्, याच्, रुच्, तथा प्र पूर्वक वच् एवम् ऋच् धातुओं से 'ण्यत्' प्रत्यय परे रहने पर कुत्व नहीं होता है। जैसे—यज् धातु से 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ से ण्यत् होने पर 'अत उपधायाः' २२८२ से वृद्धि होकर 'चजोः कुघिण्यतोः' २८६३ सूत्र से कुत्व की प्राप्ति होती है जिसका निषेध 'यजयाचरुचप्रवचर्चश्च' २८८२ सूत्र से होने पर प्रातिपदिकादिकार्य के बाद याज्यम् प्रयोग बनता है।

इसी प्रकार याच् धातु से ण्यत् एवं कुत्व निषेध होने पर याच्यम् तथा रुच् से 'पुगन्तलघूपधस्य च' २१८९ से गुण होने पर रोच्यम् प्र पूर्वक वच् धातु से प्रवाच्यम् तथा

ऋच् धातु से ण्यत् होने पर अर्च्यम् प्रयोग बनते हैं। यद्यपि ऋच् धातु ऋदुपध (जिसकी उपधा में ऋ हो) है, इसलिये 'ऋदुपधाच्चाक्लृपि चृतेः' २८५९ सूत्र से क्यप् की प्राप्ति थी, किन्तु ण्यत् के पर में रहने वाले कुत्व का 'यजयाचरुचप्रवचर्चश्च' सूत्र से निषेध किया गया है। निषेध की सम्भावना उसकी प्राप्ति रहने पर ही होती है। इसलिये निषेध से ही ज्ञापित होता है कि वहाँ ण्यत् प्रत्यय ही होता है। इसलिये 'ऋदुपधाच्चाक्लृपि चृतेः' २८५९ सूत्र से वहाँ क्यप् नहीं होता है।

त्यज् धातु में भी ण्यत् परे रहने पर कुत्व नहीं होता है—यह कहना चाहिये। इसलिये त्यज्येत यत् इस विग्रह में त्यज् धातु से ण्यत् प्रत्यय 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ से होने पर वृद्धि के बाद 'चजोः कुघिण्यतोः' सूत्र से कुत्व की प्राप्ति होती है उसका निषेध 'त्यजेश्च' वार्तिक से होने पर त्याज्य शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा कर सु विभक्ति में अमादेश तथा पूर्वरूप होकर त्याज्यम् पद बनता है।

काशिका में 'त्यजिपूज्योश्च' पढ़ा गया है। इसका अर्थ है कि त्यज एवं पूज धातुओं से कुत्व नहीं होता है। किन्तु काशिका में पूज का पाठ चिन्त्य है क्योंकि भाष्य में वह नहीं पढ़ा गया है। ण्यत् के प्रकरण में त्यज् धातु को कहना चाहिये—यही भाष्य में पढ़ा गया है। पूज धातु का पाठ वहाँ नहीं किया गया है।

२८८३। **वचोऽशब्दसंज्ञायाम्** ७।३।६७।

वाच्यम्। शब्दाख्यायां तु वाक्यम्।

वच् धातु से कुत्व नहीं होता है यदि वह शब्द संज्ञा परक नहीं हो। अतः वच् धातु से ण्यत् होने पर कुत्व के अभाव में वाच्यम् प्रयोग होता है। शब्द संज्ञा परक होने पर तो कुत्व होकर वाक्यम् प्रयोग बनता है।

रूपसिद्धि :—

वाच्यम्—'वच् परिभाषणे' धातु से भाव अर्थ में 'ऋहलोर्ण्यत्' २८७२ से ण्यत् होने पर अनुबन्ध (ण् एवं त्) के लोप के बाद 'अत उपधायाः' २२८२ से वृद्धि होने पर 'चजोः कुघिण्यतोः' २८६३ सूत्र से कुत्व ('च्' का क्') की प्राप्ति होती है किन्तु 'वचोऽशब्दसंज्ञायाम्' २८८३ से कुत्व का निषेध होने पर प्रातिपदिकादि कार्य के बाद वाच्यम् प्रयोग होता है।

जहाँ शब्द संज्ञा परक होता है वहाँ कुत्व होकर वाक्यम् सिद्ध होता है। पदसमूह को वाक्य कहते हैं। कहा है—सुप्तिङ्चयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता।

२८८४। **प्रयोज्यविनियोज्यौ शक्यार्थे** ७।३।६८।

प्रयोक्तुं शक्यः प्रयोज्यः। नियोक्तुं शक्यो नियोज्यो भृत्यः।

शक्य अर्थ में कुत्व का अभाव निपातन कर प्रयोज्य तथा विनियोज्य प्रयोग बनते हैं। जिसका प्रयोग किया जा सके वह प्रयोज्य तथा जिसका नियोजन किया जा सके वह नियोज्य होता है।

रूपसिद्धि :—

प्रयोज्यः—प्रयोक्तुं शक्यः इस विग्रह में प्र पूर्वक 'युज संयमने' धातु से ऋहलोर्ण्यत् २८७२ से ण्यत् होने पर 'पुगन्तलघूपधस्य च' २१८९ से गुण होने पर 'चजोः कुघिण्यतोः' २८६३ सूत्र से कुत्व की प्राप्ति होती है किन्तु 'प्रयोज्यनियोज्यौ शक्यार्थे' सूत्र से कुत्वाभाव निपातन कर प्रातिपदिकादि कार्य होने पर प्रयोज्यः पद पुंल्लिग में बनता है।

इसी प्रकार नियोक्तुं शक्यः इस विग्रह में नि पूर्वक 'युज संयमने' धातु से ण्यत् एवं कुत्वाभाव होने पर नियोज्यः प्रयोग होता है।

२८८५। **भोज्यं भक्ष्ये ७।३।८९।**

भोग्यमन्यत्। 'ण्यत्प्रकरणे लपिदभिभ्यां चेति वक्तव्यम्'। लाप्यम्। दभिर्धातुष्वपठितोऽपि वार्तिकबलात्स्वीकार्यः। दाभ्यः।

भक्ष्य (खाने योग्य) अर्थ में कुत्वाभाव का निपातन कर भोज्यम् प्रयोग बनता है। भुज् धातु से ण्यत् प्रत्यय एवं गुण होने पर कुत्वाभाव में भोज्यम् रूप होता है। भोग करने योग्य—इस अर्थ में कुत्व होने पर भोग्यम् पद बनता है।

ण्यत् के प्रकरण में लप् एवं दभ् धातु से ण्यत् होता है—यह कहना चाहिये। इन धातुओं के पवर्गान्त होने से 'पोरदुपधात्' २८४४ से यत् प्रत्यय की प्राप्ति थी उसके अपवाद रूप में यह वार्तिक आया है—ण्यत् प्रकरण में। इसलिये लप् धातु से इस वार्तिक से ण्यत् होने पर 'अत उपधायाः' ३२८२ से वृद्धि होकर लाप्यम् पद बनता है।

दभ धातु यद्यपि धातुपाठ में परिगणित नहीं है फिर भी वार्तिक में पढा गया है। इसलिये उसे धातुरूप में स्वीकार करना चाहिये। सम्भव है कि इस (दभ्) का धातु पाठ में पाठ रहा हो, किन्तु बाद में किसी कारण छूट गया हो। दभ् धातु से ण्यत् करने पर वृद्धि एवं प्रातिपदिकादि कार्य के बाद दाभ्यः प्रयोग होता है। प्रयोग देखा जाता है—

"न ता नशन्ति न दभाति तस्करः," "विष्णुर्गोपा अदाभ्यः"।

रूपसिद्धि :—

भोज्यम् भक्षितुं योग्यम् इस विग्रह में कर्म अर्थ में 'ऋहलोर्ण्यत्' सूत्र से ण्यत् प्रत्यय होने पर अनुबन्ध ('ण्' एवं 'त्') लोप के बाद भुज् य की स्थिति में 'पुगन्तलघूपधस्य' २१८९ सूत्र से गुण होने पर 'चजोः कुघिण्यतोः २८६३ से कुत्व की प्राप्ति होती है, किन्तु 'भोज्यं भक्ष्ये' २८८५ सूत्र से कुत्वाभाव निपातन होने पर भोज्य शब्द से प्रातिपदिकादि कार्य होने पर भोज्यम् पद बनता है।

भक्ष्य अर्थ नहीं रहने पर भुज धातु से ण्यत् करने पर कुत्व करके भोग्यम् पद बनता है।

२८८६। **ओरावश्यके ३।१।१२५**

उवर्णान्ताद्धातोर्ण्यत्स्यादवश्यम्भावे द्योत्ये। लाव्यम्। पाव्यम्।

उवर्णान्त धातु से ण्यत् प्रत्यय होता है यदि अवश्य होना—यह अर्थ द्योतित हो। उदाहरण है—लूञ् धातु से ण्यत् होने पर लाव्यम् तथा पूञ् धातु से ण्यत् होने पर पाव्यम्।

प्रयोगसिद्धिः—लाव्यम् 'लूञ् छेदने' धातु से कर्म में अवश्य छेदनीय अर्थ द्योत्य रहने पर उवर्णान्तु (लू) धातु से 'ओरावश्यके' २८८६ सूत्र से ण्यत् प्रत्यय होने से अनुबन्ध (ण् एवं त्) लोप के बाद 'अचोञ्णिति' २५४ सूत्र से वृद्धि होने पर 'लौ य' की स्थिति में 'वान्तोयि प्रत्यये' ६३ सूत्र से आवादेश कर प्रातिपदिकादि कार्य होने पर लाव्यम् पद बनता है।

इसी तरह 'पूञ् पवने' धातु से अवश्य पवित्र करने योग्य अर्थ द्योतित रहने पर 'ओरावश्यके' सूत्र से ण्यत् होने पर वृद्धि तथा आवादेश होने पर पाव्य शब्द से प्रातिपदिकादि कार्य होने पर पाव्यम् प्रयोग बनता है।

२८८७। आसुयुवपिरपित्रपिचमश्च ३।१।१२६

षुञ् आसाव्यम्। 'यु मिश्रणे' याव्यम्। वाप्यम्। राप्यम्। त्राप्यम्। आचाम्यम्।

आङ् पूर्वक सु, यु, वप्, रप्, त्रप् तथा चम् धातुओं से ण्यत् प्रत्यय होता है। आङ् पूर्वक 'षुञ् अभिषवे' धातु से आसुयुवपिरपित्रपिचमश्च सूत्र से ण्यत् प्रत्यय होने पर अनुबन्ध लोप के बाद 'अचोञ्णिति' २५४ से वृद्धि होने पर अवादेश के बाद प्रातिपदिकादि कार्य होने पर आसाव्यम् पद बनता है।

इसी तरह 'यु मिश्रणे' धातु से 'आसुयुवपि—' २८८७ सूत्र से ण्यत् करने पर वृद्धि तथा अवादेश आदि के बाद याव्यम् बनता है।

वप् + ण्यत्=वाप्यम्। रप् + ण्यत् = राप्यम्। त्रप् = ण्यत् = त्राप्यम्। आ+चम्+ण्यत् =आचाम्यम्।

२८८८। आनाय्योऽनित्ये ३।१।१२७

आङ्पूर्वान्नयतेर्ण्यदायादेशश्च निपात्यते। दक्षिणाग्निविशेष एवेदम्। स हि गार्हपत्यादानीयतेऽनित्यश्च, सततमप्रज्वलनात्। आनेयोऽन्यः घटादिः वैश्यकुलादानीतो दक्षिणाग्निश्च।

अनित्य अर्थ में आङ् पूर्वक नी धातु से ण्यत् एवम् आयादेश निपातन कर आनाय्यः प्रयोग सिद्ध होता है। दक्षिणाग्नि विशेष के लिये इसका प्रयोग होता है। क्योंकि वह दक्षिणाग्नि गार्हपत्याग्नि से लायी जाती है। हमेशा प्रज्वलित नहीं रहने के कारण वह (दक्षिणाग्नि) अनित्य है। अतः उसी अर्थ में निपातन कर आनाय्यः प्रयोग बनता है। दूसरे घट आदि के सम्बन्ध में तो नी धातु से यत् प्रत्यय करने पर गुण के बाद आनेयः होता है। इसी तरह वैश्य कुल से लायी गई दक्षिणाग्नि के अनित्य होने से उसके लिये नी पूर्वक यत् प्रत्यय आने पर गुण के बाद आनेयः प्रयोग बनता है।

२८८९। प्रणाय्योऽसम्मतौ ३।१।२८

सम्मतिः प्रीतिविषयीभवनं कर्मव्यापारः। तथा भोगेष्वादरोऽपि सम्मतिः। प्रणाय्यश्चोरः। प्रीत्यनर्ह इत्यर्थः। प्रणाय्योऽन्तेवासी। विरक्त इत्यर्थः। प्रणेऽयोऽन्यः।

असम्मति अर्थ रहने पर प्र पूर्वक नी धातु से ण्यत् प्रत्यय एवम् आय आदेश निपातन होता है। सम्मति का अर्थ है—प्रीति का विषय होना कर्म का व्यापार। इसी तरह भोग में आदर या रुचि को भी सम्मति कहा जाता है। उसका विपरीत असम्मति है। उदाहरण है—

प्रणाय्यश्चोरः—प्र पूर्वक नी धातु से असम्मति अर्थ में 'प्रणाय्योऽसम्मतौ' २८८९ सूत्र से 'ण्यत्' एवम् 'इ' का 'आय्' आदेश निपातन से होने पर प्रातिपदिकादि कार्य के बाद प्रणाय्यः पद बनता है जो 'चौरः' का विशेषण है। अतः इस वाक्य का अर्थ है—प्रीति के अयोग्य चोर। इसी तरह 'प्रणाय्योऽन्तेवासी' का अर्थ है भोग से विरक्त शिष्य।

असम्मति अर्थ नहीं रहने पर प्र पूर्वक नी धातु से यत् प्रत्यय एवं गुणादेश होकर प्रणेयः पद होता है।

२८९०। पाय्यसान्नाय्यनिकाय्यधाय्या मान हविर्निवाससामिधेनीषु ३।१।१२९।

मीयतेऽनेन पाय्यं मानम्, ण्यत् धात्वादेः पत्वञ्च। 'आतो युक्—' (सू०२७६१) इति युक्। सम्यङ् नीयते होमार्थमग्निं प्रतीति सान्नाय्यं हविर्विशेषः। ण्यदायादेशः समो दीर्घश्च निपात्यते। निचीयतेऽस्मिन् धान्यादिकं निकाय्यो निवासः। अधिकरणे ण्यत्, आय् धात्वादेः कुत्वं च निपात्यते। धीयतेऽनया समिदिति धाय्या ऋक्।

पाय्य, सान्नाय्य, निकाय्य एवं धाय्या शब्द क्रमशः मान, हवि, निवास तथा सामिधेनी अर्थों में निपातन से सिद्ध होते हैं। मीयतेऽनेन (जिससे मापा जाये) इस विग्रह में मा धातु से ण्यत् प्रत्यय तथा धातु के आदि में रहने वाले 'म' के स्थान में पत्व का निपातन होने से 'आतो युक् चिण्कृतोः' २७६१ सूत्र से 'युक्' का आगम होने पर प्रातिपदिकादि कार्य होने से पाय्यम् प्रयोग बनता है।

सम्यङ् नीयते होमार्थमग्निं प्रति—इस विग्रह में सम् पूर्वक नी धातु से प्रकृत सूत्र से ण्यत् तथा आयादेश एवं दीर्घ का निपातन करने पर प्रातिपदिकादि कार्य के बाद सान्नाय्यम् प्रयोग बना जो विशेष प्रकार की हवि का वाचक है।

निचीयतेऽस्मिन् धान्यादिकम्—इस विग्रह में नि पूर्वक चि धातु से अधिकरण अर्थ में ण्यत् प्रत्यय एवम् 'आय्' आदेश तथा धातु के आदि का कुत्व निपातन कर निकाय्य शब्द बनता है। प्रातिपदिकादि कार्य होने पर निवास अर्थ में निकाय्यः प्रयोग होता है।

धीयतेऽनया समित्—इस विग्रह में धा धातु से ण्यत् प्रत्यय तथा युक् का निपातन होने पर टाप् एवं विभक्ति कार्य होने से धाय्या प्रयोग सामिधेनी (अग्नि में समिधा रखने के समय उच्चरित ऋचा) अर्थ में होता है। धाय्या का अर्थ है—ऋक्।

यद्यपि निपातन धाय्या से ही सामिधेनी अर्थ का ग्रहण हो जाता है फिर भी सूत्र में क्रियमाण सामिधेनी ग्रहण प्रयोग विशेष के उपलक्षणार्थक ही है। इससे ज्ञात होता है कि असामिधेनी ऋक् में भी 'धाय्या शंसति' यह है—नहि शस्त्रेण समित् प्रक्षिप्यते।

२८९१। क्रतौ कुण्डपाय्यसञ्चाय्यौ ३।१।१३०।

कुण्डेन पीयतेऽस्मिन् सोमः कुण्डपाय्यः क्रतुः। सञ्चीयतेऽसौ संचाय्यः।

क्रतु (यज्ञ) अर्थ में कुण्डपाय्य और सञ्चाय्य शब्द निपातन से सिद्ध होते हैं। जिस यज्ञ में कुण्ड से सोम पीया जाये—इस अर्थ में कुण्ड उपपद पा धातु से 'क्रतौ कुण्डपाय्य-सञ्चाय्यौ' २८९१ सूत्र से ण्यत् एवम् आयादेश का निपातन कर क्रतु विशेष के लिये कुण्डपाय्यः प्रयोग होता है।

मन्त्र में प्रयोग—प्रणाय्यात् कुण्डपाय्ये इति।

इसी तरह सञ्चय किया जाये—इस अर्थ में सम् पूर्वक चि धातु से कर्म में प्रकृत सूत्र से ण्यत् एवम् आयादेश का निपातन कर क्रतु-विशेष में सञ्चाय्यः प्रयोग सिद्ध होता है।

क्रतु से भिन्न अर्थ में कुण्डपानम् तथा संचेयम् प्रयोग होते हैं।

२८९२ अग्नौ परिचाय्योपचाय्यसमूह्याः ३।१।१३१।

अग्निधारणार्थे स्थलविशेषे एते साधवः। अन्यत्र तु परिचेयम्। उपचेयम्। संवाह्यम्।

ज्वलनार्थक अग्नि शब्द का जहाँ ग्रहण नहीं है, किन्तु अग्नि धारण के लिये ईंटों के चयन से निर्मित स्थल अर्थात् वेदिका विशेष अर्थ में परिचाय्य, उपचाय्य तथा समूह्य पद निपातन से सिद्ध होते हैं।

परि पूर्वक चि धातु से कर्म में 'अग्नौ परिचाय्योपचाय्यसमूह्याः' सूत्र से ण्यत् एवम् आय् आदेश का निपातन होने पर प्रातिपदिकादि कार्य के बाद परिचाय्यः पद बनता है। इसका अर्थ है—अग्नि को चारों ओर एक स्थान पर रखने की जगह।

उप पूर्वक चि धातु से कर्म में ण्यत् तथा आयादेश का निपातन 'अग्नौ परिचाय्यो—' सूत्र से होने पर प्रातिपदिकादि कार्य के बाद उपचाय्यः प्रयोग बनता है।

सम् पूर्वक वह् धातु से कर्म में प्रकृत सूत्र से ण्यत् तथा सम्प्रसारण ('व्' का 'उ') एवम् उकार का दीर्घ निपातन होने पर प्रातिपदिकादि कार्य के बाद समूह्यः प्रयोग बनता है।

स्थलविशेष से भिन्न अर्थों में तो परिचेयम्, उपचेयम् तथा संवाह्यम् पद सिद्ध होते हैं। परिचेयम् तथा उपचेयम् में यत् प्रत्यय होता है तथा संवाह्यम् में ण्यत् होता है।

२८९३। चित्याग्निचित्ये च ३।१।१३२।

चीयतेऽसौ चित्योऽग्निः। अग्नेश्चयनम् अग्निचित्या। 'प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च' (सू० २८१७)। त्वया गन्तव्यम्। गमनीयम्। गम्यम्। इह लोटा बाधा मा

भूदिति पुनः कृत्यविधिः स्त्र्यधिकारादूर्ध्वं वासरूपविधिः क्वचिन्न' इति ज्ञापयति। तेन 'क्तल्युट्तुमुन्खलर्थेषु न—' इति सिद्धम्। 'अर्हे कृत्यतृचश्च' (सू० २८२२)। स्तोतुमर्हः स्तुत्यः स्तुतिकर्म। स्तोता स्तुतिकर्ता। लिङा बाधा मा भूदिति कृत्यतृचोर्विधिः।

अग्नि अर्थ में चित्य एवम्, अग्निचित्य शब्द निपातन से बनते हैं। जिस (अग्नि) का चयन किया जाये—इस अर्थ में चि धातु से ण्यत् प्रत्यय एवं तुक् (त्) का निपातन 'चित्याग्निचित्ये च' २८९३ सूत्र से होने पर प्रातिपदिकादि कार्य के बाद चित्यः प्रयोग बनता है। यह अग्निविशेष का वाचक है।

अग्नेश्चयनम् इस विग्रह में अग्नि पूर्वक चि धातु से ण्यत् एवं तुक् का निपातन 'चित्याग्निचित्ये च' २८९३ सूत्र से होने पर प्रातिपदिकादि कार्य के बाद अग्निचित्या प्रयोग सिद्ध होता है।

'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' २८३३ सूत्र से भाव एवं कर्म अर्थ में तथा 'कृत्यल्युटो बहुलम्' से करण आदि अर्थों में कृत्य प्रत्यय होते हैं—ऐसा कहा गया है। इसके बाद लकारार्थ प्रकरण के कुछ सूत्र उनसे (भाव कर्मसम्प्रदानादि से) भिन्न अर्थों में भी बताये गये हैं, उसी प्रकरण में सूत्र है—'प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च' (सू० २८१७) इसका अर्थ है कि प्रैष (प्रेरणा) अतिसर्ग (इच्छानुसार आज्ञा) एवं प्राप्तकाल अर्थों में लोट् लकार होता है तथा कृत्य प्रत्यय भी होते हैं। त्वं गच्छ अथवा त्वया गन्तव्यम् या गमनीयम् या गम्यम् प्रयोग होता है। इन अर्थों में लोट् से कृत्य का बाध न हो जाये इसलिये फिर से कृत्य प्रत्यय का विधान किया गया है।

यद्यपि 'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्' २८३० इस सूत्र से विकल्प से बाध होने पर दोनों प्रयोग बन ही जायेंगे फिर सूत्र में कृत्य करने की क्या जरूरत थी? इसके उत्तर में कहते हैं कि पुनः कृत्य ग्रहण करने से ज्ञापित होता है कि 'स्त्रियाम्' ४५४ के अधिकार के बाद 'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्' २८३० सूत्र कहीं पर नहीं भी लगता है। इसलिये क्त, ल्युट् एवं तुमर्थक प्रत्ययों में 'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्' नहीं लगता है।

अर्ह (योग्य) अर्थ में लिङ् लकार तथा कृत्य एवं तृच् प्रत्यय होते हैं। जैसे स्तोतुमर्हः स्तुत्यः। स्तुत्य का अर्थ है जिसकी स्तुति की जाये वह स्तवन क्रिया का कर्म। कर्ता अर्थ में स्तु धातु से तृच् करने पर स्तोता प्रयोग बनता है। अर्ह अर्थ में केवल लिङ् लकार बताने पर उस (लिङ्) से कृत्य एवं तृच् का बाध हो जाता, इसलिये यहाँ भी कृत्य एवं तृच् का विधान किया गया है।

२८९४। भव्यगेयप्रवचनीयोपस्थानीयजन्याप्लाव्यापात्या वा ३।४।६८।

एते कृत्यान्ताः कर्तरि वा निपात्यन्ते। पक्षे तयोरेवेति सकर्मकात्कर्मणि, अकर्मकात्तु भावे ज्ञेयाः। भवतीति भव्यः। भव्यमनेन वा। गायतीति गेयः

साम्नामयम् । गेयं सामानेन वा इत्यादि । 'शकि लिङ् च' (सू० २८२३) । चात्कृत्यः । वोढुं शक्यो वोढव्यः, वहनीयो, वाह्यः । लिङा बाधा मा भूदिति कृत्योक्तिः । लाघवादनेनैव ज्ञापनसम्भवे प्रैषादिसूत्रे 'कृत्याश्च' इति सुत्यजम् । अर्हे कृत्यतृचोर्ग्रहणं च ।

इति कृत्यप्रकरणम् ।

भव्य, गेय, प्रवचनीय, उपस्थानीय, जन्या, प्लाव्या तथा पात्या—ये शब्द कर्ता अर्थ में कृत्य प्रत्यय के निपातन से विकल्प से बनाये जाते हैं । पक्ष में 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' २८३३ सूत्र से सकर्मक धातु से कर्म में प्रत्यय होते हैं तथा अकर्मक धातु से भाव में प्रत्यय होते हैं । अकर्मक आत्मधारणानुकूलव्यापाररूप सत्तार्थक भू धातु से कर्ता अर्थ में प्रकृत सूत्र से यत् प्रत्यय का निपातन कर गुण एवम् अवादेश कर भव्यः प्रयोग होता है । यहाँ कर्ता अर्थ में अप्राप्त यत् 'भव्यगेय—' सूत्र से निपातित हुआ । भाव में अकर्मकत्व प्रयुक्त भू धातु से यत् प्रत्यय होने पर भूयते इति भव्यम् प्रयोग बनता है । गायतीति विग्रह में शब्दार्थक गै धातु कर्ता में अप्राप्त यत् प्रत्यय का एवम् आत्व का निपातन 'भव्यगेय—' २८९४ सूत्र से होने पर ईत्व एवं गुणादेश करने पर गेयः पद बनता है । अतः 'गेयः साम्नामयम्' प्रयोग होता है । गेयः का अर्थ है—गाने वाला । साम रूप कर्म अनुक्त होने से कर्म में 'कर्तृकर्मणोः कृति' ६२४ से षष्ठी विभक्ति हुई । कर्म में प्रत्यय करने पर गीयते यत्—इस विग्रह में गा धातु से कर्म साम रूप अर्थ में यत् प्रत्यय करने पर गेयम् पद बनता है । यहाँ यत् से कर्म उक्त होने के कारण कर्ता अनुक्त है । अतः कर्ता में तृतीया होने से गेयं साम अनेन ऐसा प्रयोग हुआ ।

शक्य अर्थ रहने पर लिङ् लकार तथा चकार से कृत्य प्रत्यय होता है । वोढुं शक्यः इस विग्रह में शक्य अर्थ में वह धातु से तव्यत् प्रत्यय करने पर वोढव्यः प्रयोग बनता है । इसी तरह वह + अनीयर् = वहनीयः तथा वह + ण्यत् = वाह्यः प्रयोग बनते हैं । यद्यपि 'शकि लिङ् च' सूत्र में 'च' से कृत्य का विधान पुनः आवश्यक नहीं था, किन्तु लिङ् से कृत्य का बाध न हो जाये, इसलिये 'च' से कृत्य का भी विधान किया गया ।

यद्यपि 'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्, २८३० सूत्र से विकल्प से बाध की सिद्धि हो जाती है फिर भी कृत्य का विधान किये जाने से ज्ञापित होता है कि स्त्र्यधिकार के बाद वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्' २८३० कहीं कहीं नहीं लगता है । 'च' मात्र से इस सूत्र द्वारा यह ज्ञापन सम्भव है । इस सूत्र से ज्ञापन करने में लाघव है । अतः उसी काम के लिये 'प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषुकृत्याश्च' २८१७ सूत्र में 'कृत्याश्च' एवम् 'अर्हे कृत्यतृचश्च' सूत्र में 'कृत्यतृचः' का ग्रहण छोड़ा जा सकता है । उनका ग्रहण न करना ही संगत है ।

इति रामविलासचौधरीकृतायां ध्रुवविलासिनीटीकायां कृत्यप्रक्रिया पूर्णा ।

संज्ञावाचकाः शब्दाः

१. वृद्धि

महावैयाकरण महर्षि पाणिनि द्वारा रचित 'अष्टाध्यायी' ग्रन्थ में विविध कार्य सम्पादन की दृष्टि से अनेकानेक संज्ञाओं का विधान किया गया है। इन संज्ञाओं को परिभाषित करने के लिये सूत्र लिखे गये हैं। अष्टाध्यायी के प्रथम सूत्र में वृद्धि संज्ञा को परिभाषित करते हुए आचार्य पाणिनि कहते हैं—

वृद्धिरादैच् १।१।१

इस सूत्र वृत्ति में श्रीमद्भट्टोजिदीक्षित लिखते हैं—

आदैच् वृद्धिसंज्ञः स्यात्।

अर्थात् आत् (आ) तथा ऐच् (ऐ और औ) की संज्ञा वृद्धि है। वृद्धिसंज्ञा होने का फल है कि सन्धिप्रकरण में 'वृद्धिरेचि' ६-१-८९ सूत्र से अवर्ण के परे एच् (ए, ओ, ऐ, औ) रहने पर वृद्धि एकादेश हो जाता है। इसके उदाहरण अग्रलिखित हैं—

प्र + एधते = प्रैधते। प्रष्ठ + ओहः = प्रष्ठौहः।

देव + ऐश्वर्यम् = देवैश्वर्यम्। महा + औषध = महौषध।

इसी प्रकार 'अ' तथा 'ऋ' मिलकर 'आ' वद्धि एकादेश हो जाता है इसके लिये पाणिनीय-सूत्र है—उपसर्गादृति धातौ ६-१-९०। अर्थात् अवर्णान्त उपसर्ग और परवर्ती ह्रस्व ऋकारादि धातुओं के अवयव भूत ऋ के स्थान में अर्थात् 'अ' और 'ऋ' मिलकर 'आ' वृद्धि एकादेश हो जाता है। फलतः 'उरण् रपरः' १-१-५१ सूत्र से रपरत्व हो जाता है। यथा—प्र + ऋच्छति = प्रार्च्छति। इसी तरह उप + ऋच्छति = उपार्च्छति।

तिङन्त प्रकरण मे धातु के स्वर की वृद्धि होती है। जैसे भिद् धातु से लङ् लकार में धातु के स्वर (इ) की वृद्धि (ऐ) होने पर अभैत्सीत् रूप बनता है।

कृदन्त प्रकरण में धातु से परे ञित् ('ञ्' की जिसमें इत्संज्ञा हो) या णित् ('ण्' को जहाँ इत्संज्ञा हो) प्रत्यय के रहने पर 'अचो ञ्णिति' ७-१-१५५ सूत्र से अजन्त अङ्ग की वृद्धि हो जाती है। जैसे नी + ण्वुल् = नायकः। हृ + ण्वुल् = हारकः। धातु के उपधा में 'अत्' रहने पर 'अत उपधायाः' ७-२-११६ से उसकी वृद्धि हो जाती है। जैसे पठ् + ण्यत् = पाठ्यम्। रम् + घञ् = रामः।

तद्धितप्रकरण में ञित् या णित् प्रत्यय के परे होने पर 'तद्धितेष्वचामादेः' ७-२-१७ से वृद्धि हो जाती है। जैसे—लोके विदितम्—इस विग्रह में लोक शब्द से तद्धित प्रकरण के

'लोकसर्वलोकाट्ठञ्' ५-१-४४ सूत्र से 'ठञ्' प्रत्यय होने पर 'ठ' का इकादेश होने पर ञित् के कारण आदि अच् (ओ) की वृद्धि 'तद्धितेष्वचामादेः' से होने के बाद लौकिक शब्द से प्रातिपदिकादि कार्य होने से लौकिकम् पद सिद्ध होता है।

२. गुण

पाणिनि-व्याकरण में गुणसंज्ञा के विधान के लिये अष्टाध्यायी में सूत्र है—

अदेङ् गुणः १।१।२

अर्थात् अत् (ह्रस्व अकार) तथा एङ् (= ए और ओ) की 'गुण' संज्ञा है। यह गुण 'इको गुणवृद्धी' १-१-३ सूत्र से इक् अर्थात् इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ एवं ऌ वर्ण के स्थान में होता है। 'ए' गुण 'इ' तथा 'ई' के स्थान में होता है। जैसे—जि धातु से तृच् प्रत्यय आने पर 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' ७-३-८४ सूत्र से 'इ' का गुण 'ए' होकर जेता एवम् नी धातु से तृच् आने पर 'ई' का गुण 'ए' होकर नेता आदि पद बनते हैं।

'ओ' गुण 'उ' तथा 'ऊ' के स्थान में होता है। जैसे स्तु धातु से तुमुन् प्रत्यय होने पर गुण करके स्तोतुम् तथा भू धातु से तुमुन् प्रत्यय में गुण के बाद अवादेश होकर भवितुम् पद बनता है।

'ऋ' एवम् 'ॠ' के स्थान में गुण 'अ' होता है तथा 'उरण् रपरः' १-१-५१ से रपरत्व हो जाता है जैसे—कृ + तृच् = कर्ता। तॄ + तृच् = तरिता आदि।

सन्धि प्रकरण में आद्गुणः ६-१-८७ सूत्र से अ या आ+इ=ए तथा अ या आ+उ=ओ गुण होते हैं। जैसे—

दिन + इन्द्र = दिनेन्द्र। महा + ईश = महेश।
सूर्य + उदय = सूर्योदय। गङ्गा+उदक=गङ्गोदक।

इसी प्रकार अ + ऋ = अ गुण होता है तथा 'उरण् रपरः से रपरत्व होने पर कृष्ण + ऋद्धिः = कृष्णर्द्धिः प्रयोग होता है। इसी तरह लपरत्व होने पर तव + ऌकार = तवल्कारः सिद्ध होता है।

तिङन्त प्रकरण में सिध् धातु से तिप् प्रत्यय आने पर 'पुगन्तलघूपधस्य च' ७-३-८६ सूत्र से धातु के 'इ' का गुण 'ए' होने पर सेधति प्रयोग होता है। शुच् धातु से तिप् प्रत्यय में इसी सूत्र से गुण होने पर शोचति प्रयोग होता है।

३. संयोग

संयोग संज्ञा के लिये पाणिनि-सूत्र है—

हलोऽनन्तराः संयोगः १।१।७

श्रीमद्भट्टोजिदीक्षित ने इस सूत्र की वृत्ति में लिखा है—

अज्भिरव्यवहिता हलः संयोगसंज्ञाः स्युः।

अर्थात् अच् (=स्वर) के व्यवधान से रहित हल् (=व्यञ्जन) के समूह की 'संयोग' संज्ञा है। अच् के व्यवधान से स्पष्ट है कि व्यवधान सदा विजातीयों का होता है, सजातीयों का नहीं। सूत्रस्थ 'हलः' में जाति बहुवचन होने से दो या दो से अधिक वर्णों का ग्रहण होता है।

इसका उदाहरण है शुक्लः या रम्यः। शुक्ल में 'क्' तथा 'ल' के बीच में किसी स्वर के नहीं रहने के कारण प्रकृत सूत्र से दोनों—'क्' एवं 'ल्' की संयोग संज्ञा होती है। फलतः संयोग के पर रहने से 'शु' के ह्रस्व रहने पर भी 'संयोगे गुरुः' १-४-११ सूत्र से गुरु संज्ञा होती है।

संयोग संज्ञा का दूसरा फल है—'संयोगान्तस्य लोपः' ८-२-२३ सूत्र से उसका लोप हो जाना। जैसे सुधी + उपास्यः में 'इको यणचि' ६-१-७७ सूत्र से यण् होने पर सुध् य् उपास्य की स्थिति में 'संयोगान्तस्य लोपः' सूत्र से संयोगान्त 'य्' का लोप प्राप्त होता है, किन्तु 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' इस वार्तिक से उस लोप का प्रतिषेध हो जाता है।

दूसरा उदाहरण है—स्त्यानः।

यहाँ स्त्यै धातु से क्त प्रत्यय होने पर संयोगादि आकारान्त धातु होने के कारण निष्ठा के 'क्त' के स्थान में 'न' हो जाता है जिससे स्त्यानः आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं।

४. सवर्ण

सवर्ण संज्ञा विधान के लिये पाणिनि-सूत्र है—

तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् १।१।९

भट्टोजिदीक्षित ने इसकी वृत्ति में लिखा है—

ताल्वादिस्थानमाभ्यन्तरप्रयत्नश्चेत्येतद्द्वयं येन तुल्यं तन्मिथः सवर्णसंज्ञं स्यात्।

अर्थात् तालु आदि उच्चारण स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न—ये दोनों जिन वर्णों के परस्पर एक हों उनकी सवर्ण संज्ञा होती है। जैसे—क, ख, ग, घ आदि।

इन सभी वर्णों का उच्चारण स्थान कण्ठ है तथा प्रयत्न स्पृष्ट है। इस प्रकार समान स्थानी और समान प्रयत्न वाले होने के कारण वे परस्पर सवर्णसंज्ञक हैं।

समानो वर्णः सवर्णः (सवर्ण = समान वर्ण) सवर्णसंज्ञा विधायक दूसरा सूत्र है—

'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' १।१।६९

अर्थात् अविधीयमान अण् (अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल) और उदित् (कु, चु, टु, तु, पु) वर्ण सवर्ण संज्ञक होते हैं।

यथा—'इको यणचि' ६-१-७७ सूत्र में इक् और अच् अविधीयमान है क्योंकि विधीयमान तो इक् के स्थान में यण् है। इक् प्रत्याहार और अच् प्रत्याहार दोनों अण् प्रत्याहारान्तर्गत हैं ही। अतएव दोनों अपने सवर्णों का भी बोध कराते हैं। यही कारण है

कि सुधी + उपास्यः में इकार के सवर्ण ईकार के स्थान में यण् का य् होकर सुध्युपास्यः प्रयोग निष्पन्न होता है।

वार्तिककार के अनुसार ऋ और ऌ वर्ण परस्पर सवर्णसंज्ञक होते हैं। अतः कहा है—

'ऋॢवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्'।

५. प्रगृह्य

प्रगृह्यसंज्ञा के लिये अष्टाध्यायी में सूत्र है—

ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् १।१।११

इसकी वृत्ति इस प्रकार है—

ईदूदेदन्तं द्विवचनं प्रगृह्यसंज्ञं स्यात्।

अर्थात् ईदन्त, ऊदन्त और एदन्त द्विवचनान्त शब्दों की संज्ञा 'प्रगृह्य है। तात्पर्य है कि जिस द्विवचनान्त पद के अन्त में ई (दीर्घ), ऊ (दीर्घ) तथा ए रहता है उसकी प्रगृह्यसंज्ञा होती है।

प्रगृह्यसंज्ञा का फलहै—'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' ६-१-१२५ सूत्र से प्रगृह्य संज्ञक पद से परे अच् वर्ण के रहने पर प्रकृतिभाव हो जाता है। इस प्रकार वहाँ दो स्वरों में सन्धि नहीं होती है, बल्कि पहले के समान ही रूप रह जाता है। यथा—

हरी एतौ

यहाँ 'हरी' पद ईदन्त द्विवचनान्त है। अतः 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' सूत्र से 'हरी' की प्रगृह्यसंज्ञा होती है। फलतः 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' सूत्र से प्रकतिभाव हो जाने से हरी एतौ—यहप्रकृति के समान ही रूप रह जाता है। यहाँ दो स्वरों (ई और ए) की संहिता रहने से 'इको यणचि' ६-१-७७ सूत्र से यण् प्राप्त था जिसका निषेध प्रगृह्य संज्ञा तथा प्रकृति भाव के कारण हो गया है।

ऊकारान्त का उदाहरण है—विष्णू इमौ।

एकारान्त का उदाहरण है—पचेते इमौ।

प्रगृह्यसंज्ञा करने वाला दूसरा सूत्र है—

अदसो मात् १।१।१२

अर्थात् अदस् शब्द के स्थान में हुए मकार से परवर्ती ईत ऊँत् और एव् की प्रगृह्यसंज्ञा होती है। जैसे—अमी ईशाः। यहाँ ईकार तथा ईकार की संहिता रहने से 'अकः सवर्णे दीर्घः' ६-१-९९ सूत्र से दीर्घ प्राप्त था, किन्तु 'अदसो मात्' सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा तथा 'प्लुतप्रगृत्या अचि नित्यम्' सूत्र से प्रकृति भाव होने के कारण दीर्घ का निषेध होने से 'अमी ईशाः' प्रकृत रूप ही रहता है।

इसी प्रकार 'शे' (१-१-१३) तथा 'ऊञ्' (१-१-१७) एवं 'ऊँ' (१-१-१८) आदि सूत्र प्रगृह्यसंज्ञा करने के लिये हैं।

६. घु

घुसंज्ञा के लिये अधोलिखित सूत्र है—

दाधाघ्वदाप् १।१।२०

इस सूत्र की वृत्ति में भट्टोजिदीक्षित कहते हैं—

दारूपा धारूपाश्च धातवो घुसंज्ञाः स्युः, दाप्दैपौ विना ।

अर्थात् दाप् और दैप् धातुओं को छोड़कर 'दा' के रूप में प्रस्तुत होने वाली (डुदाञ्, दाण्, दो और देङ्) धातुओं और 'धा' के रूप में उपस्थित (डुधाञ् एवं धेट्) धातुओं की संज्ञा 'घु' है।

इस घुसंज्ञा के अनेक फल होते हैं। घुसंज्ञक दा धातु से कर्म अर्थ में 'सार्वधातुके यक्' ३-१-६१ सूत्र से यक् प्रत्यय होने पर 'त' प्रत्यय में 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' ६-४-६६ सूत्र से धातु के आकार का ईकार आदेश हो जाने पर दो + यक्+ते=दीयते रूप होता है। इसी तरह धा धातु की घुसंज्ञा होने से आकार का ईत्व होने से धीयते पद बनता है।

इसी प्रकार घुसंज्ञक दा धातु से लोट लकार में सिप् प्रत्यय होने पर 'सेर्ह्यपिच्च' ३-४-८७ सूत्र से 'सि' का हि आदेश होने पर 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' ६-४-११९ सूत्र से घुसंज्ञक दा धातु के 'आ' का एत्व होने पर देहि प्रयोग बनता है।

प्र उपसर्ग पूर्वक धा धातु की घु संज्ञा 'दाधाघ्वदाप्' सूत्र से होने पर 'उपसर्गे घोः किः' ३-३-९२ सूत्र से 'कि' प्रत्यय होने पर प्रधिः पद बनता है।

धा धातु की प्रकृत सूत्र से घु संज्ञा होने पर लिङ् लकार में 'एर्लिङि' ६-४-६७ सूत्र से 'आ' का एत्व होने पर धेयात्, धेयास्ताम् तथा धेयासुः आदि प्रयोग बनते हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ और फल भी घुसंज्ञा के होते हैं।

७. निष्ठा

निष्ठा संज्ञा के लिये सूत्र है—

क्तक्तवतू निष्ठा १।१।२६

अर्थात् क्त और क्तवतु प्रत्ययों की 'निष्ठा' संज्ञा है। 'क्त' के 'क्' एवं 'क्तवतु' के 'क्' तथा 'उ' की इत्संज्ञा एवं लोप हो जाता है।

ये दोनों प्रत्यय धातु से भूतकाल के अर्थ में लगते हैं। 'क्त' प्रत्यय 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' ३-४-७० सूत्र से भाव तथा कर्म अर्थ में धातु से होता है। एवम् 'क्तवतु' प्रत्यय 'कर्तरि कृत्' ३-४-६७ सूत्र से कर्ता में होता है। इसलिये क्तप्रत्ययान्त के कर्ता से तृतीया तथा क्तवतु प्रत्ययान्त के कर्म में प्रथमा विभक्ति होती है। क्तप्रत्ययान्त के कर्म में प्रथमा तथा क्तवतु प्रत्ययान्त के कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है।

जैसे—तेन ग्रन्थः लिखितः। इस वाक्य में लिख् धातु में क्त प्रत्यय होने से इसके कर्ता में तृतीया तथा कर्म कारक में प्रथमा विभक्ति हुई है। इस वाक्य का अर्थ है उसके द्वारा ग्रन्थ लिखा गया।

इसी प्रकार—सः ग्रन्थं लिखितवान् इस वाक्य में लिख् धातु से क्तवतु प्रत्यय होने पर लिखितवत् शब्द से लिखितवान् पद बना है। इसके कर्ता में प्रथमा तथा कर्म में द्वितीया विभक्ति हुई है।

अकर्मक धातु से कर्ता अर्थ में भी 'क्त' प्रत्यय भूतकाल में होता है। ऐसा कर्तृवाच्य में देखा जाता है। जैसे—मोहनः हसितः। यहाँ हस् धातु से क्त प्रत्यय कर्ता अर्थ में हुआ है। अतः हस् + क्त = हसित शब्द से प्रातिपदिकादि कार्य होने पर सु विभक्ति में हसितः पद बना है। कर्तृवाच्य होने से इसके कर्ता में प्रथमा विभक्ति हुई है।

भाव वाच्य में क्त प्रत्यय का उदाहरण है—तेन धावितम्।

८. सम्प्रसारण

सम्प्रसारण संज्ञा के लिये महर्षि पाणिनि का सूत्र है—

इग्यणः सम्प्रसारणम् १।१।४५

भट्टोजिदीक्षित इस सूत्र की वृत्ति में लिखते हैं।

यणः स्थाने प्रयुज्यमानः इक् सम्प्रसारणसंज्ञः स्यात्।

इसका अर्थ है—यण् (य्, व् र् ल्) के स्थान में आने वाले इक् (इ, उ, ऋ, ऌ) की संज्ञा 'सम्प्रसारण' है।

'इको यणचि' ६-१-७७ सूत्र से इक् (इ, उ, ऋ, ऌ) के स्थान में यण् (य्, व्, र् ल्) होता है जबकि 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' सूत्र से यण् के स्थान में इक् सम्प्रसारण होता है। इस प्रकार यह 'इको यणचि' का विपरीत है।

सम्प्रसारण का उदाहरण है—यूनः। यहाँ युवन् शब्द से शस् विभक्ति में 'लशक्वतद्धिते' १-३-८ सूत्र से 'श्' की इत्संज्ञा होने पर लोप के बाद युवन् अस् की स्थिति में 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' ६-४-१३३ सूत्र से 'व्' (यण्) के स्थान में 'उ' (इक्) सम्प्रसारण होने पर 'यु उ न् अस्' की स्थिति में दीर्घ के बाद सु का रुत्व एवं विसर्ग होने पर यूनः पद सिद्ध होता है।

इसी प्रकार विश्वं वहति इस विग्रह में विश्ववाह् शब्द से शस् विभक्ति में 'श्' की इत्संज्ञा एवं लोप के बाद 'वाह ऊठ्' ६-४-१३२ सूत्र से 'व्' के स्थान में ऊठ् सम्प्रसारण होने पर 'एत्येधत्यूठसु' ६-१-८९ सूत्र से वृद्धि होने पर रुत्व एवं विसर्ग के बाद विश्वौहः पद सिद्ध होता है।

९. लोप

लोपसंज्ञा के लिये अष्टाध्यायी में सूत्र है—

अदर्शनं लोपः १।१।६०

इस सू की वृत्ति में भट्टोजिदीक्षित ने कहा है—

प्रसक्तस्यादर्शनं लोपसंज्ञं स्यात् ।

अर्थ है—प्रसक्त या विद्यमान के अदर्शन (नहीं दिखायी पड़ना) की संज्ञा लोप है।

प्रत्ययों, विभक्तियों या आदेश के लोप के लिये अनेक सूत्र अष्टाध्यायी में पढे गये हैं। उनमें एक है—'लोपः शाकल्यस्य' ८-३-१९

हरे+इह इस विच्छेद में 'एचोऽयवायावः' सूत्र से अयादेश होने पर हर् अय् इह की स्थिति में 'लोपः शाकल्यस्य' से 'य्' का लोप विकल्प से होने पर हर इह प्रयोग होता है'। चूंकि यह लोप विकल्प से होता है। अतः पक्ष में लोप नहीं होने पर हरयिह प्रयोग भी होता है।

लोप करने के लिये दूसरा सूत्र है—

हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्य पृक्तं हल् ६।१।६७

अर्थात् हलन्त, दीर्घीभूत ङी एवम् आप् से परवर्ती अपृक्तसंज्ञक सु (स्), ति (=त्) और सि (स्) का लोप हो जाता है। जैसे—नदी शब्द से सु विभक्ति के आने पर अपृक्त हल् 'स्' का 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' सूत्र से लोप हो जाने पर नदी पद बनता है।

लोप के लिये अन्य सूत्र है—

न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य ८।२।७

अर्थात् प्रातिपदिकसंज्ञक पद के अन्त्य नकार का लोप हो जाता है। इसका उदाहरण है— राजा। यहाँ राजन् शब्द से सु विभक्ति के आने पर 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' सूत्र से 'न्' का लोप होने पर दीर्घ होता है तथा 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्—' सूत्र से सु का लोप होने पर राजा पद सिद्ध होता है।

१०. टि

लघुसंज्ञाओं में टिसंज्ञा महत्त्वपूर्ण है। इस संज्ञा के लिये अष्टाध्यायी में अग्रलिखित सूत्र है—

अचोऽन्त्यादि टि १।१।६४

इस सूत्र की वृत्ति में वृत्तिकार कहते हैं—

अचां मध्ये योऽन्त्यः स आदिर्यस्य तट्टिसंज्ञं स्यात् ।

अर्थात् किसी शब्द के अङ्गभूत स्वरों में अन्तिम स्वर से लेकर अवशिष्ट अंश की 'टि' संज्ञा होती है। तात्पर्य है कि किसी शब्द में रहने वाले अचों में जो अन्तिम अच्

(अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ औ) होता है वह (अन्तिम अच्) जिसके आदि में हो उस समुदाय की टि संज्ञा होती है। इसका उदाहरण है—

मनस् + ईषा = मनीषा

यहाँ मनस् में दो अच् (अ) हैं जिनमें अन्तिम अच् है—'न' का 'अ'। यह 'अ' यहाँ 'अस्' के आदि में है। अतः 'अस्' की टि संज्ञा होती है। फलतः 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' इस वार्तिक से टि (अस्) का पररूप हो जाता है। इस प्रकार 'अस्' परवती 'ई' में मिल जाता है। अतः मनीषा पद सिद्ध होता है।

इसी प्रकार आत्मनेपदी एध धातु से लट् लकार के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'त' के 'अ' की टिसंज्ञा 'अचोऽन्त्यादि टि' सूत्र से होती है। इसलिये 'टित आत्मनेपदानां टेरे' सूत्र से टिसंज्ञक 'अ' का 'ए' आदेश होने पर एधते रूप बनता है।

यहाँ 'त' प्रत्यय में अन्तिम अच् (अ) के बाद कोई अन्य वर्ण नहीं है। अतः व्यपदेशिवद् न्याय से अन्तिम अच् (अ) की टिसंज्ञा प्रकृत सूत्र से हुई है।

'नस्तद्धिते' ६-४-१४४ सूत्र से तद्धित प्रत्यय के परे नकारान्त 'भ' संज्ञक शब्द के 'टि' का लोप हो जाता है जैसे राज्ञः समीपम्—इस विग्रह में टच् प्रत्यय होने पर उपराजन् के टि (अन्) का लोप होने पर उपराजम् पद बनता है।

११. उपधा

उपधासंज्ञा के लिये अष्टाध्यायी में सूत्र है—

अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा १।१।६५

इस सूत्र की वृत्ति इस प्रकार है—

अन्त्यादलः पूर्वो वर्ण उपधासंज्ञः स्यात्।

अर्थात् शब्द या धातु के अन्तिम अल् (वर्ण) से पूर्व में रहने वाले वर्ण की उपधासंज्ञा होती है। उपधासंज्ञा करने के अनेक प्रयोजन हैं। इसका उदाहरण है—राजानौ।

राजन् शब्द से औ विभक्ति में राजन् शब्द के अन्तिम वर्ण 'न्' से पूर्व में 'अ' की उपधासंज्ञा 'अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा' सूत्र से होती है। फलतः 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' ६-४-८ सूत्र से उपधासंज्ञक 'अ' का दीर्घ होकर राजानौ पद निष्पन्न होता है।

कृदन्त के कृत्य प्रकरण में शप्यम्, लभ्यम् आदि इसके उदाहरण हैं। यहाँ शप् एवं लभ् धातु की उपधा में 'अ' रहने के कारण 'पोरदुपधात्' ३-१-९८ सूत्र से यत् प्रत्यय होने पर शप्यम् एवं लभ्यम् आदि प्रयोग बनते हैं।

पूर्व कृदन्त प्रकरण में पठ् धातु से कर्ता अर्थ में ण्वुल् प्रत्यय आने पर 'अत उपधायाः' ७-२-११६ सूत्र से धातु की उपधा (अ) की वृद्धि (आ) होने से पाठकः पद बनता है।

हलन्त पुंल्लिङ्ग प्रकरण में गुणिन् शब्द से सु विभक्ति के आने पर 'न्' से पूर्ववर्ती 'इ' की उपधासंज्ञा प्रकृत सूत्र से होने पर 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' सूत्र से दीर्घ होकर 'न्' एवं 'सु' लोप के बाद गुणी पद बनता है।

राजन् शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होने पर राजन् शब्द में उपधा भूत 'अ' का लोप होने के बाद राज्ञी रूप होता है।

१२. अपृक्त

अपृक्त संज्ञा के लिये महर्षि पाणिनि का सूत्र है—

अपृक्त एकाल्प्रत्ययः १।२।४१

कौमुदीकार इस सूत्र की वृत्ति में लिखते हैं—

एकाल्प्रत्ययो यः सोऽपृक्तसंज्ञः स्यात्।

अर्थात् एक अल् (वर्ण) से निष्पन्न प्रत्यय की संज्ञा अपृक्त है। आशय है कि जो प्रत्यय एक वर्ण रूप हो अथवा जिसका एक वर्ण रूप हो गया हो उसकी अपृक्त संज्ञा होती है।

अपृक्तसंज्ञा के अनेक प्रयोजन हैं—

जिस एकाल्प्रत्यय की अपृक्त संज्ञा होती है उसका 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' ६-१-६७ सूत्र से लोप हो जाता है। जैसे सखि शब्द से सु विभक्ति में अनङ् आदेश तथा उपधा दीर्घ के बाद 'सु' के 'उ' की इत्संज्ञा होने पर सखान् स् की स्थिति में एकाल्प्रत्यय (स्) की अपृक्त संज्ञा 'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' सूत्र से होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' ६-१-६७ से स् का लोप हो जाता है। अतः 'न्' लोप के बाद सखा रूप बनता है।

इसी प्रकार हन् धातु से लङ् लकार में तिप् प्रत्यय के आने पर 'अहन् ति' की स्थिति में 'इतश्च' ३-४-१०० सूत्र से 'इ' लोप के बाद 'त्' प्रत्यय के एकाल् होने से प्रकृत सूत्र से अपृक्त संज्ञा होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो' सूत्र से 'त्' का लोप होकर अहन् रूप बनता है।

• कुमारी शब्द से सु विभक्ति में 'स्' के एकाल् होने के कारण 'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' से अपृक्त संज्ञक स् का लोप 'हल्ङ्याब्भ्यो—' से होने पर कुमारी पद सिद्ध होता है।

वच् धातु से क्विप् प्रत्यय होने पर क्, इ तथा प् की इत्संज्ञा के बाद 'वच् व' की स्थिति में 'व्' के एकाल् होने के कारण प्रकृत सूत्र से अपृक्त संज्ञा होती है। फलतः 'वेरपृक्तस्य' ६-१-६७ सूत्र से 'व्' का लोप होने पर वाक् शब्द सिद्ध होता है।

१३. उपसर्जन

उपसर्जन संज्ञा के लिये अष्टाध्यायी में सूत्र है—

प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् १।२।४३

इसकी वृत्ति में वृत्तिकार ने कहा है—

समासशास्त्रे प्रथमानिर्दिष्टमुपसर्जनसंज्ञं स्यात्।

अर्थात् समास विधायक सूत्रों में जो पद प्रथमा विभक्ति में निर्दिष्ट हो उसकी उपसर्जनसंज्ञा होती है। तात्पर्य है कि अव्ययीभाव तथा तत्पुरुष समास आदि के विधान करने वाले सूत्रों में प्रथमा विभक्ति से जिस पद का निर्देश हो उसे उपसर्जन कहते हैं।

उपसर्जन संज्ञा होने का फल है कि 'उपसर्जनं पूर्वम्' सूत्र से उपसर्जन संज्ञक पद का पूर्व प्रयोग हो जाता है। यथा—उपकृष्णम्।

यहाँ कृष्णस्य समीपम् इस विग्रह में समीप अर्थ में विद्यमान 'उप' अव्यय का कृष्ण के साथ 'अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धि' आदि २-१-६ सूत्र से समास होता है। इस सूत्र में 'अव्ययम्' पद प्रथमा विभक्ति में है। इसलिये अव्ययभूत 'उप' की उपसर्जनसंज्ञा इस सूत्र से होती है। फलतः 'उपसर्जनं पूर्वम्' सूत्र से 'उप' का पूर्व प्रयोग होने पर सु विभक्ति में उपकृष्णम् पद बनता है।

उपसर्जन संज्ञा करने के लिये दूसरा सूत्र है—

एकविभक्ति चापूर्वनिपाते १।२।४४

इस सूत्र से विग्रह में नियत विभक्ति वाले पद की उपसर्जन संज्ञा होती है, किन्तु उसका पूर्वनिपात नहीं होता है, बल्कि इससे उपसर्जन संज्ञक होने पर ह्रस्व आदि अन्य कार्य होते हैं। जैसे—अतिमालः।

मालामतिक्रान्तः इस विग्रह में 'मालाम्' यह नियत विभक्तिक है। इसलिये 'एकविभक्ति चापूर्वनिपाते' सूत्र से उसकी उपसर्जनसंज्ञा होती है और फलतः 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' १-२-४८ सूत्र से उसका ह्रस्व होने पर अतिमाल शब्द से सु विभक्ति में अतिमालः पद सिद्ध होता है।

१४. प्रातिपदिक

प्रातिपदिकसंज्ञा के लिये पाणिनि का सूत्र है—

अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् १।२।४५

इस सूत्र की वृत्ति में कहा गया है—

धातुं प्रत्ययं प्रत्ययान्तं च वर्जयित्वाऽर्थवच्छब्दस्वरूपं प्रातिपदिकसंज्ञं स्यात्।

अर्थात् धातु भिन्न, प्रत्यय भिन्न और प्रत्ययान्त तदादि भिन्न अर्थवान् शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा होती है यह अन्वर्थक (अर्थानुसारी) संज्ञा है इसका विग्रह इस प्रकार है—पदम् पदम् प्रतिपदम्। प्रतिपदम् अर्हति इस विग्रह में 'तदर्हति' ५-१-६३ इस तद्धित सूत्र से 'ठक्' प्रत्यय होने पर 'ठस्येकः' ७-३-५० सूत्र से इक आदेश तथा आदि वृद्धि के बाद प्रातिपदिकम् बना है।

प्रातिपदिकसंज्ञा होने के फलस्वरूप 'ङ्याप्प्रातिपदिकात् ४-१-१ सूत्र के अनुसार राम आदि शब्दों से सु आदि विभक्तियाँ आती हैं। तब रामः आदि पद सिद्ध होते हैं।

इस सूत्र से प्रातिपदिक संज्ञा अव्युत्पन्न शब्दों से ही होती है जिससे विभक्ति आने पर वे पद बनते हैं।

प्रातिपदिकसंज्ञा करने के लिये दूसरा सूत्र है—

कृत्तद्धितसमासाश्च १।२।४६

कृत् और तद्धित प्रत्यय होते हैं। इसलिये 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' सूत्र से उनकी प्रातिपदिकसंज्ञा प्राप्त नहीं थी। अतः यह दूसरा सूत्र लिखा गया है। इस सूत्र का अर्थ है कि कृदन्त, तद्धितान्त और समासयुक्त शब्दों की भी प्रातिपदिकसंज्ञा होती है।

कृदन्त का उदाहरण है—पाठकः। यहाँ पठ् धातु से कर्ता अर्थ में ण्वुल् प्रत्यय होने से पाठक शब्द के कृदन्त होने के कारण 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से प्रातिपदिकसंज्ञा होने पर सु विभक्ति में रुत्व तथा विसर्ग होने पर पाठकः पद होता है।

तद्धित का उदाहरण है—वैयाकरणः। व्याकरणमधीते वेत्ति वा इस विग्रह में 'तदधीते तद्वेद' ४-२-५९ सूत्र से व्याकरण शब्द से अण् प्रत्यय होने से वैयाकरण शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा 'कृत्तद्धितसमासाश्च' सूत्र से होने पर सु विभक्ति में वैयाकरणः पद सिद्ध होता है।

समास का उदाहरण है—राजपुरुषः। राज्ञः पुरुषः इस विग्रह में 'षष्ठी' सूत्र से समास होने पर 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से प्रातिपदिकसंज्ञा के बाद विभक्ति के लुक् तथा पूर्वप्रयोग आदि कार्य के बाद राजपुरुष शब्द की पुनः प्रातिपदिकसंज्ञा 'कृत्तद्धितसमासाश्च' सूत्र से होने पर सु विभक्ति में राजपुरुषः पद बनता है।

१५. धातु

धातुसंज्ञा विधान के लिए पाणिनि का सूत्र है—

भूवादयो धातवः १।३।१

इस धातु संज्ञा विधायक सूत्र की वृत्ति में लिखा है—

क्रियावाचिनो भ्वादयो धातुसंज्ञाः स्युः।

अर्थात् भू आदि के सदृश क्रिया वाचक शब्दों की धातुसंज्ञा होती हैं। 'भूवादयः' की व्युत्पत्ति में सिद्धान्तकौमुदी के बालमनोरमा-टीकाकार श्री वासुदेव दीक्षित कहते हैं—'भूश्च वाश्च भूवौ। आदिश्च आदिश्च आदी। प्रथम आदिशब्दः प्रभृतिवचनः, द्वितीयस्तु प्रकारवचनः। भूवौ आदी येषान्ते भूवादयः। भूप्रभृतयो वासदृशाश्च ये, ते धातुसंज्ञका इत्यर्थः।

वा एक धातु है जिसका अर्थ गति है। उससे वाति रूप होता है। यहाँ वा का अर्थ है—सदृश। अतः तात्पर्य है कि भू आदि और वा के सदृश जो क्रियावाचक शब्द हो उसकी धातु संज्ञा होती है। इस प्रकार धातु-पाठ में पठित शब्द क्रिया अर्थ में जब प्रयुक्त होते हैं तब उन्हें धातु कहा जाता है। जैसे—भू = होना जब क्रिया को प्रकट करता है तब 'भूवादयो धातवः' सूत्र से भू की धातु संज्ञा होती है। फलतः भू धातु से लट्, लोट् आदि लकार में तिप् आदि प्रत्यय लगते हैं। जिससे भवति, भवतु आदि पद बनते हैं।

किन्तु जब भू का अर्थ पृथ्वी होता है तब इसकी धातुसंज्ञा नहीं होती है क्योंकि इस स्थिति में यह क्रियावाचक न होकर संज्ञा मात्र रहता है। अतः इससे तिप्, तस् आदि प्रत्यय नहीं होते हैं।

धातुसंज्ञा का फल है कि 'धातोः' के अधिकार में विहित सभी तिङ् प्रत्यय धातु से ही होते हैं। जैसे पठ् धातु से तिप् करने पर पठति पद बनता है। सेव धातु से त प्रत्यय आने पर सेवते रूप होता है।

धातु से तिङ् प्रत्यय के अलावा कृत् प्रत्यय भी होते हैं। जैसे—गम् + क्त = गतः। पठ् + क्तवतु = पठितवान्। दृश + अनीयर् = दर्शनीयम् भुज् + तृच् = भोक्ता आदि पद सिद्ध होते हैं।

१६. इत्

पाणिनि व्याकरण में इत् संज्ञा के लिये सूत्र है—

उपदेशेऽजनुनासिक इत् १।३।२

इस सूत्र की वृत्ति में भट्टोजिदीक्षित कहते हैं—

उपदेशेऽनुनासिकोऽजित्संज्ञकः स्यात्।

अर्थात् उपदेश अवस्था में अनुनासिक अच् की 'इत्' संज्ञा होती है। जैसे 'सु' विभक्ति में 'उ' की इत्संज्ञा प्रकृत सूत्र से होती है। इत्संज्ञा होने का फल है कि 'तस्य लोपः' १-३-९ से उसका लोप हो जाता है।

'हलन्त्यम्' १-३-३ सूत्र से अन्त्य हल् (व्यञ्जन) की इत्संज्ञा होती है। 'अइउण्' आदि सूत्रों के अन्त में रहने वाले हल् वर्णों की इत्संज्ञा होती है और 'तस्य लोपः' से उनका लोप हो जाता है। वे 'इत्' कहलाते हैं। इसलिये 'आदिरन्त्येन सहेता' १-१-७१ सूत्र से प्रत्याहार की सिद्धि की जाती है।

इसी तरह कित् ('क्' की जहाँ इत्संज्ञा होती है।) णित् ('ण्' की इत्संज्ञा होने पर) आदि के कारण विभिन्न कार्यों का विधान किया जाता है। जैसे चि धातु से क्त्वा प्रत्यय होने पर इस क्त्वा प्रत्यय के आर्धधातुक होने के कारण 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' ७-३-८४ सूत्र से 'चि' के 'इ' का गुण (ए) प्राप्त था किन्तु क्त्वा में 'क्' की इत्संज्ञा होने से कित् के कारण 'क्ङिति च' १-१-५ सूत्र से गुण का निषेध हो जाता है। अतः चित्वा रूप ही होता है।

पठ् धातु से कर्ता अर्थ में ण्वुल् प्रत्यय होने पर 'ण्' की इत्संज्ञा होने के कारण णित् होने से 'अत उपधायाः' ७-२-११६' सूत्र से उपधा (अ) की वृद्धि होने से पाठकः पद बनता है।

'चुटू' १-३-७ सूत्र से प्रत्यय के आदि में रहने वाले चवर्ग (च्, छ्, ज्, झ, ञ्) तथा टवर्ग (ट् ठ् ड् ढ ण्) की इत्संज्ञा होती है। अतः राम शब्द से जस् विभक्ति में 'चुटू' १-३-७

से 'ज्' की इत्संज्ञा होने पर 'तस्य लोपः' से लोप के बाद दीर्घ करके रुत्व एवं विसर्ग के बाद रामाः पद बनता है।

'लशक्वतद्धिते' १-३-८ सूत्र से तद्धितभिन्न प्रत्ययों के आदि में आये लकार, शकार एवं कवर्ग की इत्संज्ञा होती है। अतः राम शब्द से शस् विभक्ति में इस सूत्र से श् की इत्संज्ञा होने पर दीर्घ एवं 'न्' होने के बाद रामान् पद बनता है।

१७. आत्मनेपद

आत्मनेपद विधान के लिए अष्टाध्यायी में सूत्र है—

तङानावात्मनेपदम् १।४।१००

इस सूत्र की वृत्ति में लिखा है—

तङ् प्रत्याहारः शानच्कानचौ चैतत्संज्ञाः स्युः।

अर्थात् तङ् प्रत्याहार (त, आताम्, झ, थास्, आथाम्, ध्वम्, इट्, वहिङ् और महिङ्) तथा शानच् और कानच् प्रत्ययों की संज्ञा 'आत्मनेपद' है। भाव यह है कि जिस धातु की आत्मनेपद संज्ञा होती है उससे तङ् (त आताम् झ आदि) प्रत्यय तथा शानच् एव कानच् प्रत्यय आते हैं। ये तङ् प्रत्यय तथा आन (शानच् एवं कानच्) प्रत्यय सामान्यतः अनुदात्तेत् (जिसमें अनुदात्त की इत्संज्ञा होती है) तथा ङित् (ङ् की जिसमें इत्संज्ञा होती है) धातुओं से होते हैं। इसके लिये सूत्र है—

अनुदात्तङित आत्मनेपदम् १।३।१२

यथा—सेव धातु के अनुदात्तेत् होने से 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' १-३-१२ सूत्र से आत्मनेपद होने पर 'तङानावात्मनेपदम्' सूत्र से 'त' प्रत्यय के आने से टि (अ) का एत्व होने से सेवते पद बनता है।

इसी प्रकार शीङ् धातु के 'ङ्' की इत्संज्ञा होने के कारण ङित् धातु (शीङ्) से आत्मनेपद प्रकृत सूत्र से होने पर 'तङानावात्मनेपदम्' से 'त' प्रत्यय आने पर एत्व के बाद शेते रूप बनता है।

आत्मनेपद विधान के लिये दूसरा सामान्य सूत्र है—'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' १-३-७२ अर्थात् स्वरितेत् तथा ञित् धातुओं से कर्तृगामी क्रिया फल होने पर आत्मनेपद हो जाता है। अतः परगामी क्रियाफल होने से परस्मैपद होता है। यथा-यज् धातु से यजते एवं यजति दोनों रूप होते हैं।

यज धातु में जकारोत्तरवर्ती अकार स्वरित और इत्संज्ञक है। अतः यह स्वरितेत् धातु है। इसलिये जब कर्ता अपने लिये फल की प्राप्ति हेतु यज्ञ करे तब यज् धातु से आत्मनेपद होने पर त प्रत्यय में यजते रूप होता है, किन्तु यदि यज्ञ का फल परगामी हो अर्थात् कर्ता दूसरे के लिये यज्ञ कर रहा हो तब परस्मैपद में यजति प्रयोग होता है।

१८. परस्मैपद

परस्मैपद के विधान के लिये पाणिनि का सूत्र है—

लः परस्मैपदम् १।४।९९

इसकी वृत्ति में कहते हैं—लादेशाः परस्मैपदसंज्ञा स्युः अर्थात् लकार के स्थान में विहित आदेशों की संज्ञा परस्मैपद है। लकार के स्थान में तिप्, तस्, झि, सिप्, थस्, थ, मिप्, वस्, मस्, त, आताम्, झ, थास्, आथाम्, ध्वम्, इट्, वहिङ्, महिङ्,—ये अठारह प्रत्यय होते हैं। इन प्रत्ययों के अतिरिक्त लकारों से 'लिटः कानज्वा' ३-२-१०६ से कानच्, 'क्वसुश्च' ३-१-१०७ से क्वसु' लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे' ३-२-१२४ से शतृ एवं शानच्, 'लृटः सद्वा' ३-३-१४ से विकल्प से शतृ और शानच् प्रत्यय आदेश होते हैं।

इस परस्मैपद का अपवादभूत सूत्र है—

तङानावात्मनेपदम् १।४।१००

इससे तङ् प्रत्यय (त, आताम् झ आदि नौ प्रत्यय) तथा शानच् और कानच् प्रत्यय आत्मनेपद में होते हैं। अतः इन प्रत्ययों के अतिरिक्त तिप्, तस् झि आदि नौ प्रत्यय और शतृ प्रत्यय परस्मैपदी धातु से आते हैं। ये प्रत्यय कर्ता अर्थ में आते हैं। अतः पाणिनि का सूत्र है—

शेषात्कर्तरि परस्मैपदम् १।३।७८

अर्थात् आत्मनेपद निर्देश से बचे हुए धातुओं से कर्ता अर्थ में आने वाले तिप् तस् झि आदि प्रत्यय परस्मैपदी धातुओं से लगते हैं। जैसे—

पठ् धातु से लट् के स्थान में तिप् करने पर पठति रूप होता है। गम् धातु से लट् के स्थान में शतृ प्रत्यय आने पर पुंल्लिङ्ग में गच्छन् रूप होता है।

स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले १-३-७२ सूत्र से कर्तृगामी क्रियाफल रहने से आत्मनेपद होता है परन्तु परगामी क्रियाफल होने से धातु से परस्मैपद होता है। जैसे — पुरोहितो यजति अर्थात् पुरोहित दक्षिणा पाकर दूसरे के लिए यज्ञ करता है।

१९. नदी

नदीसंज्ञाविधायक सूत्र अग्रलिखित है—

यू स्त्र्याख्यौ नदी १।४।३

अर्थात् ईकारान्त और ऊकारान्त नित्य स्त्रीलिङ्ग शब्दों की 'नदी' संज्ञा है। नित्य स्त्रीलिङ्ग शब्द वे हैं जिनका प्रयोग स्त्रीलिङ्ग में ही होगा है। जैसे—लक्ष्मी, श्री नदी, वधू आदि। ये सभी शब्द ईकारान्त या ऊकारान्त होने के कारण नदीसंज्ञक हैं।

इस सूत्र के सन्दर्भ में एक वार्तिक है—

प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च।

इसका अर्थ है कि मौलिक अवस्था का लिङ्ग माना जाये। अर्थात् जो शब्द पहले स्त्रीलिङ्ग हो और उपसर्जन के कारण वह अन्य लिङ्ग हो गया हो तब भी उसकी नदीसंज्ञा होनी चाहिये। जैसे—श्रेयसी शब्द ईकारान्त होने के कारण स्त्रीलिङ्ग है। अतः प्रकृत सूत्र से उसकी नदीसंज्ञा होती है। किन्तु बहु के साथ समास होने पर श्रेयसी शब्द के गौण हो जाने से बहुश्रेयसी शब्द पुंल्लिग हो जाता है। अतः उसकी नदीसंज्ञा नहीं हो सकती। इसी कारण 'प्रथमलिंगग्रहणञ्च' वार्तिक से प्रथम लिंग को लेकर स्त्रीलिंग न होने पर भी श्रेयसी शब्द की नदी संज्ञा हो जाती है। फलतः बहुश्रेयसी शब्द से ङे विभक्ति में बहुश्रेयस्यै पद बनता है।

नदीसंविधान के चार प्रयोजन हैं—

(क) नदीसंज्ञक शब्द के सम्बोधन में उस शब्द के अन्तिम स्वर का 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' ७-३-१०७ से ह्रस्व हो जाने पर 'हे नदि', 'हे वधु' आदि रूप सिद्ध होते हैं।

(ख) नदीसंज्ञक शब्द से परवर्ती ङिद्वचनों को आट् आगम हो जाता है 'आण्नद्याः' ७-३-११२ सूत्र से। फलतः 'आटश्च' ६-१-९० सूत्र से वृद्धि होने पर नदी शब्द से ङे विभक्ति में नद्यै तथा वधू शब्द से ङस् विभक्ति में वध्वाः रूप होता है।

(ग) नदी शब्द से आम् विभक्ति में 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' ७-१-५४ सूत्र से नुट् का आगम होने पर 'नदीनाम्' बनता है। इसी तरह वधू से वधूनाम् तथा स्त्री से स्त्रीणाम् पद होता है।

(घ) नदीसंज्ञक शब्द से 'ङि' विभक्ति आने पर 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' सूत्र से 'ङि' का 'आम्' आदेश होने पर नदी से नद्याम् तथा लक्ष्मी से लक्ष्म्याम् एवम् वधू से वध्वाम् रूप बनते हैं।

२०. घि

घिसंज्ञा के विधान के लिए पाणिनि-सूत्र है—

शेषो घ्यसखि १।४।७

इस सूत्र की वृत्ति में भट्टोजिदीक्षित लिखते हैं—

अनदीसंज्ञौ ह्रस्वौ याविवर्णोवर्णौ तदन्तं सखिवर्जं घिसंज्ञं स्यात्।

अर्थात् सखि शब्द को छोड़कर नदीसंज्ञक से भिन्न ह्रस्व इकारान्त और ह्रस्व उकारान्त शब्द की घि संज्ञा होती है। जैसे—हरि, भानु, शम्भु, गुरु आदि।

घिसंज्ञा के अनेक कार्य हैं—

मुनि शब्द की घिसंज्ञा 'शेषोघ्यसखि' सूत्र से होने पर टा विभक्ति में 'आङो नाऽस्त्रियाम्' ७-३-१२० सूत्र से 'टा' का 'ना' आदेश होने पर मुनिना रूप होता है। इसी तरह शम्भु + टा = शम्भुना पद होता है।

घिसंज्ञक शब्द से परे ङित् सुप् विभक्ति के रहने पर 'घेर्ङिति' ७-३-१११ सूत्र से शब्द के अन्तिम वर्ण का गुण हो जाता है। जैसे—मुनि शब्द से ङे विभक्ति में 'ङ' की

इत्संज्ञा के बाद गुण होने पर अयादेश करने से मुनये पद बनता है। साधु शब्द से ङे विभक्ति में 'उ' का गुण (ओ) होने पर अवादेश करने के बाद साधवे रूप होता है।

इसी प्रकार घिसंज्ञक कवि शब्द से 'ङि' विभक्ति आने पर 'अच्च घेः' ७-३-११९ सूत्र से 'ङि' का 'औ' तथा हरि के 'इ' का 'अ' होने पर वृद्धि होने से हरौ पद बनता है। भानु से ङि विभक्ति में भानौ रूप होता है।

हरिश्च हरश्च इस विग्रह में 'चार्थे द्वन्द्वः' २-२-२९ सूत्र से द्वन्द्व समास होने पर 'द्वन्द्वे घि' २-२-३२ सूत्र से घिसंज्ञक हरिशब्द का पूर्वप्रयोग होने पर हरिहरौ पद सिद्ध होता है।

पति शब्द की घि संज्ञा समास में ही होती है। इसके लिये सूत्र है—'पतिः समास एव' १-४-८। इसलिये भुवः पतिः इस विग्रह में षष्ठी तत्पुरुष समास होने पर भूपति शब्द की घिसंज्ञा प्रकृत सूत्र से होने पर टा विभक्ति में 'आङो नाऽस्त्रियाम्' सूत्र से 'ना' आदेश होने पर भूपतिना पद बनता है। समास की स्थिति नहीं रहने पर पति शब्द से टा विभक्ति में घिसंज्ञा के अभाव में पत्या रूप होता है।

२१. अङ्ग

अङ्गसंज्ञा विधान के लिये महर्षि पाणिनि का सूत्र है—

यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादिप्रत्ययेऽङ्गम् १।४।१३

इस सूत्र की वृत्ति में भट्टोजिदीक्षित ने लिखा है—

यः प्रत्ययो यस्मात्क्रियते तदादि शब्दस्वरूपं तस्मिन्प्रत्यये परेऽङ्गसंज्ञं स्यात्।

अर्थात् जो प्रत्यय जिस प्रकृति से विहित हो उस प्रत्यय के आदि में रहने वाले शब्दस्वरूप की उस प्रत्यय के परे 'अङ्ग' संज्ञा कही जाती है।

इसका उदहरण है—रामाणाम्।

यहाँ राम प्रातिपदिक से 'आम्' विभक्ति के आने पर 'आम्' के आदि में रहने वाला शब्दस्वरूप अदन्त राम है। इसलिये वह (राम) अदन्त अङ्ग कहा जाता है। अतः 'नामि' ६-४-३ सूत्र से उसका दीर्घ होकर रामाणाम् प्रयोग निष्पन्न होता है।

भू धातु से मिप् प्रत्यय होने पर शप् तथा गुण आदेश होने से प्रत्यय (मिप्) के आदि में शब्दस्वरूप भव है। इसलिये उसकी प्रकृत सूत्र से अङ्गसंज्ञा होकर 'अतो दीर्घो यञि' ७-३-१०१ सूत्र से दीर्घ होकर भवामि पद बनता है।

यदि सूत्र में तदादि नहीं कहा गया होता तो भव से 'मिप्' प्रत्यय नहीं हुआ है, बल्कि भू से हुआ है। अतः उसकी अङ्ग संज्ञा नहीं होती। तदादि पढ़ने से उसकी भी अङ्गसंज्ञा हो जाती है। अतः दीर्घ होता है।

इसी तरह 'भविष्यामि'—में भविष्य की अङ्गसंज्ञा होने पर दीर्घ होकर भविष्यामि पद सिद्ध होता है।

२२. पद

पदसंज्ञा विधायक सूत्र है—

सुप्तिङन्तं पदम् १।४।१४

इस सूत्र की वृत्ति इस प्रकार है—

सुबन्तं तिङन्तञ्च पदसंज्ञं स्यात् ।

अर्थात् जिसके अन्त में सुप् (सु, औ, जस् आदि २१ विभक्तियाँ) या तिङ् (तिप्, तस्, झि, सिप्, थस्, थ आदि १८ प्रत्यय) हो उस प्रकृति और प्रत्यय समुदाय की पदसंज्ञा होती है। सुबन्त का उदाहरण है—राम + सु = रामः। यहाँ राम प्रकृति है और सु सुप् है। अतः इनके मिलने से रामः पद बनता है।

इसी तरह तिङन्त का उदाहरण है—पठति। यहाँ पठ् प्रकृति है और 'तिप्' तिङ् है। अतः इन दोनों (प्रकृति और प्रत्यय) के मिलने से पठति पद बना है।

'पद' का प्रयोग 'एङः पदान्तादति' ६-१-१०९ आदि सूत्रों में देखा जाता है। इन अन्वित पदों के समूह को वाक्य कहा जाता है जिसका प्रयोग लोक में होता है। 'एङः पदान्तादति' सूत्र से पदान्त एङ् (ए, ओ) से परे अत् रहने पर पूर्वरूप एकादेश हो जाता है। उदाहरण है—हरे + अव = हरेऽव।

पदसंज्ञा करने के लिये पाणिनि का दूसरा सूत्र है—

स्वादिष्वसर्वनामस्थाने १।४।१७

इस सूत्र से सर्वनामस्थान को छोड़कर दूसरी सु आदि विभक्तियों के पर में रहने से केवल प्रकृति की पदसंज्ञा होती है। जैसे—राजन् शब्द से 'भ्याम्' विभक्ति के आने पर 'भ्याम्' से पूर्व के राजन् शब्द की 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' से पदसंज्ञा होने के कारण ही राजन् के 'न्' का लोप 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' ८-२-७ सूत्र से होने पर राजभ्याम् रूप होता है।

इस पदसंज्ञा का उपयोग व्याकरण की प्रक्रिया मात्र में होता है, लोक में इसका प्रयोग नहीं होता है।

२३. भ

भसंज्ञा विधान के लिये पाणिनि का सूत्र है—

यचि भम् १।४।१८

इस सूत्र की वृत्ति इस प्रकार है—

यकारादिष्वजादिषु च कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु परतः पूर्वं भसंज्ञं स्यात् ।

अर्थात् 'सु' से आरम्भ कर 'कप्' प्रत्यय पर्यन्त सर्वनाम से भिन्न यकारादि तथा

अजादि प्रत्ययों के पश्चाद्वर्ती होने पर पूर्व की भ संज्ञा हो जाती है। यह संज्ञा पदसंज्ञा का अपवाद है।

भसंज्ञा का उदाहरण है—विश्वपः।

यहाँ विश्वपा शब्द से शस् (अस्) विभक्ति होने पर सर्वनामस्थान भिन्न अजादि अस् (शस्) प्रत्यय परे होने पर उससे पूर्व विश्वपा शब्द की भसंज्ञा प्रकृत सूत्र से होती है। अतः 'आतो धातोः' सूत्र से भसंज्ञक विश्वपा शब्द में आकारान्त पा धातु के अवयव भूत 'आ' का लोप हो जाता है। फलतः विश्वप् + अस् = विश्वपस् के स् का रुत्व 'ससजुषो रुः' ८-२-६६ सूत्र से होने से 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से उसका विसर्ग होने पर विश्वपः पद सिद्ध होता है।

इसी प्रकार गर्गस्य अपत्यम् इस विग्रह में 'गर्गादिभ्यो यञ्' ४-१-१०५ सूत्र से 'यञ्' प्रत्यय होने पर वृद्धि के बाद 'गार्ग य' की स्थिति में 'गार्ग' के 'अ' की भसंज्ञा 'यचि भम्' सूत्र से होने पर उसका लोप हो जाता है। अतः गार्ग्य शब्द बनता है।

मुनेः भावः इस विग्रह में मुनि शब्द से अण् प्रत्यय होने पर इकार की भसंज्ञा 'यचि भम्' सूत्र से होने पर मौन शब्द बनता है।

भसंज्ञक नान्त शब्द के टि का लोप 'नस्तद्धिते' ६-४-१४४ सूत्र से हो जाता है। जैसे—राज्ञः समीपम् इस विग्रह में समास होने पर टच् (अ) प्रत्यय होने से 'उपराजन् अ' की स्थिति में 'यचि भम्' सूत्र से उपराजन् की भसंज्ञा होने पर नस्तद्धिते सूत्र से भसंज्ञक उपराजन् के टि (अन्) का लोप होने पर उपराज शब्द बनाता है जिससे सु आने पर उपराजम् पद बना है।

२४. आर्धधातुक

आर्धधातुक संज्ञा के लिये महर्षि पाणिनि का सूत्र है—

आर्धधातुकं शेषः ३।४।११४

इस सूत्र के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये यहाँ 'तिङ् शित् सार्वधातुकम्' १-४-११३ की अनुवृत्ति करते हैं। अतः इसकी वृत्ति में कहा गया है—

तिङ्शिद्भ्योऽन्यो धात्वधिकारोक्तः प्रत्यय एतत्संज्ञः स्यात्।

अर्थात् तिङ् (तिप्, तस् झि आदि १८ प्रत्यय) और शित् (जिसमें 'श्' की इत्संज्ञा होती है) प्रत्ययों की सार्वधातुक संज्ञा होती है। इन (तिङ् तथा शित्) से भिन्न जो प्रत्यय धातु से आते हैं उनकी आर्धधातुकसंज्ञा होती है।

आर्धधातुक संज्ञा होने का फल है—'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' ७-२-३५ सूत्र से इट् का आगम होना। यथा— पठित्वा। पठ् धातु से क्त्वा प्रत्यय होने पर क्त्वा प्रत्यय के तिङ् अथवा शित् नहीं होने के कारण 'आर्धधातुकं शेषः' सूत्र से क्त्वा की आर्धधातुकसंज्ञा होती है। फलतः आर्धधातुकस्येड् वलादेः' सूत्र से क्त्वा के पहले 'इट्' का आगम होने पर पठित्वा रूप बनता है।

इसी प्रकार पठ् धातु से लृट् लकार में तिप् प्रत्यय होने पर 'स्यतासी ल्लुटोः' ३-१-३३ सूत्र से 'स्य' प्रत्यय होने पर 'स्य' के तिङ् अथवा शित् नहीं होने के कारण 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' सूत्र से इट् होने पर पठिष्यति रूप बनता है।

आर्धधातुकसंज्ञा होने पर 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' ७-३-८४ सूत्र से आर्धधातुक प्रत्यय के पूर्व में स्थित धातु का गुण हो जाता है। यथा—जेता। जि धातु से कर्ता अर्थ में तृच् प्रत्यय होने पर यह तृच् प्रत्यय तिङ् या शित् नहीं है। अतः 'आर्धधातुकं शेषः' सूत्र से तृच् की आर्धधातुक संज्ञा होने के कारण 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' सूत्र से धातु के 'इ' का गुण 'ए' होने पर जेतृ शब्द बनता है जिससे सु विभक्ति में जेता पद सिद्ध होता है।

२५. आमन्त्रित

आमन्त्रितसंज्ञा विधान के लिये सूत्र है—

सामन्त्रितम् २।३।४८

इस सूत्र की वृत्ति इस प्रकार है—

सम्बोधने या प्रथमा तदन्तमामन्त्रितसंज्ञं स्यात्।

अर्थात् सम्बोधन में निहित प्रथमा विभक्ति से विशिष्ट शब्द स्वरूप की आमन्त्रितसंज्ञा होती है।

आमन्त्रित संज्ञा करने का फल है कि आमन्त्रित संज्ञक पद पूर्व में विद्यमान रहने पर भी अविद्यमान के समान होता है। इस कथन के लिये पाणिनि का सूत्र है—

आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् ८।१।७२

इसका उदाहरण है—अग्ने तव।

यहाँ 'अग्ने' पद से पर में स्थित युष्मद् शब्द की षष्ठी विभक्ति के रूप—'तव' के स्थान में 'ते' आदेश 'तेमयावेकवचनस्य' ८-१-२२ सूत्र से प्राप्त था, किन्तु 'सामन्त्रितम्' सूत्र से सम्बोधन के रूप 'अग्ने' की आमन्त्रितसंज्ञा होने से 'आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्' सूत्र से अग्ने के अविद्यमानवत् हो जाने के कारण 'ते मयावेकवचनस्य' सूत्र से 'अग्ने' पद से पर में रहने वाले युष्मद् शब्द की षष्ठी विभक्ति के रूप 'तव' के स्थान में 'ते' आदेश नहीं हुआ है।

आमन्त्रितसंज्ञा करने का दूसरा प्रयोजन है कि स्वर के प्रकरण में आमन्त्रित के पर में रहने पर सुप् दूसरे के अङ्ग के समान हो जाता है। यथा—"द्रवत पाणी शुभस्पती।" यहाँ 'सुबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे' २-१-१२ सूत्र से आमन्त्रित के पराङ्गवत् होने से षष्ठ्यन्त सुबन्त 'शुभः' अनुदात्त स्वर हो गया है।

२६. उपपद

पाणिनि व्याकरण में उपपदसंज्ञा के लिये अग्रलिखित सूत्र है—

तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् ३।१।९२

इस सूत्र की वृत्ति में भट्टोजिदीक्षित कहते हैं—

सप्तम्यन्ते पदे 'कर्मणि—' (सू० २९१३) इत्यादौ वाच्यत्वेन स्थितं कुम्भादि, तद्वाचकं पदमुपपदसंज्ञं स्यात् । तस्मिश्च सत्येव वक्ष्यमाणः प्रत्ययः स्यात् ।

अर्थात् सप्तम्यन्त पद 'कर्मण्यण्' ३-२-१ सूत्र में 'कर्मणि' से वाच्य कुम्भादि का वाचक पद उपपदसंज्ञक होता है । इस प्रकार घात्वधिकार में पठित सूत्र में सप्तमी विभक्ति के सा‌‌' ' युक्त पद की उपपद संज्ञा होती है । उदाहरण स्वरूप कर्मण्यण् सूत्र के घात्वधिकार में होने से सप्तमी विभक्ति में निर्दिष्ट 'कर्म' की प्रकृत सूत्र से उपपद संज्ञा होती है ।

उपपद संज्ञा होने का फल है समर्थ के साथ नित्य समास होना । यह समास अतिङन्त होता है । अर्थात् समास का उत्तर पद तिङन्त नहीं होता है ।

यथा—कुम्भं करोति इस विग्रह में द्वितीयान्त कुम्भ के रहते कृ धातु से 'कर्मण्यण्' सूत्र से 'अण्' प्रत्यय होने पर कुम्भ अम् कार की स्थिति में कुम्भम् के कर्मपद होने के कारण यह उपपद है । इसलिये 'उपपदमतिङ्' २-२-१९ सूत्र से अतिङन्त पद 'कार' के साथ उसका 'गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः' इस वार्तिक से कृदन्त से सुप् की उत्पत्ति के पहले समास होता है । समास होने पर प्रातिपदिकसंज्ञा तथा विभक्तिलोप आदि के बाद सु विभक्ति के आने पर कुम्भकारः पद बनता है ।

इसी कारण कुम्भकार शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् होकर कुम्भकारी रूप होता है, अन्यथा कुम्भकारा रूप बनता जो अभीष्ट नहीं है ।

२७. कृत्

कृत् संज्ञा के लिये महर्षि पाणिनि का सूत्र है—

कृदतिङ् ३।१।९३

इस सूत्र की वृत्ति में भट्टोजिदीक्षित लिखते हैं—

सन्निहिते धात्वधिकारे तिङ्भिन्नः प्रत्ययः कृत्संज्ञः स्यात् ।

अर्थात् धात्वधिकार में विहित प्रत्ययों में तिङ् (प्रत्ययों) से भिन्न प्रत्ययों की कृद् संज्ञा है । तात्पर्य यह है कि धातु से दो प्रकार के प्रत्यय होते हैं—तिङ् प्रत्यय और कृत्प्रत्यय । तिङ् के अन्तर्गत तिप्, तस्, झि आदि से लेकर इट्, वहिङ्, महिङ् तक १८ प्रत्यय आते हैं । जैसे पठ् धातु से लट् के स्थान में तिप् प्रत्यय करने पर पठति पद बनता है । इसे तिङन्त पद कहते हैं ।

कृत् प्रत्यय कर्ता अर्थ में होते हैं । इसके लिये पाणिनि का सूत्र है—

कर्तरि कृत् ३।४।६७

अर्थात् कर्ता के अर्थ में कृत् प्रत्यय होते हैं । कृत् प्रकरण में तव्यत्, अनीयर् आदि की कृत्य संज्ञा होती है । फलतः कृत्यसंज्ञक प्रत्यय भाव और कर्म में ही बताये गये हैं । पाणिनि का सूत्र है—

तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः ३।४।७०

अर्थात् कृत्यप्रत्यय, क्त और खलर्थक प्रत्यय भाव और कर्म में ही होते हैं, कर्ता में नहीं। इसके अन्तर्गत, तव्यत्, अनीयर्, यत्, ण्यत् और क्यप् प्रत्यय आते हैं। भाव का उदाहरण है—धाव + तव्यत् = धावितव्यम्। शीङ् + अनीयर् = शयनीयम्। कर्म का उदाहरण है—पठ् + ण्यत् = पाठ्यम्। दा + यत्—देयम्।

कर्ता अर्थ में कृत् प्रत्यय के लिये पाणिनि का सूत्र है—

ण्वुल्तृचौ ३।१।१३३

अर्थात् धातु से ण्वुल् और तृच् प्रत्यय कर्ता अर्थ में होते हैं। जैसे—पठ् + ण्वुल् = पाठकः अर्थात् पढ़ने वाला। यहाँ णित् के कारण 'अत उपधायाः' ७-२-११६ से वृद्धि हो गयी है अकार की। दृश् + ण्वुल् = दर्शक अर्थात् देखने वाला। यहाँ दृश् के ऋकार का गुण 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' ७-३-८४ सूत्रसे होने पर रपरत्व हो गया है।

गम् + तृच् = गन्तृ शब्द से सु विभक्ति में गन्ता = जाने वाला, दा + तृच् = दातृ शब्द से सु विभक्ति में दाता = देने वाला।

इनके अतिरिक्त कृत्प्रत्यय के अन्तर्गत ल्यु, णिनि, अच्, क, ष्वुन् आदि प्रत्यय कर्ता अर्थ में आते हैं। जैसे—नन्द + ल्यु = नन्दनः। ग्रह् + णिनि = ग्राहिन्, पच् + अच् = पचः, बुध + क = बुधः, नृत् + ष्वुन् = नर्तकः आदि सिद्ध होते हैं।

२८. पदविधि

पदविधि के लिये पाणिनि व्याकरण में सूत्र है—

समर्थः पदविधिः २।१।११

इस सूत्र की वृत्ति में कहते हैं—

पदसम्बन्धी यो विधिः स समर्थाश्रितो बोध्यः।

अर्थात् पदसम्बन्धी जो विधि वह समर्थाश्रित होती है। इस सूत्र से संश्लिष्ट अर्थ वाले पदों में ही पद सम्बन्धी समास, तद्धित आदि का विधान होता है। यह पदविधि सम्बन्धी परिभाषा है।

एक पद का दूसरे पद के साथ समस्त होना पदविधि है विधि उन्हीं पदों की होती है जिनमें परस्पर समस्त होने का सामर्थ्य होता है। यह सामर्थ्य दो प्रकार का होता है—

व्यपेक्षा और एकार्थी भाव।

व्यपेक्षा के अन्तर्गत आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के अर्थ में ही पदों का परस्पर सम्बन्ध होता है। अर्थात् आकांक्षादि के कारण पदों का परस्पर सम्बन्ध होता है और वे मिलकर अर्थ बताते हैं।

जहाँ दोनों पदों का अर्थ एक होकर भासित होता है उसे एकार्थी भाव कहते हैं। जैसे—राजपुरुषः में राज्ञः पुरुषः इस विग्रह में राज्ञः एवं पुरुषः—इन पृथक्-पृथक् पदों के

अलग-अलग अर्थ हैं, किन्तु राज सम्बन्धी पुरुष—इस रूप में मिलकर दोनों का अर्थ होता है। वैसी स्थिति में समास उपपद विधि होने पर राजपुरुषः प्रयोग बनता है। दोनों पदों का मिलकर एक अर्थ होने के कारण इसे एकार्थीभाव कहते हैं, किन्तु वीरस्य राज्ञः पुरुषः—इस स्थिति में समास होकर वीरस्य राजपुरुषः—ऐसा प्रयोग नहीं होता है क्योंकि राज्ञः का दूसरे वीरस्य विशेषण के साथ सम्बन्ध रहता है। सीधे पुरुषः के साथ सम्बन्ध नहीं है। अतः वहाँ समास नहीं होता है।

नैयायिकों के मत में समर्थ से तात्पर्य है व्यपेक्षा रूप समर्थ। उनके अनुसार पदों में विशिष्ट की अपेक्षा रहने पर ही समर्थ (संश्लिष्ट अर्थ) रहता है। तभी समास रूपी पदविधि होती है।

तद्धित प्रत्यय भी पदविधि कहलाता है। यथा—दशरथस्य अपत्यम् में दशरथ का अपत्य के साथ सम्बन्ध रहने पर ही 'अत इञ्' सूत्र से इञ् प्रत्यय होकर दाशरथिः प्रयोग होता है।

२९. पररूप

महावैयाकरण पाणिनि सन्धि-विधान के लिये जिन विविध संज्ञाओं की अवधारणा करते हैं उनमें पररूप का स्थान महत्त्वपूर्ण है। पररूप संज्ञा के लिये उनका सूत्र है—

एङि पररूपम् ६।१।९३

इसकी वृत्ति में भट्टोजिदीक्षित कहते हैं—

अवर्णान्तादुपसर्गादेङादौ धातौ परे पररूपमेकादेशः स्यात्।

अर्थात् अवर्णान्त उपसर्ग से परे यदि एङादि धातु हो तो उपसर्गावयव अवर्ण तथा धात्ववयव एङ् के स्थान में एकादेश पररूप होता है। इस प्रकार पूर्व और पर के वर्ण मिलकर पर में रहने वाले वर्ण के रूप में हो जाते हैं। यथा—प्रेजते। यहाँ प्र + एजते की स्थिति में पूर्व के अकार और एङ् (ए) वर्ण मिलकर पर में स्थित 'ए' के रूप में आदेश हो जाते हैं। इसलिये प्रेजते रूप बना है।

इसी तरह उप + ओषति = उपोषति में 'एङि पररूपम्' से पररूप एकादेश होता है। शक + अन्धुः में भी 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' इस वार्तिक से पररूप एकादेश होकर शकन्धु आदि पद बनते हैं। वहाँ 'अकः सवर्णे दीर्घः' ६-१-१०१ सूत्र से दीर्घ प्राप्त था जिसे बाधकर पररूप हो जाता है।

इसी प्रकार मनस् + ईषा—इस विग्रह में 'अचोऽन्त्यादि टि' १-१-६४ सूत्र से 'अस्' की टि संज्ञा होती है और उसका पररूप (पर वर्ण 'ई' के साथ समान रूप) 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' इस वार्तिक से होकर षत्व होने के बाद मनीषा प्रयोग बनता है।

'अतो गुणे' सूत्र से भी पररूप होता है। इसका अर्थ है कि पदान्त भिन्न अत् से उत्तर यदि 'गुण' स्वर हो तो भी पूर्व अवर्ण और पर 'गुण' के स्थान में पररूप एकादेश हो

जाता है। जैसे—राम शब्द से जस् विभक्ति में 'ज्' की इत्संज्ञा एवं लोप के बाद 'राम अस्' की स्थिति में 'अतो गुणे' सूत्र से पररूप प्राप्त होता है, किन्तु उसे बाधकर परत्वात् पूर्वसवर्ण दीर्घ होकर रुत्व एवं विसर्ग के बाद रामाः पद बनता है।

३०. पूर्वरूप

पूर्वरूप का अर्थ है—पहले के समान रूप हो जाना। जहाँ दो अच् या स्वर संहिता में रहते हैं वहाँ दीर्घ, यण् आदि अच् (स्वर) सन्धियाँ होती हैं। उनका यह निषेधक है। पूर्वरूप में उत्तरवर्ती स्वर पूर्ववर्ती स्वर में मिल जाता है और कोई विकार भी नहीं होता है। पूर्वरूप विधान के लिये पाणिनि की अष्टाध्यायी में प्रथम सूत्र है—

अमि पूर्वः ६।१।१०५

इस सूत्र की वृत्ति इस प्रकार है—

अकोऽम्यचि परतः पूर्वरूपमेकादेशः स्यात्।

अर्थात् अक् प्रत्याहार वाले वर्ण—(अ, इ, उ, ऋ, ऌ) जिससे अन्त में हो ऐसे शब्द परे 'अम्' विभक्ति के रहने पर पूर्वरूप एकादेश हो जाता है। जैसे हरि शब्द से अम् विभक्ति में हरि + अम् की स्थिति में 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप होने पर हरिम् पद होता है। साधु + अम् = साधुम्। यहाँ 'अम्' का 'अ' पूर्ववर्ण हरि के 'इ' से मिल गया तो हरिम् रूप बना है। उसी तरह 'अम्' का 'अ' साधु, के 'उ' से मिला तो साधुम् रूप बना। इसे ही पूर्वरूप कहते हैं।

पूर्वरूप के लिये दूसरा सूत्र है—

एङः पदान्तादति ६।१।१०७

इसका अर्थ है—पदान्त एङ् (ए तथा ओ) से पर में अत् (अ) के रहने पर पूर्वरूप एकादेश हो जाता है। जैसे—हरे + अव = हरेऽव। यहाँ 'हरे' में पद के अन्त में 'ए' है और उससे पर में 'अ' है। अतः 'ए' और 'अ' मिलकर 'एङः पदान्तादति' सूत्र से 'ए' (पूर्वरूप) हो जाता है। इसे ही पूर्वरूप सन्धि करते हैं।

यहाँ 'एचोऽयवायावः' ६-१-७८ सूत्र से अयादेश की प्राप्ति थी जिससे हरयव रूप होता, किन्तु यह सूत्र—'एङः पदान्तादति' उसका अपवाद होने से उसे बाधकर पूर्वरूप ही करता है।

अन्य सूत्र है—'सम्प्रसारणाच्च'। इससे पूर्वरूप होने पर विश्वौहः पद होता है।

३१. प्रकृति भाव

प्रकृति भाव का अर्थ है—यथावत् रहना। अर्थात् अपने मूल रूप में स्थिर रहना एवम् उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होना। प्रकृति भाव होने पर वहाँ सन्धि कार्य

नहीं होता है। प्रकृति भाव प्लुतसंज्ञा तथा प्रगृह्य संज्ञा का परिणाम होता है। महर्षि पाणिनि ने इसके लिये यह सूत्र लिखा है—

प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् ६।१।१२३

अर्थात् प्लुतसंज्ञक एवं प्रगृह्य संज्ञक पदों के पर में अच् (स्वर वर्ण) रहने पर प्रकृति भाव हो जाता है। वहाँ प्राप्त अच् सन्धि का बाध हो जाता है। प्लुतसंज्ञा के लिये पाणिनि ने सूत्र लिखा है—

दूराद्धूते च ८।२।८४

अर्थात् दूर से पुकारने के लिये प्रयुक्त पद की प्लुतसंज्ञा होती है। इसका उच्चारण त्रिमात्र (प्लुत) होता है। इसका उदाहरण है—

आगच्छ कृष्ण ३ अत्र गौश्चरति।

यहाँ 'कृष्ण ३' सम्बोधन का रूप है। सम्बोधन का अर्थ है—अभिमुखीकरण। व्यक्ति को अपनी ओर अभिमुख करने के लिये वैसा प्रयोग किया जाता है। 'कृष्ण ३' की प्लुतसंज्ञा 'दूराद्धूते च' सूत्र से होने पर 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' सूत्र से प्रकृति भाव हो जाने के कारण कृष्ण ३ अत्र रूप रह जाता है, अन्यथा दीर्घ होने पर कृष्णात्र रूप बनता।

इसी प्रकार 'अमी ईशाः' में 'अदसो मात्' १-१-१२ सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा होने पर 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' सूत्र से प्रकृति भाव होने पर यथावत रूप रहता है, अन्यथा दीर्घसंधि होने पर अमीशाः प्रयोग होता।

प्रगृह्यसंज्ञा के लिये दूसरा सूत्र है—

ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् १।१।११

इससे द्विवचनान्त दोनों पदों में प्रगृह्यसंज्ञा होने पर 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' से प्रकृति भाव हो जाता है। जैसे—हरी एतौ, विष्णू इमौ आदि प्रयोग होते हैं।

३२. विभाषा

विभाषा शब्द का अर्थ है—विविध प्रकार का भाषण। आचार्य पाणिनि ने व्याकरण में विभाषासंज्ञा करने के लिये यह सूत्र लिखा है—

नवेति विभाषा १।१।४४

इसकी वृत्ति में भट्टोजिदीक्षित ने कहा है—

निषेधविकल्पयोर्विभाषा संज्ञा स्यात्।

अर्थात् जहाँ पहले से प्राप्त किसी कार्य का निषेध कर पुनः विकल्प से विधान किया जाये उसकी विभाषा संज्ञा होती है।

व्याकरण में तीन प्रकार की विभाषा मिलती है—(१) प्राप्त विभाषा (२) अप्राप्त विभाषा और (३) प्राप्ताप्राप्त विभाषा।

१. प्राप्त विभाषा—वह है जहाँ पहले के सूत्र से विधान प्राप्त है वहाँ विकल्प बताया जाये। जैसे—'सर्वादीनि सर्वनामानि' १-१-२७ सूत्र से पूर्व, पर आदि शब्दों की सर्वनाम संज्ञा सर्वत्र बतायी गयी है और उसके अनुसार कार्य प्राप्त होते हैं, किन्तु 'पूर्वपरावर-दक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्' १-१-३४ सूत्र से जस् विभक्ति में विकल्प से सर्वनामसंज्ञा का विधान किया जाता है जिससे सर्वनामसंज्ञा होने पर 'जशः शी' ७-१-१७ सूत्र से 'जस्' के स्थान में 'शी' आदेश होने पर गुण के बाद पूर्वे—रूप बनता है तथा पक्ष में पूर्वाः रूप होता है।

यहाँ नित्य प्राप्त सर्वनाम में विकल्प से सर्वनामसंज्ञा बतायी गयी है जिसके कारण पूर्वे-पूर्वाः दोनों प्रयोग होते हैं।

२. अप्राप्त विभाषा—जहाँ पहले से किसी सूत्र द्वारा कार्य का विधान नहीं किया गया है वहाँ विकल्प से हुए विधान को अप्राप्त विभाषा कहते हैं। जैसे—'जराया जरसन्य-तरस्याम्' ७-२-१०१ सूत्र से 'जरा' के स्थान में विकल्प से 'जरस्' आदेश का विधान किया जाता है जबकि जरा के स्थान में नित्य जरस् विधान के लिये कोई सूत्र नहीं है जिसके कारण जरा का जरस् आदेश प्राप्त नहीं है और इस सूत्र से विकल्प से विधान किया गया है। अतः यह अप्राप्त विभाषा है।

३. प्राप्ताप्राप्त विभाषा—जहाँ कुछ अंश में विधान प्राप्त है तथा कुछ अंश में अप्राप्त है वहाँ प्राप्त का निषेध कर दोनों के समान रूप में अप्राप्त हो जाने पर विकल्प से विधान किया जाता है। इसका उदाहरण है—'विभाषा श्वेः' ६-१-३० इस सूत्र से श्वि धातु से लिट् लकार में विकल्प से सम्प्रसारण का विधान किया जाता है। वहाँ 'वचिस्वपि यजादीनां किति' ६-१-१५ सूत्र से कित् रहने पर वच्, स्वप् एवं यज धातु के सम्प्रसारण का विधान किया गया है। वह 'असंयोगाल्लिट् कित्' १-२-५ सूत्र से तिप्, सिप् तथा मिप् से भिन्न अपित्—तस्, थि आदि प्रत्ययों के कित् होने के कारण वहाँ अपित् में ही 'वचिस्वपियजादीनां किति' सूत्र से सम्प्रसारण होता तथा तिप्, सिप् आदि में सम्प्रसारण नहीं होता। इस तरह कुछ अंशों में प्राप्त तथा कुछ अंशों में अप्राप्त होने से प्राप्ताप्राप्त की स्थिति में 'विभाषा श्वेः' सूत्र से पहले प्राप्त का निषेध किया जाता है। जिससे सब जगह अप्राप्त की स्थिति बनती है। उसके बाद विकल्प से सम्प्रसारण होने पर शुशाव प्रयोग होता है तथा पक्ष में सम्प्रसारण न होने पर शिश्वाय रूप बनता है।

इस प्रकार विभाषा संज्ञा का क्षेत्र प्राप्ताप्राप्त विभाषा होता है।

१३. संहिता

संहितासंज्ञा को परिभाषित करते हुए पाणिनि ने लिखा है—

परः सन्निकर्षः संहिता १।४।१०९

इस सूत्र की वृत्ति इस प्रकार है—

वर्णानामतिशयितः सन्निधिः संहितासंज्ञः स्यात् ।

अर्थात् वर्णों के अतिशय सन्निकर्ष या निकटता को संहिता कहते हैं । जैसे दधि + अत्र में इवर्ण और उसके बाद का अवर्ण अत्यन्त ही सन्निकट हैं । अतः 'इको यणचि' ६-१-७७ सूत्र से 'इ' का य यणादेश होकर दध्यत्र रूप बनता है । दध्यत्र के रूप में यह एकीकरण ही संहिता है । दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि वर्णों के अतिशय समीप लाने या परस्पर मिलाने को संहिता कहते हैं जैसे—सुधी + उपास्यः में दोनों पद अलग-अलग हैं और जब सुधी का ईकार तथा उपास्यः का उकार परस्पर मिलकर सुध्युपास्यः पद बनता है तब इसे संहिता कहते हैं । वस्तुतः सन्धि का ही दूसरा नाम संहिता है । सन्धि के सन्दर्भ में यह नियम ध्यातव्य होता है—

संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः ।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ॥

अर्थात् एक पद में, उपसर्ग के साथ धातु के प्रयोग में तथा समास होने पर सन्धि नित्य करनी चाहिये, किन्तु वाक्य में सन्धि करना या नहीं करना वक्ता की इच्छा पर निर्भर करता है ।

३४. सर्वनामस्थान

व्याकरण—जन्य प्रयोगों की सिद्धि के लिये जिन पारिभाषिक शब्दों या संज्ञाओं का विधान किया गया है उनमें अन्यतम है—सर्वनामस्थान संज्ञा । इस सर्वनामस्थान को परिभाषित करते हुए महर्षि पाणिनि कहते हैं—

सुडनपुंसकस्य १।१।४३

यहाँ 'शि सर्वनामस्थानम्' १-१-४२ सूत्र से 'सर्वनामस्थानम्' की अनुवृत्ति होती है । अतः इस सूत्र की वृत्ति में कहा गया है—

सुट् प्रत्याहारे स्थितानि स्वादिपञ्चवचनानि सर्वनामस्थानसंज्ञानि स्युरक्लीबस्य ।

अर्थात् नपुंसक लिङ्ग से भिन्न लिङ्गों में सुट् (सु, औ, जस्, अम्, औट्) की सर्वनामस्थान संज्ञा होती है । इस प्रकार नपुंसक लिङ्ग में इस सूत्र से सर्वनामस्थान संज्ञा नहीं होती है ।

सर्वनामस्थान संज्ञा का फल है कि राजन् शब्द से सु विभक्ति में, सु विभक्ति की सर्वनामस्थान संज्ञा 'सुडनपुंसकस्य' सूत्र से होने के कारण, 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' ६-४-८ सूत्र से राजन् के उपधादीर्घ होने पर न् लोप के बाद राजा पद बनता है ।

सर्वनामस्थानसंज्ञा करने का दूसरा फल है 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' १-४-१७ सूत्र से सर्वनामस्थान से भिन्न विभक्तियों के पर में रहने पर प्रकृति की पदसंज्ञा हो जाती है । पदसंज्ञा होने का फल है राजन् शब्द से भ्याम् विभक्ति होने पर 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' सूत्र से न् का लोप हो जाता है । अतः राजभ्याम् प्रयोग होता है ।

नपुंसकलिङ्ग में तो 'शि सर्वनामस्थानम्' सूत्र से जस् एवं शस् विभक्ति के स्थान में 'जश्शसोः शिः' ७-१-२० सूत्र से होने वाले 'शि' की सर्वनामस्थान संज्ञा होती है जिसके फलस्वरूप ज्ञान शब्द से जस् विभक्ति में 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' सूत्र से दीर्घ होकर ज्ञानानि पद सिद्ध होता है।

३५. सार्वधातुक

सार्वधातुक संज्ञा के लिये पाणिनि व्याकरण में सूत्र है—

तिङ् शित् सार्वधातुकम् ३।४।११३

इस सूत्र की वृत्ति में कहा गया है—

तिङः शितश्च धात्वधिकारोक्ता एतत्संज्ञाः स्युः।

अर्थात् धातु से विहित तिङ् (तिप् तस् झि आदि १८) प्रत्यय और शित् (जिसके अङ्गभूत शकार की इत्संज्ञा हुई हो) प्रत्ययों की सार्वधातुक संज्ञा होती है।

सार्वधातुक संज्ञा होने का फल है कि कर्ता अर्थ में सार्वधातुक प्रत्यय के परे रहने पर धातु से शप् विकरण होता है। जैसे— पठ् धातु से लट् के स्थान में तिप् प्रत्यय होने से 'तिप्' की 'तिङ् शित् सार्वधातुकम्' से सार्वधातुक संज्ञा होती है फलतः 'कर्तरि शप्' ३-१-६८ सूत्र से शप् (अ) आने पर पठ् + अ + ति = पठति रूप बनता है।

सार्वधातुक संज्ञा का दूसरा फल है कि सार्वधातुक प्रत्यय के परे रहने पर 'सार्वधातु-कार्धधातुकयोः' सूत्र से धातु का गुण हो जाता है। जैसे—चि धातु से तस् प्रत्यय करने पर तस् प्रत्यय के तिङ् होने के कारण 'तिङ्शित् सार्वधातुकम्' सूत्र से तस् की सार्वधातुक संज्ञा होती है फलतः 'कर्तरि शप्' से शप् तथा सार्वधातुकार्धधातुकयोः सूत्र से गुण होने पर जे अ तस् की स्थिति में अयादेश तथा रुत्व एवं विसर्ग होकर जयतः पद बनता है।

शित् का उदाहरण है—नी + शतृ = नयन् यहाँ 'लशक्वतद्धिते' सूत्र से 'श्' की इत्संज्ञा होती है। अतः शित् होने के कारण 'तिङ् शित्सार्वधातुकम्' सूत्र से सार्वधातुकसंज्ञा होने पर 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' सूत्र से गुण् होने पर अयादेश के बाद नयत् शब्द से सु विभक्ति में नयन् पद बनता है।

३६. अनुबन्ध

व्याकरण शास्त्र में प्रयोगों की सिद्धि के लिये प्रत्ययों के आगम तथा आदेश विधान किये जाते हैं। उन प्रत्ययों में कुछ वर्ण ऐसे आगे या पीछे से लगे रहते हैं जिन्हें शब्द या धातु से जोड़ा नहीं जाता है। अतः वे अनर्थक प्रतीत होते हैं, किन्तु वैयाकरण कुछ भी निरुद्देश्य प्रयोग नहीं करते हैं। अतः उन अनुपयोगी प्रतीत होने वाले वर्णों की भी अपनी भूमिका होती है। ऐसे वर्णों को पाणिनि ने 'अनुबन्ध' की संज्ञा दी है।

'एङि पररूपम्'। इससे वृद्धि का बाध होकर पररूप हो जाता है। जैसे—प्र + एजते = प्रेजते। उप + ओषति=उपोषति।

'इको यणचि' सामान्य या उत्सर्ग सूत्र है और 'अकःसवर्णे दीर्घः' इसका अपवाद है। जैसे—मुनि + ईशः = मुनीशः आदि।

३९. कृत्य

धातु से लगने वाले तिङ् भिन्न प्रत्यय को कृत्प्रत्यय कहते हैं। पाणिनि का सूत्र है—'कृदतिङ्' ३-१-९३। कृत के अन्तर्गत तव्यत्, अनीयर् आदि कुछ प्रत्यय हैं जो पाणिनि के 'कृत्याः' ३-१-९५ सूत्र के अधिकार में आते हैं। अतः उनकी कृत्य संज्ञा होती है।

कृत्यसंज्ञा होने का फल है कि कृत्यसंज्ञक प्रत्यय भाव एवं कर्म अर्थ में ही होते हैं। पाणिनि का सूत्र है—

तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः ३।४।७०

अर्थात् कृत्य, क्त और खलर्थक प्रत्यय भाव और कर्म में ही होते हैं। ये प्रत्यय कर्ता अर्थ में नहीं होते हैं।

'कृत्याः' से लेकर 'चित्याग्निचित्ये च' ३-१-१३२ इस सूत्र तक जो भी प्रत्यय धातु से बताये गये हैं वे कृत्य प्रत्यय कहे जाते हैं। इसके अन्तर्गत प्रथम सूत्र है—

तव्यत्तव्यानीयरः ३।१।९६

अर्थात् धातु से तव्यत्, तव्य और अनीयर् प्रत्यय, जो कृत्यसंज्ञक हैं, भाव और कर्म अर्थ में होते हैं। तव्यत् और तव्य का रूप समान होता है तित् के कारण केवल उसमें स्वरित स्वर हो जाता है। भाव में इसका उदाहरण है—तेन प्रातः धावितव्यम् (धाव + तव्यत्) अर्थात् उसे प्रातःकाल में दौड़ना चाहिये। त्वया रात्रौ शयनीयम् (शीङ् + अनीयर्) अर्थात् तुझे रात में सोना चाहिये।

कर्म का उदाहरण है—मया पाठः लिखितव्यः। (लिख + तव्यत्) अर्थात् मुझे पाठ लिखना चाहिये। रामेण फलं खादनीयम् (खाद् + अनीयर्)। अर्थात् राम को फल खाना चाहिये।

'अचो यत्' ३-१-९७ सूत्र से अजन्त धातुओं से यत् प्रत्यय होता है। जैसे—नी + यत् = नेयम्। पा + यत् = पेयम्। यहाँ कर्म में यत् प्रत्यय हुआ है।

'ऋहलोर्ण्यत्' ३-१-१२४ सूत्र से भाव और कर्म में ऋकारान्त तथा हलन्त (स्वरान्त) धातुओं से ण्यत् प्रत्यय होता है। ऋकारान्त का उदाहरण है—कृ + ण्यत् = कार्यम्, हृ + ण्यत् = हार्यम्। हलन्त में जैसे—हस् + ण्यत् = हास्यम्। वच् + ण्यत् = वाच्यम्।

कुछ धातुओं से क्यप् प्रत्यय भी होते हैं। उनमें एक सूत्र है—'एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप् ३-१-१०९। यथा—इण् + क्यप् = इत्यः। स्तु+क्यप्=स्तुत्यः, शास् + क्यप्=शिष्यः। यहाँ कित् के कारण गुण का निषेध हो गया है।

नपुंसकलिङ्ग में तो 'शि सर्वनामस्थानम्' सूत्र से जस् एवं शस् विभक्ति के स्थान में 'जश्शसोः शिः' ७-१-२० सूत्र से होने वाले 'शि' की सर्वनामस्थान संज्ञा होती है जिसके फलस्वरूप ज्ञान शब्द से जस् विभक्ति में 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' सूत्र से दीर्घ होकर ज्ञानानि पद सिद्ध होता है।

३५. सार्वधातुक

सार्वधातुक संज्ञा के लिये पाणिनि व्याकरण में सूत्र है—

तिङ् शित् सार्वधातुकम् ३।४।११३

इस सूत्र की वृत्ति में कहा गया है—

तिङः शितश्च धात्वधिकारोक्ता एतत्संज्ञाः स्युः।

अर्थात् धातु से विहित तिङ् (तिप् तस् झि आदि १८) प्रत्यय और शित् (जिसके अङ्गभूत शकार की इत्संज्ञा हुई हो) प्रत्ययों की सार्वधातुक संज्ञा होती है।

सार्वधातुक संज्ञा होने का फल है कि कर्ता अर्थ में सार्वधातुक प्रत्यय के परे रहने पर धातु से शप् विकरण होता है। जैसे— पठ् धातु से लट् के स्थान में तिप् प्रत्यय होने से 'तिप्' की 'तिङ् शित् सार्वधातुकम्' से सार्वधातुक संज्ञा होती है फलतः 'कर्तरि शप्' ३-१-६८ सूत्र से शप् (अ) आने पर पठ् + अ + ति = पठति रूप बनता है।

सार्वधातुक संज्ञा का दूसरा फल है कि सार्वधातुक प्रत्यय के परे रहने पर 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' सूत्र से धातु का गुण हो जाता है। जैसे—चि धातु से तस् प्रत्यय करने पर तस् प्रत्यय के तिङ् होने के कारण 'तिङ्शित् सार्वधातुकम्' सूत्र से तस् की सार्वधातुक संज्ञा होती है फलतः 'कर्तरि शप्' से शप् तथा सार्वधातुकार्धधातुकयोः सूत्र से गुण होने पर जे अ तस् की स्थिति में अयादेश तथा रुत्व एवं विसर्ग होकर जयतः पद बनता है।

शित् का उदाहरण है—नी + शतृ = नयन् यहाँ 'लशक्वतद्धिते' सूत्र से 'श्' की इत्संज्ञा होती है। अतः शित् होने के कारण 'तिङ् शित्सार्वधातुकम्' सूत्र से सार्वधातुकसंज्ञा होने पर 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' सूत्र से गुण् होने पर अयादेश के बाद नयत् शब्द से सु विभक्ति में नयन् पद बनता है।

३६. अनुबन्ध

व्याकरण शास्त्र में प्रयोगों की सिद्धि के लिये प्रत्ययों के आगम तथा आदेश विधान किये जाते हैं। उन प्रत्ययों में कुछ वर्ण ऐसे आगे या पीछे से लगे रहते हैं जिन्हें शब्द या धातु से जोड़ा नहीं जाता है। अतः वे अनर्थक प्रतीत होते हैं, किन्तु वैयाकरण कुछ भी निरुद्देश्य प्रयोग नहीं करते हैं। अतः उन अनुपयोगी प्रतीत होने वाले वर्णों की भी अपनी भूमिका होती है। ऐसे वर्णों को पाणिनि ने 'अनुबन्ध' की संज्ञा दी है।

'एङि पररूपम्'। इससे वृद्धि का बाध होकर पररूप हो जाता है। जैसे—प्र + एजते = प्रेजते। उप + ओषति = उपोषति।

'इको यणचि' सामान्य या उत्सर्ग सूत्र है और 'अकः सवर्णे दीर्घः' इसका अपवाद है। जैसे—मुनि + ईशः = मुनीशः आदि।

३९. कृत्य

धातु से लगने वाले तिङ् भिन्न प्रत्यय को कृत्प्रत्यय कहते हैं। पाणिनि का सूत्र है—'कृदतिङ्' ३-१-९३। कृत के अन्तर्गत तव्यत्, अनीयर् आदि कुछ प्रत्यय हैं जो पाणिनि के 'कृत्याः' ३-१-९५ सूत्र के अधिकार में आते हैं। अतः उनकी कृत्य संज्ञा होती है।

कृत्यसंज्ञा होने का फल है कि कृत्यसंज्ञक प्रत्यय भाव एवं कर्म अर्थ में ही होते हैं। पाणिनि का सूत्र है—

तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः ३।४।७०

अर्थात् कृत्य, क्त और खलर्थक प्रत्यय भाव और कर्म में ही होते हैं। ये प्रत्यय कर्ता अर्थ में नहीं होते हैं।

'कृत्याः' से लेकर 'चित्याग्निचित्ये च' ३-१-१३२ इस सूत्र तक जो भी प्रत्यय धातु से बताये गये हैं वे कृत्य प्रत्यय कहे जाते हैं। इसके अन्तर्गत प्रथम सूत्र है—

तव्यत्तव्यानीयरः ३।१।९६

अर्थात् धातु से तव्यत्, तव्य और अनीयर् प्रत्यय, जो कृत्यसंज्ञक हैं, भाव और कर्म अर्थ में होते हैं। तव्यत् और तव्य का रूप समान होता है तित् के कारण केवल उसमें स्वरित स्वर हो जाता है। भाव में इसका उदाहरण है—तेन प्रातः धावितव्यम् (धाव + तव्यत्) अर्थात् उसे प्रातःकाल में दौड़ना चाहिये। त्वया रात्रौ शयनीयम् (शीङ् + अनीयर्) अर्थात् तुझे रात में सोना चाहिये।

कर्म का उदाहरण है—मया पाठः लिखितव्यः। (लिख + तव्यत्) अर्थात् मुझे पाठ लिखना चाहिये। रामेण फलं खादनीयम् (खाद् + अनीयर्)। अर्थात् राम को फल खाना चाहिये।

'अचो यत्' ३-१-९७ सूत्र से अजन्त धातुओं से यत् प्रत्यय होता है। जैसे—नी + यत् = नेयम्। पा + यत् = पेयम्। यहाँ कर्म में यत् प्रत्यय हुआ है।

'ऋहलोर्ण्यत्' ३-१-१२४ सूत्र से भाव और कर्म में ऋकारान्त तथा हलन्त (स्वरान्त) धातुओं से ण्यत् प्रत्यय होता है। ऋकारान्त का उदाहरण है—कृ + ण्यत् = कार्यम्, हृ + ण्यत् = हार्यम्। हलन्त में जैसे—हस् + ण्यत् = हास्यम्। वच् + ण्यत् = वाच्यम्।

कुछ धातुओं से क्यप् प्रत्यय भी होते हैं। उनमें एक सूत्र है—'एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्' ३-१-१०९। यथा—इण् + क्यप् = इत्यः। स्तु+क्यप् = स्तुत्यः, शास् + क्यप् = शिष्यः। यहाँ कित् के कारण गुण का निषेध हो गया है।

४०. कर्मप्रवचनीय

'कर्म प्रोक्तवन्तः' इस विग्रह में कर्मप्रवचनीय प्रयोग बना है। कुछ उपसर्गों के विशेष अर्थ द्योतित करने की स्थिति में कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। कर्मप्रवचनीय संज्ञा के लिये महर्षि पाणिनि का सूत्र है—

कर्मप्रवचनीयाः १।४।८३

यह एक अधिकार सूत्र है। इसके अधिकार में अनुर्लक्षणे १-४-८४ से लेकर अधिरीश्वरे १-४-९७ तक सूत्र हैं जिनसे कर्मप्रवचनीय संज्ञा का विधान किया जाता है। कर्मप्रवचनीय संज्ञा का फल होता है कि 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञक शब्दों में द्वितीया विभक्ति हो जाती है। इसके लिये पाणिनि का सूत्र है—

कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया २।३।८

अर्थात् 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञक शब्द से युक्त शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है।

कर्मप्रवचनीयसंज्ञाविधायक सूत्रों में प्रथम है—'अनुर्लक्षणे' ५४७। इस सूत्र से लक्षण के द्योतित होने होने पर 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। जैसे—जपमनु प्रावर्षत्। अर्थात् जप के कारण खूब वर्षा हुई। इस वाक्य में लक्षण द्योतक होने से 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा उपर्युक्त सूत्र से होने पर उसके योग में जप में द्वितीया विभक्ति हुई है।

इस सन्दर्भ में दूसरा सूत्र है—

तृतीयार्थे १।४।८५

इस सूत्र से तृतीया अर्थ द्योतित होने पर 'अनु' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है। यथा—नदीमन्वसिता सेना। अर्थात् नदी के साथ सेना जुड़ी है। यहाँ तृतीयार्थ (सहभाव) 'अनु' से द्योतित है। अतः 'अनु' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होने पर उसके योग में नदी शब्द से द्वितीया विभक्ति हुई है।

इस प्रकरण का अगला सूत्र है—

हीने १।४।८६

इसका अर्थ है—हीन अर्थ के द्योत्य होने पर अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। यथा—अनु हरिं सुराः। अर्थात् देवता हरि से हीन हैं। यहाँ 'अनु' से हीन अर्थ द्योत्य होने के कारण उस (अनु) की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने पर उसके योग में हरि शब्द से द्वितीया हुई है।

इस सन्दर्भ में अत्यन्त प्रसिद्ध सूत्र है—

लक्षणेत्थम्भूताख्यान-भाग-वीप्सासु प्रतिपर्यनवः १।४।९०

इस सूत्र से लक्षण, इत्थम्भूताख्यान, भाग और वीप्सा अर्थों में प्रति, परि तथा अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। फलतः उसके योग में द्वितीया विभक्ति 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' सूत्र से होती है।

आत्मनेपदप्रकरण के प्रमुख सूत्रों की व्याख्या

२६७९। भावकर्मणोः १।३।१३।

व्याख्येय सूत्र आत्मनेपदप्रकरण से संकलित है। इससे आत्मने पद का विधान होता है। यहाँ 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' २१५७ से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति होती है। अतः सूत्र का अर्थ होता है कि भाव में और कर्म में विधीयमान लकार के स्थान में आत्मनेपद संज्ञक प्रत्यय—त, आताम्, झ आदि होते हैं। भाव का उदाहरण है—बभूवे।

आत्मधारण रूप फल एवम् उसका जनक व्यापार वे दोनों एकनिष्ठ होने से फल-समानाधिकरण व्यापार वाचक भू धातु अकर्मक है। अतः भाव अर्थ में 'भावकर्मणोः' २६७९ से आत्मनेपद होने पर लिट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'वुक्' एवं धातु के द्वित्व तथा जश्त्व आदि होने पर बभूवे पद बनता है।

कर्म का उदाहरण है—अनुबभूवे।

अनु पूर्वक भू धातु अनुभव अर्थ में सकर्मक है। इसलिये कर्म अर्थ में 'भावकर्मणोः' २६७९ से आत्मनेपद होने पर लिट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'वुक्' एवं धातु के द्वित्व आदि कार्य होने पर 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' २२४१ से एश् होने पर अनुबभूवे पद बनता है। वाक्य प्रयोग है—'तेन सुखम् अनुबभूवे'।

२६८०। कर्तरि कर्मव्यतिहारे १।३।१४।

व्याख्येय सूत्र आत्मनेपद प्रकरण में आत्मनेपद विधायक है। 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' २१५७ से यहाँ 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति होती है। सूत्र में 'कर्म' का अर्थ क्रिया है, कर्म कारक नहीं। 'कर्म' की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—करोति कर्तृकर्मादिव्यपदेशात् यत् तत्कर्म। अर्थात् धात्वर्थ क्रियायें कर्ता, कर्म आदि संज्ञाओं की प्रवृत्ति में निमित्त हैं उसके व्यपदेश से जो करता है वही कर्म है। व्यतिहार का अर्थ है—विनिमय। इस प्रकार कर्मव्यतिहार का अर्थ है—क्रिया का विनिमय। अतः इसकी वृत्ति में कहा गया है—

क्रियाविनिमये द्योत्ये कर्तर्यात्मनेपदं स्यात्।

अर्थात् क्रिया का विनिमय द्योतित होने पर कर्ता अर्थ में आत्मनेपद होता है। यथा—व्यतिलुनीते। अर्थात् दूसरे का छेदन कार्य दूसरा करता है। क्रिया का विनिमय होने के कारण वि + अति पूर्वक 'लूञ् छेदने' धातु से 'कर्तरिकर्मव्यतिहारे' २६८० से आत्मनेपद विधान होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय होने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' से एत्व होने पर व्यतिलुनीते प्रयोग सिद्ध होता है।

कैयट का मत है कि परस्पर एक दूसरे का काम एक दूसरा करता है—यह भी कर्मव्यतिहार है। जैसे—सम्प्रहरन्ते राजानः।

४०. कर्मप्रवचनीय

'कर्म प्रोक्तवन्तः' इस विग्रह में कर्मप्रवचनीय प्रयोग बना है। कुछ उपसर्गों के विशेष अर्थ द्योतित करने की स्थिति में कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। कर्मप्रवचनीय संज्ञा के लिये महर्षि पाणिनि का सूत्र है—

कर्मप्रवचनीयाः १।४।८३

यह एक अधिकार सूत्र है। इसके अधिकार में अनुर्लक्षणे १-४-८४ से लेकर अधिरीश्वरे १-४-९७ तक सूत्र हैं जिनसे कर्मप्रवचनीय संज्ञा का विधान किया जाता है। कर्मप्रवचनीय संज्ञा का फल होता है कि 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञक शब्दों में द्वितीया विभक्ति हो जाती है। इसके लिये पाणिनि का सूत्र है—

कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया २।३।८

अर्थात् 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञक शब्द से युक्त शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है।

कर्मप्रवचनीयसंज्ञाविधायक सूत्रों में प्रथम है—'अनुर्लक्षणे' ५४७। इस सूत्र से लक्षण के द्योतित होने होने पर 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। जैसे—जपमनु प्रावर्षत्। अर्थात् जप के कारण खूब वर्षा हुई। इस वाक्य में लक्षण द्योतक होने से 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा उपर्युक्त सूत्र से होने पर उसके योग में जप में द्वितीया विभक्ति हुई है।

इस सन्दर्भ में दूसरा सूत्र है—

तृतीयार्थे १।४।८५

इस सूत्र से तृतीया अर्थ द्योतित होने पर 'अनु' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है। यथा—नदीमन्वसिता सेना। अर्थात् नदी के साथ सेना जुड़ी है। यहाँ तृतीयार्थ (सहभाव) 'अनु' से द्योतित है। अतः 'अनु' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होने पर उसके योग में नदी शब्द से द्वितीया विभक्ति हुई है।

इस प्रकरण का अगला सूत्र है—

हीने १।४।८६

इसका अर्थ है—हीन अर्थ के द्योत्य होने पर अनु की कर्मप्रवचीय संज्ञा होती है। यथा—अनु हरिं सुराः। अर्थात् देवता हरि से हीन हैं। यहाँ 'अनु' से हीन अर्थ द्योत्य होने के कारण उस (अनु) की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने पर उसके योग में हरि शब्द से द्वितीया हुई है।

इस सन्दर्भ में अत्यन्त प्रसिद्ध सूत्र है—

लक्षणेत्थम्भूताख्यान-भाग-वीप्सासु प्रतिपर्यनवः १।४।९०

इस सूत्र से लक्षण, इत्थम्भूताख्यान, भाग और वीप्सा अर्थों में प्रति, परि तथा अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। फलतः उसके योग में द्वितीया विभक्ति 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' सूत्र से होती है।

आत्मनेपदप्रकरण के प्रमुख सूत्रों की व्याख्या

२६७९ । भावकर्मणोः १।३।१३ ।

व्याख्येय सूत्र आत्मनेपदप्रकरण से संकलित है। इससे आत्मने पद का विधान होता है। यहाँ 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' २१५७ से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति होती है। अतः सूत्र का अर्थ होता है कि भाव में और कर्म में विधीयमान लकार के स्थान में आत्मनेपद संज्ञक प्रत्यय—त, आताम्, झ आदि होते हैं। भाव का उदाहरण है—बभूवे।

आत्मधारण रूप फल एवम् उसका जनक व्यापार वे दोनों एकनिष्ठ होने से फल-समानाधिकरण व्यापार वाचक भू धातु अकर्मक है। अतः भाव अर्थ में 'भावकर्मणोः' २६७९ से आत्मनेपद होने पर लिट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'वुक्' एवं धातु के द्वित्व तथा जश्त्व आदि होने पर बभूवे पद बनता है।

कर्म का उदाहरण है—अनुबभूवे।

अनु पूर्वक भू धातु अनुभव अर्थ में सकर्मक है। इसलिये कर्म अर्थ में 'भावकर्मणोः' २६७९ से आत्मनेपद होने पर लिट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'वुक्' एवं धातु के द्वित्व आदि कार्य होने पर 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' २२४१ से एश् होने पर अनुबभूवे पद बनता है। वाक्य प्रयोग है—'तेन सुखम् अनुबभूवे'।

२६८० । कर्तरि कर्मव्यतिहारे १।३।१४ ।

व्याख्येय सूत्र आत्मनेपद प्रकरण में आत्मनेपद विधायक है। 'अनुदात्तङित आत्मने-पदम्' २१५७ से यहाँ 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति होती है। सूत्र में 'कर्म' का अर्थ क्रिया है, कर्म कारक नहीं। 'कर्म' की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—करोति कर्तृकर्मादिव्यपदेशात् यत् तत्कर्म। अर्थात् धात्वर्थ क्रियायें कर्ता, कर्म आदि संज्ञाओं की प्रवृत्ति में निमित्त हैं उसके व्यपदेश से जो करता है वही कर्म है। व्यतिहार का अर्थ है—विनिमय। इस प्रकार कर्मव्यतिहार का अर्थ है—क्रिया का विनिमय। अतः इसकी वृत्ति में कहा गया है—

क्रियाविनिमये द्योत्ये कर्तर्यात्मनेपदं स्यात्।

अर्थात् क्रिया का विनिमय द्योतित होने पर कर्ता अर्थ में आत्मनेपद होता है। यथा—व्यतिलुनीते। अर्थात् दूसरे का छेदन कार्य दूसरा करता है। क्रिया का विनिमय होने के कारण वि + अति पूर्वक 'लूञ् छेदने' धातु से 'कर्तरिकर्मव्यतिहारे' २६८० से आत्मनेपद विधान होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय होने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' से एत्व होने पर व्यतिलुनीते प्रयोग सिद्ध होता है।

कैयट का मत है कि परस्पर एक दूसरे का काम एक दूसरा करता है—यह भी कर्मव्यतिहार है। जैसे—सम्प्रहरन्ते राजानः।

अर्थात् राजा लोग परस्पर एक दूसरे पर प्रहार करते हैं।

२६८४। नेर्विशः १।३।१७।

प्रकृत सूत्र आत्मनेपद प्रकरण में आत्मनेपदसंज्ञा का विधान करता है। यहाँ 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' २१५७ से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति होती है। अतः सूत्र का अर्थ है कि नि पूर्वक विश धातु से आत्मनेपद होता है।

इसका उदाहरण है—निविशते।

विश धातु के परस्मैपदी होने से विशति रूप होता है, किन्तु यहाँ नि पूर्वक विश धातु का प्रयोग है अतः 'नेर्विशः' से आत्मनेपद होने रर लट् लकार के स्थान में 'त' प्रत्यय होने से 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से एत्व होकर निविशते पद बनता है।

२६८५। विपराभ्यां जेः १।३।१९।

प्रकृत सूत्र आत्मनेपदसंज्ञा का विधायक है। 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' २१५७ से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ है कि वि और परा उपसर्ग से पर में जि धातु के रहने पर आत्मनेपद होता है। यथा—विजयते।

वि पूर्वक जि धातु से लट् लकार में आत्मनेपद प्रकृत सूत्र से होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' से एत्व होकर विजयते रूप होता है।

इसी प्रकार परा पूर्वक जि धातु से लट् लकार आने पर लट् के स्थान में प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद होने पर 'त' प्रत्यय में एत्व होकर पराजयते पद निष्पन्न होता है।

२६८६। आङो दोऽनास्यविहरणे १।३।२०।

यह सूत्र आत्मनेपदप्रकरण का है। इसमें 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' २१५७ से आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति होने पर सूत्र की वृत्ति में कहा है—

आङ्पूर्वाद्ददातेर्मुखविकसनादन्यत्रार्थे वर्तमानादात्मनेपदं स्यात्।

अर्थात् आङ् पूर्वक दा धातु से मुख के विकसन या मुख खोलना से भिन्न अर्थ में रहने पर आत्मनेपद होता है। यथा—विद्यामादत्ते।

आङ् पूर्वक दा धातु से लट् के स्थान में आत्मनेपद प्रकृत सूत्र से होने पर 'त' प्रत्यय आता है तथा 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से एत्व होकर आदत्ते प्रयोग होता है। अर्थात् ग्रहण करता है।

सूत्र में 'अनास्यविहरणे' पढा गया है। फलतः मुखविदारण अर्थ रहने पर दा धातु आत्मनेपदी नहीं होता है। इसलिये 'मुखं व्याददाति' में परस्मैपद ही होता है। सूत्र में आस्य-ग्रहण अविवक्षित है। अतः मुख से भिन्न के व्यादान में भी इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है। इसी कारण 'विपादिकां व्याददाति' एवम् 'नदीकूलं व्याददाति' में भी परस्मैपद होता है। इस निषेध का निषेधक एक वार्तिक पढा गया है—

पराङ्गकर्मकान्न निषेधः

प्रकृत सूत्र आत्मनेपदप्रकरण से उद्धृत है। यहाँ 'सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञान-भृतिविगणनव्ययेषु नियः' २७०९ से 'नियः' की एवम् 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' २१५७ से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति होने पर इस सूत्र की वृत्ति में कहा गया है—

नियः कर्तृस्थे कर्मणि यदात्मनेपदं प्राप्तं तच्छरीरावयवभिन्न एव स्यात्। सूत्रे शरीरशब्देन तदवयवो लक्ष्यते।

अर्थात् नी धातु से जो कर्तृस्थ कर्म में आत्मनेपद होता है वह शरीर के अवयव से भिन्न अर्थ में ही होता है। सूत्र में शरीर शब्द से लक्षणा से शरीर का अवयव लक्षित होता है। जैसे—क्रोधं विनयते।

यहाँ नी धातु का कर्म क्रोध है और वह कर्ता में रहने वाला है तथा शरीर के अवयव से भिन्न है। अतः वि पूर्वक नी धातु से प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद होने पर 'त' प्रत्यय में एत्व होकर विनयते पद बना है। वाक्य प्रयोग है—क्रोधं विनयते अर्थात् क्रोध को हटाता है। क्रोध को हटाने का फल है—चित्त की प्रसन्नता प्राप्त करना। वह कर्तृगामी फल है। इसलिये 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' २१५८ से ही आत्मनेपद सिद्ध होने पर भी यह सूत्र नियमार्थ लिखा गया है।

'गडुं विनयति'—में गडु शरीर का अंग है इसलिये आत्मनेपद नहीं हुआ। गडुं विनयति का अर्थ है—गलगण्ड या गले का गोला अथवा घेघ को गलाता है या पचाता है।

'विगणय्य नयन्ति पौरुषम्'—इस वाक्य में पौरुष कर्म है तथा कर्ता में रहने वाला है और शरीर का अवयव भी नहीं है फिर भी उसमें कर्तृत्वगामी की विवक्षा न होने के कारण आत्मनेपद नहीं हुआ है। शेखर में इस प्रयोग को 'प्रमाद' कहा है।

२७१२ । उपपराभ्याम् १।३।३९ ।

यह सूत्र आत्मनेपदप्रकरण का है। यहाँ 'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः' २७११ से 'क्रमः' एवम् 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' २१५७ से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति होने से प्रकृत की वृत्ति में कहा गया है—

वृत्त्यादिष्वाभ्यामेव क्रमेर्न तूपसर्गान्तरपूर्वात्।

अर्थात् 'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः' से सिद्ध होने पर भी यह सूत्र नियमार्थक है। इसलिये 'उप' एवम् 'परा' उपसर्ग से ही आत्मनेपद होता है, दूसरे से नहीं। यह नियम का स्वरूप होता है। यथा—

उपक्रमते, पराक्रमते।

उप पूर्वक क्रम धातु से 'उपपराभ्याम्' से आत्मनेपद होने पर 'त' प्रत्यय में एत्व होकर उपक्रमते पद बनता है अर्थात् भूमिका बाँधता है या आरम्भ करता है।

परा पूर्वक क्रम धातु से प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद होने पर 'त' प्रत्यय में एत्व होकर पराक्रमते रूप होता है। अर्थात् पराक्रम करता है। सम् पूर्वक क्रम धातु से आत्मनेपद नहीं होकर परस्मैपद होता है। जैसे—संक्रामति।

अर्थात् राजा लोग परस्पर एक दूसरे पर प्रहार करते हैं।

२६८४। नेर्विशः १।३।१७।

प्रकृत सूत्र आत्मनेपद प्रकरण में आत्मनेपदसंज्ञा का विधान करता है। यहाँ 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' २१५७ से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति होती है। अतः सूत्र का अर्थ है कि नि पूर्वक विश धातु से आत्मनेपद होता है।

इसका उदाहरण है—निविशते।

विश धातु के परस्मैपदी होने से विशति रूप होता है, किन्तु यहाँ नि पूर्वक विश धातु का प्रयोग है अतः 'नेर्विशः' से आत्मनेपद होने रर लट् लकार के स्थान में 'त' प्रत्यय होने से 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से एत्व होकर निविशते पद बनता है।

२६८५। विपराभ्यां जेः १।३।१९।

प्रकृत सूत्र आत्मनेपदसंज्ञा का विधायक है। 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' २१५७ से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ है कि वि और परा उपसर्ग से पर में जि धातु के रहने पर आत्मनेपद होता है। यथा—विजयते।

वि पूर्वक जि धातु से लट् लकार में आत्मनेपद प्रकृत सूत्र से होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' से एत्व होकर विजयते रूप होता है।

इसी प्रकार परा पूर्वक जि धातु से लट् लकार आने पर लट् के स्थान में प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद होने पर 'त' प्रत्यय में एत्व होकर पराजयते पद निष्पन्न होता है।

२६८६। आङो दोऽनास्यविहरणे १।३।२०।

यह सूत्र आत्मनेपदप्रकरण का है। इसमें 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' २१५७ से आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति होने पर सूत्र की वृत्ति में कहा है—

आङ्पूर्वाद्दातेर्मुखविकसनादन्यत्रार्थे वर्तमानादात्मनेपदं स्यात्।

अर्थात् आङ् पूर्वक दा धातु से मुख के विकसन या मुख खोलना से भिन्न अर्थ में रहने पर आत्मनेपद होता है। यथा—विद्यामादत्ते।

आङ् पूर्वक दा धातु से लट् के स्थान में आत्मनेपद प्रकृत सूत्र से होने पर 'त' प्रत्यय आता है तथा 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से एत्व होकर आदत्ते प्रयोग होता है। अर्थात् ग्रहण करता है।

सूत्र में 'अनास्यविहरणे' पढा गया है। फलतः मुखविदारण अर्थ रहने पर दा धातु आत्मनेपदी नहीं होता है। इसलिये 'मुखं व्याददाति' में परस्मैपद ही होता है। सूत्र में आस्य-ग्रहण अविवक्षित है। अतः मुख से भिन्न के व्यादान में भी इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है। इसी कारण 'विपादिकां व्याददाति' एवम् 'नदीकूलं व्याददाति' में भी परस्मैपद होता है। इस निषेध का निषेधक एक वार्तिक पढा गया है—

पराङ्गकर्मकान्न निषेधः

प्रकृत सूत्र आत्मनेपदप्रकरण से उद्धृत है। यहाँ 'सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञान-भृतिविगणनव्ययेषु नियः' २७०९ से 'नियः' की एवम् 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' २१५७ से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति होने पर इस सूत्र की वृत्ति में कहा गया है—

नियः कर्तृस्थे कर्मणि यदात्मनेपदं प्राप्तं तच्छरीरावयवभिन्न एव स्यात्। सूत्रे शरीरशब्देन तदवयवो लक्ष्यते।

अर्थात् नी धातु से जो कर्तृस्थ कर्म में आत्मनेपद होता है वह शरीर के अवयव से भिन्न अर्थ में ही होता है। सूत्र में शरीर शब्द से लक्षणा से शरीर का अवयव लक्षित होता है। जैसे—क्रोधं विनयते।

यहाँ नी धातु का कर्म क्रोध है और वह कर्ता में रहने वाला है तथा शरीर के अवयव से भिन्न है। अतः वि पूर्वक नी धातु से प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद होने पर 'त' प्रत्यय में एत्व होकर विनयते पद बना है। वाक्य प्रयोग है—क्रोधं विनयते अर्थात् क्रोध को हटाता है। क्रोध को हटाने का फल है—चित्त की प्रसन्नता प्राप्त करना। वह कर्तृगामी फल है। इसलिये 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' २१५८ से ही आत्मनेपद सिद्ध होने पर भी यह सूत्र नियमार्थ लिखा गया है।

'गडुं विनयति'—में गडु शरीर का अंग है इसलिये आत्मनेपद नहीं हुआ। गडुं विनयति का अर्थ है—गलगण्ड या गले का गोला अथवा घेघ को गलाता है या पचाता है।

'विगणय्य नयन्ति पौरुषम्'—इस वाक्य में पौरुष कर्म है तथा कर्ता में रहने वाला है और शरीर का अवयव भी नहीं है फिर भी उसमें कर्तृत्वगामी की विवक्षा न होने के कारण आत्मनेपद नहीं हुआ है। शेखर में इस प्रयोग को 'प्रमाद' कहा है।

२७१२। उपपराभ्याम् १।३।३९।

यह सूत्र आत्मनेपदप्रकरण का है। यहाँ 'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः' २७११ से 'क्रमः' एवम् 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' २१५७ से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति होने से प्रकृत की वृत्ति में कहा गया है—

वृत्यादिष्वाभ्यामेव क्रमेर्न तूपसर्गान्तरपूर्वात्।

अर्थात् 'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः' से सिद्ध होने पर भी यह सूत्र नियमार्थक है। इसलिये 'उप' एवम् 'परा' उपसर्ग से ही आत्मनेपद होता है, दूसरे से नहीं। यह नियम का स्वरूप होता है। यथा—

उपक्रमते, पराक्रमते।

उप पूर्वक क्रम धातु से 'उपपराभ्याम्' से आत्मनेपद होने पर 'त' प्रत्यय में एत्व होकर उपक्रमते पद बनता है अर्थात् भूमिका बाँधता है या आरम्भ करता है।

परा पूर्वक क्रम धातु से प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद होने पर 'त' प्रत्यय में एत्व होकर पराक्रमते रूप होता है। अर्थात् पराक्रम करता है। सम् पूर्वक क्रम धातु से आत्मनेपद नहीं होकर परस्मैपद होता है। जैसे—संक्रामति।

२७१७ । अपह्नवे ज्ञः १।३।४४ ।

प्रकृत सूत्र आत्मनेपदप्रकरण का है । यहाँ 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति होती है । अपह्नव का अर्थ है छिपाना या झुठलाना अथवा अपलाप करना । इस प्रकार अपलाप अर्थ में वर्तमान ज्ञा धातु से आत्मनेपद होता है — यह सूत्रार्थ है । इसका उदाहरण है—शतमपजानीते अर्थात् सौ रुपये झुठलाता है ।

अपलाप अर्थ में प्रयुक्त अपपूर्वक ज्ञा धातु से आत्मनेपद 'अपह्नवे ज्ञः २७१७' से होने पर 'त' प्रत्यय में एत्व होने पर अपजानीते प्रयोग हुआ है ।

२७२६ । उदश्चरः सकर्मकात् १।३।५३ ।

आत्मनेपदप्रकरण के इस सूत्र में 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' २१५७ से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति होने पर सूत्र का अर्थ है कि उत् पूर्वक सकर्मक चर धातु से आत्मनेपद होता है । यथा—**धर्मम् उच्चरते ।**

अर्थात् धर्म का उल्लंघन करता है । उल्लंघन अर्थ में उत् पूर्वक चर् धातु से प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद होने पर 'त' प्रत्यय आने पर एत्व आदि के बाद उच्चरते सिद्ध होता है ।

सूत्र में 'सकर्मकात्' कहा गया है । इसलिये अकर्मक क्रिया अर्थ रहने पर आत्मनेपद नहीं होता है । यथा—बाष्पम् उच्चरति ।

अर्थात् वाष्प ऊपर उठता है । ऊपर उठना क्रिया अकर्मक है । इसलिये उत् पूर्वक चर् धातु से आत्मनेपद न होकर परस्मैपद हुआ है ।

२७२८ । दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे १।३।५५ ।

व्याख्येय सूत्र आत्मनेपद प्रकरण से संकलित है । यहाँ 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' २१५७ से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति होती है तथा 'समस्तृतीयायुक्तात्' का ग्रहण होता है । अतः इस सूत्र की वृत्ति में कहा है—

सम्पूर्वाद् दाणस्तृतीयान्तेन युक्तादुक्तं स्यात् तृतीया चेच्चतुर्थ्यर्थे ।

अर्थात् सम् पूर्वक दाण् धातु से आत्मनेपद होता है यदि वहाँ तृतीया विभक्ति चतुर्थी विभक्ति के अर्थ में हो । यथा—

दास्या संयच्छते कामुकः ।

अर्थात् कामुक व्यक्ति रति फल के लिये दासी को दान देता है । यहाँ 'अशिष्टव्यवहारे दाणः प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे तृतीया वाच्या' इस वार्तिक से चतुर्थी के अर्थ में तृतीया विभक्ति हुई है । इसलिये 'दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे' २७२८ से दाण् धातु आत्मनेपदी हो जाता है । फलतः लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्दृश्यर्तिसर्ति—' २४६० से दाण् का यच्छ आदेश होने 'टित आत्मनेपदानां टेरे' से एत्व होने के बाद संयच्छते प्रयोग सिद्ध होता है ।

२७३१ । ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः १।३।५७ ।

कृत्यप्रकरण के व्याख्यात सूत्र

२८२२। अर्हे कृत्यतृचश्च ३।३।१६९।

प्रकृत सूत्र लकारार्थ प्रकरण में लिङ् लकार तथा उसी अर्थ में कृत्य प्रत्यय का विधायक है। यहाँ 'लिङ् यदि' सूत्र से 'लिङ्' की अनुवृत्ति होती है। 'धातोः' का यहाँ अधिकार आता है। अतः इस सूत्र का अर्थ है—

अर्हे अर्थे धातोः लिङ् लकारस्तथा कृत्यप्रत्ययः तृच्-प्रत्ययश्च स्यात्।

अर्थात् अर्ह (योग्य) अर्थ में धातु से कृत्यसंज्ञक एवं तृच् प्रत्यय होते हैं तथा सूत्र में चकार के ग्रहण से उसी अर्थ में लिङ् लकार भी होता है। लिङ् से कृत्य एवं तृच् का बाध न हो इसलिये सूत्र में कृत्य-तृच् का ग्रहण किया है, इस कृत्य एवं तृच् ग्रहण से यहाँ 'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्' की प्रवृत्ति नहीं है। अन्यथा विकल्प से बाधने पर पक्ष में कृत्य एवं तृच् होता। पुनः इनका ग्रहण व्यर्थ हो जाता—'क्तल्युट्खलर्थेषु वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्' की अप्रवृत्ति ही है।

इसका उदाहरण है—त्वं कन्यां वहेः।

यहाँ कन्या वहन की अर्हता बताने के लिये यह प्रयोग है। इसलिये वह धातु से लिङ् लकार हुआ है।

इसी अर्थ में कृत्य प्रत्यय का उदाहरण है—त्वया कन्या वोढव्या।

तृच् का उदाहरण है—त्वं कन्यां वोढा।

इन तीनों वाक्यों का अर्थ समान ही है जबकि प्रथम वाक्य लिङ् लकार का है तो दूसरा वाक्य कृत्य का और तीसरा तृच् का है। अतः योग्य अर्थ में तीनों का प्रयोग विहित है।

२८२३। शकि लिङ् च ३।३।१७२।

प्रकृत सूत्र तिङन्त के लकारार्थ प्रकरण में लिङ् लकार तथा कृत्य प्रत्यय का विधान करता है। इस सूत्र में 'च' से 'कृत्याः' के प्रकरण में पढ़े गये कृत्य प्रत्ययों का आकर्षण होता है। इसलिये सूत्र की वृत्ति में कहा गया है—

शक्तौ लिङ् स्यात्, चात्कृत्याः।

अर्थात् शक्ति अर्थ प्रतीत होने पर धातु से लिङ् लकार होता है तथा कृत्य प्रत्यय होते हैं। लिङ् का उदाहरण है—त्वं भारं वहेः। यहाँ शक्ति अर्थ बताने के लिये तुम भार ढोओगे—इस कथन में वह धातु से लिङ् लकार होकर मध्यम पुरुष एक वचन में 'वहेः' रूप होता है।

उसी अर्थ में त्वया भारः 'वोढव्यः' भी प्रयोग होता है। यहाँ वह धातु से कृत्य प्रत्यय (तव्यत्) का प्रयोग किया गया है।

२७१७। अपह्नवे ज्ञः १।३।४४।

प्रकृत सूत्र आत्मनेपदप्रकरण का है। यहाँ 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति होती है। अपह्नव का अर्थ है छिपाना या झुठलाना अथवा अपलाप करना। इस प्रकार अपलाप अर्थ में वर्तमान ज्ञा धातु से आत्मनेपद होता है—यह सूत्रार्थ है। इसका उदाहरण है—शतमपजानीते अर्थात् सौ रुपये झुठलाता है।

अपलाप अर्थ में प्रयुक्त अपपूर्वक ज्ञा धातु से आत्मनेपद 'अपह्नवे ज्ञः २७१७' से होने पर 'त' प्रत्यय में एत्व होने पर अपजानीते प्रयोग हुआ है।

२७२६। उदश्चरः सकर्मकात् १।३।५३।

आत्मनेपदप्रकरण के इस सूत्र में 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' २१५७ से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति होने पर सूत्र का अर्थ है कि उत् पूर्वक सकर्मक चर धातु से आत्मनेपद होता है। यथा—धर्मम् उच्चरते।

अर्थात् धर्म का उल्लंघन करता है। उल्लंघन अर्थ में उत् पूर्वक चर् धातु से प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद होने पर 'त' प्रत्यय आने पर एत्व आदि के बाद उच्चरते सिद्ध होता है।

सूत्र में 'सकर्मकात्' कहा गया है। इसलिये अकर्मक क्रिया अर्थ रहने पर आत्मनेपद नहीं होता है। यथा—बाष्पम् उच्चरति।

अर्थात् वाष्प ऊपर उठता है। ऊपर उठना क्रिया अकर्मक है। इसलिये उत् पूर्वक चर् धातु से आत्मनेपद न होकर परस्मैपद हुआ है।

२७२८। दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे १।३।५५।

व्याख्येय सूत्र आत्मनेपद प्रकरण से संकलित है। यहाँ 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' २१५७ से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति होती है तथा 'समस्तृतीयायुक्तात्' का ग्रहण होता है। अतः इस सूत्र की वृत्ति में कहा है—

सम्पूर्वाद् दाणस्तृतीयान्तेन युक्तादुक्तं स्यात् तृतीया चेच्चतुर्थ्यर्थे।

अर्थात् सम् पूर्वक दाण् धातु से आत्मनेपद होता है यदि वहाँ तृतीया विभक्ति चतुर्थी विभक्ति के अर्थ में हो। यथा—

दास्या संयच्छते कामुकः।

अर्थात् कामुक व्यक्ति रति फल के लिये दासी को दान देता है। यहाँ 'अशिष्टव्यवहारे दाणः प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे तृतीया वाच्या' इस वार्तिक से चतुर्थी के अर्थ में तृतीया विभक्ति हुई है। इसलिये 'दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे' २७२८ से दाण् धातु आत्मनेपदी हो जाता है। फलतः लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्दृश्यर्तिसर्ति—' २४६० से दाण् का यच्छ आदेश होने 'टित आत्मनेपदानां टेरे' से एत्व होने के बाद संयच्छते प्रयोग सिद्ध होता है।

२७३१। ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः १।३।५७।

कृत्यप्रकरण के व्याख्यात सूत्र

२८२२। अर्हे कृत्यतृचश्च ३।३।१६९।

प्रकृत सूत्र लकारार्थ प्रकरण में लिङ् लकार तथा उसी अर्थ में कृत्य प्रत्यय का विधायक है। यहाँ 'लिङ् यदि' सूत्र से 'लिङ्' की अनुवृत्ति होती है। 'धातोः' का यहाँ अधिकार आता है। अतः इस सूत्र का अर्थ है—

अर्हे अर्थे धातोः लिङ् लकारस्तथा कृत्यप्रत्ययः तृच्-प्रत्ययश्च स्यात्।

अर्थात् अर्ह (योग्य) अर्थ में धातु से कृत्यसंज्ञक एवं तृच् प्रत्यय होते हैं तथा सूत्र में चकार के ग्रहण से उसी अर्थ में लिङ् लकार भी होता है। लिङ् से कृत्य एवं तृच् का बाध न हो इसलिये सूत्र में कृत्य-तृच् का ग्रहण किया है, इस कृत्य एवं तृच् ग्रहण से यहाँ 'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्' की प्रवृत्ति नहीं है। अन्यथा विकल्प से बाधने पर पक्ष में कृत्य एवं तृच् होता। पुनः इनका ग्रहण व्यर्थ हो जाता—'क्तल्युट्खलर्थेषु वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्' की अप्रवृत्ति ही है।

इसका उदाहरण है—त्वं कन्यां वहेः।

यहाँ कन्या वहन की अर्हता बताने के लिये यह प्रयोग है। इसलिये वह धातु से लिङ् लकार हुआ है।

इसी अर्थ में कृत्य प्रत्यय का उदाहरण है—त्वया कन्या वोढव्या।

तृच् का उदाहरण है—त्वं कन्यां वोढा।

इन तीनों वाक्यों का अर्थ समान ही है जबकि प्रथम वाक्य लिङ् लकार का है तो दूसरा वाक्य कृत्य का और तीसरा तृच् का है। अतः योग्य अर्थ में तीनों का प्रयोग विहित है।

२८२३। शकि लिङ् च ३।३।१७२।

प्रकृत सूत्र तिङन्त के लकारार्थ प्रकरण में लिङ् लकार तथा कृत्य प्रत्यय का विधान करता है। इस सूत्र में 'च' से 'कृत्याः' के प्रकरण में पढ़े गये कृत्य प्रत्ययों का आकर्षण होता है। इसलिये सूत्र की वृत्ति में कहा गया है—

शक्तौ लिङ् स्यात्, चात्कृत्याः।

अर्थात् शक्ति अर्थ प्रतीत होने पर धातु से लिङ् लकार होता है तथा कृत्य प्रत्यय होते हैं। लिङ् का उदाहरण है—त्वं भारं वहेः। यहाँ शक्ति अर्थ बताने के लिये तुम भार ढोओगे—इस कथन में वह धातु से लिङ् लकार होकर मध्यम पुरुष एक वचन में 'वहेः' रूप होता है।

उसी अर्थ में त्वया भारः 'वोढव्यः' भी प्रयोग होता है। यहाँ वह धातु से कृत्य प्रत्यय (तव्यत्) का प्रयोग किया गया है।

इस सन्दर्भ में बताया गया है कि 'माङ्' का प्रयोग हो तो शक्य अर्थ में भी लुङ् लकार होता है। सूत्र है—'माङि लुङ्'। इसका उदाहरण है—'मा कार्षीः'। अर्थात् तुम ऐसा नहीं कर सकते हो।

किन्तु कहीं-कहीं 'मा' के साथ लोट् लकार और लृट् लकार का भी प्रयोग देखा जाता है। अतः शंका की जाती है—कथं 'मा भवतु' 'मा भविष्यति' इति।

उसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि लोट् और लृट् में 'माङ्' अव्यय नहीं है किन्तु 'मा' अव्यय है। दोनों अव्यय 'मत' अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। 'माङ्' के योग में सभी लकारों को बाधकर 'लुङ्' लकार ही होता है, किन्तु उसी अर्थ में 'मा' अव्यय का प्रयोग रहने पर अन्य लकार-लोट् एवं लृट् आदि भी होते हैं।

२८३०। वाऽसरूपोऽस्त्रियाम् ३।१।९४।

प्रकृत सूत्र सिद्धान्तकौमुदी के कृत्प्रत्यय प्रकरण का है। यह सूत्र 'धातोः' के अधिकार में पढा गया है। यह परिभाषा सूत्र है। अनियम में नियमकारिणी को परिभाषा कहते हैं। यह सामान्य परिभाषा स्वरूप है। व्याकरण में परिभाषा है—

परनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः।

अर्थात् पर, नित्य, अन्तरङ्ग और अपवाद सूत्रों में अपेक्षाकृत बाद वाले बली होते हैं। इसके अनुसार सामान्य सूत्र से अपवाद सूत्र अधिक बलवान होता है। यह सामान्य रूप से कहा गया है। इसके भी अपवाद रूपमें पाणिनि का सूत्र है—

वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्।

इस सूत्र की वृत्ति में कहा गया है—

अस्मिन् धात्वधिकारेऽसरूपोऽपवादप्रत्यय उत्सर्गस्य बाधको वा स्यात् स्त्र्यधिकारोक्तं विना।

अर्थात् इस धातु के अधिकार में असमान रूप वाला अपवाद प्रत्यय उत्सर्ग सूत्र का बाधक विकल्प से होता है। किन्तु 'स्त्रियां क्तिन्' इस सूत्र से 'स्त्रियाम्' के अधिकार में आये सूत्रों को छोड़कर ही विकल्प बाधता है उसके अधिकार के सूत्रों में तो नित्य ही बाधता है।

इस सूत्र का उदाहरण है—देयम्, दातव्यम्, पठनीयम् आदि। यहाँ 'अचो यत्' सूत्र से विहित यत् प्रत्यय का 'तव्यत्तव्यानीयरः' से नित्य ही बाध होता। किन्तु इस सूत्र की परिभाषा के अनुसार विकल्प से बाधक होता है। फलस्वरूप दा धातु से यत् और तव्यत् दोनों प्रत्यय होने पर देयम् और दातव्यम् दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

दूसरी ओर यत् और ण्यत् प्रत्यय में 'य' ही बचता है। ये दोनों समान रूप वाले प्रत्यय हैं। इसलिये ण्यत् प्रत्यय से यत् का बाध नित्य होता है जिससे कृ धातु के अजन्त होने पर भी 'अचो यत् से यत्' नहीं होता, किन्तु ऋहलोर्ण्यत् से ण्यत् प्रत्यय होकर कार्यम् रूप सिद्ध होता है।

यह परिभाषा 'स्त्रियां क्तिन्' के अधिकार में नहीं लगती है। इसलिये वहाँ 'स्त्रियाँ क्तिन्' आदि प्रत्ययों का नित्य ही बाध होता है जिससे 'ण्यासश्रन्थो युच्' सूत्र से 'कारणा' 'हारणा' आदि प्रयोगे में 'युच्' प्रत्यय ही होता है।

२८३२। कर्तरि कृत् ३।४।९५।

प्रकृत सूत्र कृदन्त प्रकरण में कर्ता अर्थ में कृत् प्रत्यय का विधान करने वाला सूत्र है। यहाँ धातोः का अधिकार आता है। अतः सूत्र का अर्थ होता है कि धात्वर्थ व्यापाराश्रय कर्ता मे धातु से कृत् प्रत्यय होता है। कृत् को परिभाषित करते हुए पाणिनि ने सूत्र लिखा है—

कृदतिङ्।

अर्थात् तिङ् (तिप्, तस्, झि आदि) से भिन्न सभी प्रत्यय जो धातु से लगते हैं कृत् प्रत्यय कहलाते हैं। इसमें कृत्य (तव्यत्, तव्य, अनीयर्, यत्, ण्यत्, क्यप् और केलिमर्) तृच्, ण्वुल, अण् तथा क्, आदि प्रत्यय आते हैं।

'कर्तरि कृत्' का अपवाद सूत्र है—'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः'। इसका अर्थ है कि कृत्य प्रत्यय, क्त प्रत्यय एवं खलर्थ प्रत्यय भाव और कर्म अर्थ में ही होते हैं, कर्ता अर्थ में नहीं। जैसे भाव में 'एध समृद्धो' से तव्यत् (कृत्य) करने पर एधितव्यम् तथा कर्म अर्थ में 'चिञ् चयने' धातु से तव्यत् करने पर चेतव्यः प्रयोग (पुंल्लिङ्ग में) बनते हैं।

इस प्रकार कृत्य, क्त और खलर्थ प्रत्यय तो भाव और कर्म अर्थ में होते हैं, किन्तु इनको छोड़कर सभी कृत् प्रत्यय कर्ता अर्थ मे धातु से लगते हैं। जैसे 'वच् परिभाषणे' धातु से कर्ता अर्थ में 'ण्वुल्तृचौ' सूत्र से 'ण्वुल्' एवं 'तृच्' प्रत्यय करने पर क्रमशः वाचकः और वक्ता पद बनते हैं। इसका अर्थ है बोलने की क्रिया को करने वाला।

इसी तरह बुध् एवं ज्ञा धातु से कर्ता अर्थ में 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' सूत्र से 'क' प्रत्यय होने पर क्रमशः बुधः तथा ज्ञः पद सिद्ध होते हैं।

२८३३। तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः ३।४।७०।

व्याख्येय सूत्र कृत्प्रत्ययों के अर्थ का प्रतिपादक है। यहाँ 'धातोः' का अधिकार आता है तथा 'भावकर्मणोः' सूत्र की अनुवृत्ति होती है। सामान्य रूप से 'कर्तरि कृत्' सूत्र से कृत् प्रत्यय कर्ता अर्थ में होते हैं जिसका यह अपवाद है—तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः। इस सूत्र की वृत्ति इस प्रकार है—

एते भावकर्मणोरेव स्युः।

अर्थात् कृत्य प्रत्यय, क्त प्रत्यय एवं खलर्थ वाले प्रत्यय भाव और कर्म में ही होते हैं।

इसमें भाव का उदाहरण है—एधितव्यम्।

'एध वृद्धौ' धातु के अकर्मक होने के कारण भाव अर्थ में 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' सूत्र से तव्यत् प्रत्यय होने पर 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' सूत्र से इट् का आगम होने पर एधितव्य शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा के बाद सु विभक्ति में एधितव्यम् रूप सिद्ध होता है।

कर्म का उदाहरणहै—चेतव्यः धर्मस्त्वया ।

यहाँ चि धातु के सकर्मक होने के कारण कर्म अर्थ में तव्यत् प्रत्यय होने पर गुण होकर चेतव्य शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा कर सु विभक्ति में कर्म (धर्म) के पुंल्लिङ्ग होने के कारण चेतव्य से आये सु का रुत्व एवं विसर्ग होकर चेतव्यः पद बनता है तथा चेतव्यः धर्मस्त्वया वाक्य बनता है। तव्यत् प्रत्यय से कर्म के उक्त हो जाने से धर्मः में प्रथमा हुई और तदनुसार चेतव्यः भी प्रथमान्त पद हुआ ।

'क्त' प्रत्यय का उदाहरण—दृष्टः बालकः ।

यहाँ दृश् धातु से क्त प्रत्यय कर्म अर्थ में होने पर कर्म के उक्त होने से बालक में प्रथमा विभक्ति हुई तथा दृष्टः भी प्रथमान्त है ।

इसी प्रकार खलर्थक भी भाव एवं कर्म में होते हैं ।

२८३४ । तव्यत्तव्यानीयरः ३।१।९६ ।

प्रश्नोद्धृत सूत्र कृदन्त-कृत्य प्रकरण का है। इस सूत्र में 'धातोः' का अधिकार है तथा 'प्रत्ययः' एवं 'परश्च' का अधिकार आता है। इसलिये इस सूत्र की वृत्ति में कहा गया है—

धातोरेते प्रत्ययाः स्युः । तकाररेफौ स्वरार्थौ ।

अर्थात् धातु से पर में तव्यत्, तव्य और अनीयर् प्रत्यय होते हैं। 'तव्यत्' का 'त्' इत्संज्ञक है जिससे 'तित् स्वरितम्' सूत्र से यहाँ स्वरित स्वर होता है। इसी तरह 'अनीयर्' के 'र्' की इत्संज्ञा होती है । इसलिये 'उपोत्तमं रिति' सूत्र से मध्योदात्तार्थ रेफ है ।

'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' सूत्र के अनुसार कृत्य (तव्यत्, तव्य, अनीयर्, यत्, ण्यत्, क्यप् और केलिमर्) प्रत्यय, क्त और खलर्थक प्रत्यय भाव एवं कर्म में ही होते हैं इसलिये सकर्मक धातु से कर्म में तथा अकर्मक धातु से भाव में ये प्रत्यय होते हैं ।

एध धातु अकर्मक है। इसलिये भाव में उससे तव्यत् प्रत्यय होने पर 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' सूत्र से इट् का आगम होने पर एधितव्य शब्द से प्रातिपदिकादि कार्य होने पर एधितव्यम् प्रयोग बनता है। भाव सदा एक वचन तथा नपुंसक होता है। अतः त्वया एधितव्यम् यही प्रयोग होता है। यहाँ तव्यत् प्रत्यय से कर्ता के अनुक्त हो जाने के कारण उसमें तृतीया विभक्ति हुई है ।

कर्म में तव्यत् प्रत्यय का उदाहरण है—

त्वया धर्मश्चेतव्यः ।

यहाँ सकर्मक चि धातु से कर्म अर्थ में तव्यत् प्रत्यय होने पर चेतव्यः रूप होता है। यहाँ कर्म में प्रत्यय होने के कारण कर्म के अनुसार लिङ्ग वचन आदि होते हैं। धर्म शब्द पुंल्लिङ्ग है, अतः चेतव्यः पुंल्लिङ्ग रूप प्रयुक्त है ।

इसी तरह एध से अनीयर् प्रत्यय में एधनीयम् तथा चि से अनीयर् करने पर चयनीयः आदि प्रयोग होते हैं ।

२८३७। हलश्चेजुपधात् ८।४।३१।

प्रकृत सूत्र कृदन्त प्रकरण की कृत्यप्रक्रिया से उद्धृत है। यह कृत्यप्रकरण में णत्व विधायक सूत्र है। यहाँ 'कृत्यचः' की अनुवृत्ति होती है तथा 'रषाभ्यां णो नः समानपदे' से 'रषाभ्याम्' का सम्बन्ध होता है। 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' सूत्र से 'उपसर्गाः' का सम्बन्ध होता है एवम् 'धातोः' का अधिकार आता है। इस सूत्र की वृत्ति में कहा गया है—

हलादेरिजुपधात्कृन्तस्याचः परस्य णो वा स्यात्।

अर्थात् हलादि (जिसके आदि में व्यञ्जन वर्ण है।) एवम् इजुपध (जिसकी उपधा में इच्=इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ हों) धातुओं के अच् से पर में रहने वाले कृत् प्रत्यय के 'न' का उपसर्गस्थ निमित्त रहने पर विकल्प से णत्व होता है। इसका उदाहरण है—

प्रकोपणीयम् – प्रकोपनीयम्।

यहाँ प्र उपसर्ग पूर्वक कुप् धातु से अनीयर् प्रत्यय करने पर गुण के बाद 'प्रकोपनीय' की स्थिति में उपसर्ग में रहने वाले रेफ निमित्त होने से तथा हलादि एवम् इजुपधक कुप् धातु से कृत्य प्रत्यय होने पर उसके अनीयर् के 'न' का 'हलश्चेजुपधात्' सूत्र से विकल्प से णत्व होने पर प्रकोपणीयम् तथा पक्ष में णत्व नहीं होने से प्रकोपनीयम् पद प्रातिपदिकसंज्ञा तथा विभक्तिकार्य के बाद बनता है।

सूत्र में 'हलः' पाठ होने से हलादि धातु से ही प्रकृत सूत्र से णत्व का विधान होता है। अतः प्र पूर्वक उह धातु से अनीयर् होने पर धातु के अजादि होने के कारण 'हलश्चेजुपधात्' से विकल्प से णत्व नहीं होता है, किन्तु 'कृत्यचः' सूत्र से नित्य ही णत्व होकर प्रोहणीयम् पद बनता है।

सूत्र में 'इजुपधात्' पढ़ने के कारण प्र पूर्वक वप् धातु से 'अनीयर्' प्रत्यय करने पर प्रवपनीय की स्थिति में धातु के इजुपध नहीं होने के कारण विकल्प से णत्व नहीं होता है किन्तु 'कृत्यचः' सूत्र से नित्य ही णत्व होने पर प्रवपणीयम् प्रयोग सिद्ध होता है। यह प्रत्युदाहरण है।

२८४१। कृत्यल्युटो बहुलम् ३।३।११३।

प्रकृत सूत्र कृदन्त प्रकरण की कृत्यप्रक्रिया में कृत्य एवं ल्युट् प्रत्ययों का बहुत अर्थों में विधान के लिये है। इस प्रकरण में 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' सूत्र भाव एवं कर्म में कृत्यादि प्रत्ययों का विधान करता है। 'कृत्यल्युटो बहुलम्' उसका अपवाद सूत्र है। इस सूत्र से कृत्य एवं ल्युट् प्रत्यय बहुल अर्थों में बताये जाते हैं। अर्थात् ये प्रत्यय करण आदि अर्थों में भी होते हैं। 'बहुलम्' का अर्थ है—बहून् अर्थान् लातीति बहुलम्। अर्थात् ये प्रत्यय बहुत अर्थों को लाने वाले होते हैं। तात्पर्य है कि जिन अर्थों में प्रकृति से ये प्रत्यय कहे गये हैं उनसे भिन्न अर्थों में—सम्प्रदान आदि में भी होते हैं। इसका उदाहरण है—स्नानीयं चूर्णम्।

स्नाति अनेन इस विग्रह में स्नाधातु से करण अर्थ में 'अनीयर्' प्रत्यय होने पर प्रातिपदिकादि कार्य के बाद स्नानीयम् पद बनता है। इसलिये जिससे स्नान किया जाये उस चूर्ण का बोधक यह शब्द होता है।

इसी प्रकार जिसे दिया जाय इस सम्प्रदान अर्थ में अनीयर् प्रत्यय होने पर प्रातिपदिकादि कार्य के बाद दानीयः पद होता है। अतः दानीयः विप्रः—ऐसा वाक्य-प्रयोग बनता है।

इसी प्रकार विभेत्यस्मात् इस विग्रह में अपादान में प्रत्यय होकर भीमः प्रयोग सिद्ध होता है। ल्युट् का उदाहरण है—

साध्यते अनेन इति साधनम्।

यहाँ 'साध संसिद्धौ' धातु से करण अर्थ में 'कृत्यल्युटो बहुलम्' सूत्र से ल्युट् प्रत्यय करने पर अनुबन्धलोप के बाद 'युवोरनाकौ' से यु का अनादेश होने पर प्रातिपदिकादि कार्य के बाद साधनम् पद सिद्ध होता है। यह ल्युट् प्रत्यय भी बहुल होता है।

२८४२। अचो यत् ३।१।९७।

व्याख्येय सूत्र कृदन्त प्रकरण की कृत्य प्रक्रिया का है। यहाँ 'धातोः' का अधिकार आता है। धातु का अच् विशेषण है। अतः 'येन विधिस्तदन्तस्य' सूत्र के अनुसार 'अच्' अजन्त का बोधक है। अतः इस सूत्र की वृत्ति में कहा गया है—

अजन्ताद्धातोर्यत् स्यात्।

अर्थात् अजन्त (स्वरान्त) धातु से यत् प्रत्यय कृत्य प्रत्यय के अन्तर्गत है इसलिये 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' सूत्र के अनुसार भाव एवं कर्म में यत् प्रत्यय धातु से होता है। इसके उदाहरण हैं—चेयम्, जेयम्, आदि।

यहाँ चि धातु से कर्म अर्थ में 'अचो यत्' से यत् प्रत्यय करने पर गुण एवं प्रातिपदिकादि कार्य होने पर चेयम् तथा जि धातु से यत् करने पर गुण आदि के बाद जेयम् पद होता है।

'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्' सूत्र के अनुसार यह (यत्) प्रत्यय असरूप प्रत्ययों का अपवाद होने पर भी विकल्प से बाधक होता है। इसलिये पक्ष में चि धातु से तव्यत्, तव्य एवम् अनीयर् प्रत्यय भी होते हैं जिससे चेतव्यः तथा चयनीयः आदि प्रयोग बनते हैं।

'अचो यत्' सूत्र में अच् ग्रहण छोड़ा भी जा सकता है क्योंकि 'ऋहलोर्ण्यत्' सूत्र से हलन्त धातु से ण्यत् प्रत्यय का विधान किया गया है। इसलिये उस (हलन्त) से बचे धातु (अजन्त) से यत् प्रत्यय समझा जाता। अलग से 'अच्' कहने की आवश्यकता नहीं थी।

इसी प्रकार 'तव्यत्तव्यानीयरः' इस सूत्र में ही 'तव्यत्' आदि के समान 'यत्' का पाठ कर देने से भी प्रयोजन सिद्ध होता। अलग विभक्ति कर सूत्र नहीं भी करने से कोई हानि नहीं थी।

२८४४। पोरदुपधात् ३।१।२४।

व्याख्येय सूत्र सिद्धान्तकौमुदी के कृदन्त-कृत्यप्रकरण से संकलित है। यह सूत्र 'ऋहलोर्ण्यत्' का अपवाद है। यहाँ 'धातोः' सूत्र का अधिकार आता है। 'पु' धातु का विशेषण होकर 'येन विधिस्तदन्तस्य' परिभाषा सूत्र के अनुसार पवर्गान्त का बोधक होता है। यहाँ 'अचो यत्' सूत्र से 'यत्' की अनुवृत्ति होती है। अतः इस सूत्र की वृत्ति में कहा है—

पवर्गान्तादुपधाद्यत् स्यात्।

अर्थात् पवर्गान्त एवम् अदुपध (जिसकी उपधा में अत् हो) धातु से यत् प्रत्यय होता है। इसके उदाहरण हैं—

शप् + यत् = शप्यम्। लभ् + यत् = लभ्यम्।

शप् एवं लभ् धातु हलन्त हैं। अतः 'ऋहलोर्ण्यत्' से 'ण्यत्' की प्राप्ति थी जिसे बाध कर प्रकृत सूत्र से 'यत्' होने पर ऐसा रूप बनता है। यद्यपि यत् और ण्यत् प्रत्यय में देखे गये रूप असरूप हैं, इसलिये 'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्' सूत्र के अनुसार अपवाद होने पर भी 'पोरदुपधात्' सूत्र विकल्प से 'ऋहलोर्ण्यत्' का बाधक होता है। अतः पक्ष में ण्यत् भी होता, किन्तु 'नानुबन्धकृतमसारूप्यम्' यह परिभाषा है जिससे अनुबन्ध कृत असारूप्य नहीं लिया जाता है—इस नियम के अनुसार 'ण्' अनुबन्ध को लेकर 'यत्' एवं 'ण्यत्' में असारूप्य नहीं होता। इसलिये 'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्' सूत्र की प्रवृत्ति यहाँ नहीं होती है। फलतःअपवाद भूत 'यत्' नित्य ही ण्यत् का बाधक होता है। अतः पक्ष में 'ण्यत्' नहीं होता है।

'यत्' के साथ असारूप्य रखने वाले तव्यत् अनीयर् आदि प्रत्यय तो पक्ष में होते ही हैं। अतः लभ् धातु से तव्यत् प्रत्यय होने पर लब्धव्यम् तथा अनीयर् होने पर लभनीयम् और शप् धातु से तव्यत् करने पर शप्तव्यम् आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं।

२८४६। उपात्प्रशंसायाम् ७।१।६६।

यह सूत्र कृदन्त प्रकरण के कृत्य-भाग के अन्तर्गत लभ् धातु से नुम् प्रत्यय का विधान करने वाला है। यहाँ 'धातोः' का अधिकार आता है। यहाँ 'इदितो नुम् धातोः' सूत्र से 'नुम्' की अनुवृत्ति होती है तथा 'लभेश्च' सूत्र का ग्रहण होता है। 'आङोयि' सूत्र से 'यि' की अनुवृत्ति होती है। अतः इस सूत्र का अर्थ होता है कि प्रशंसा अर्थ में उपपूर्वक लभ् धातु से 'नुम्' का आगम होता है यदि यकारादि (य जिसके आदि में हो) प्रत्यय विवक्षित रहे। इस सूत्र का उदाहरण है—उपलम्भ्यः साधुः।

यहाँ उप पूर्वक लभ् धातु से यकारादि प्रत्यय के विवक्षित रहने पर 'उपात्प्रशंसायाम्' सूत्र से नुम् का आगमन होने पर अनुबन्ध ('उ' तथा 'म्') लोप के बाद 'न्' का अनुस्वार तथा परसवर्ण होने पर उपलम्भ के अदुपध नहीं होने से 'पोरदुपधात्' से 'यत्' नहीं होकर 'ऋहलोर्ण्यत्' से 'ण्यत्' होने पर पुंल्लिङ्ग में उपलम्भ्यः पद बनता है। अतः 'उपलम्भ्यः साधुः' वाक्य प्रयोग होता है। अर्थात् प्रशंसा के योग्य साधु।

सूत्र में 'प्रशंसायाम्' पाठ है। अतः प्रशंसा अर्थ नहीं रहने पर उपलब्धुं शक्यः इस विग्रह में उप पूर्वक लभ् धातु से 'उपात्प्रशंसायाम्' सूत्र से 'नुम्' नहीं होने पर 'पोरदुपधात्' सूत्र से यत् प्रत्यय होने से उपलभ्यः पद बनता है जिसका अर्थ होता है—प्राप्त करने योग्य।

२८४८। गदमदचरयमश्चानुपसर्गे ३।१।१००।

व्याख्येय सूत्र कृत्य प्रकरण में यत् प्रत्यय का विधान करता है। यह विधान 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' सूत्र के अनुसार कर्म एवं भाव अर्थ में ही होता है। यहाँ 'धातोः' तथा 'कृत्याः' का अधिकार आता है एवम् 'अचो यत्' से 'यत्' की अनुवृत्ति होती है। यह सूत्र 'ऋहलोर्ण्यत्' का अपवाद है।

प्रकृत सूत्र का अर्थ है कि उपसर्ग रहित गद, मद, चर—तथा यम् धातु से यत् प्रत्यय होता है। यथा—गद्य, मद्यम् आदि।

गद् धातु के हलन्त होने के कारण इस धातु से 'ऋहलोर्ण्यत्' सूत्र से ण्यत् प्रत्यय प्राप्त था। उस सूत्र का अपवाद होने के कारण 'गदमदचरयमश्चानुपसर्गे' सूत्र से उसे बाधित कर 'यत्' प्रत्यय होता है। जैसे—

गद् + यत् = गद्यम्। मद् + यत् = मद्यम्। चर्+यत्=चर्यम् तथा यम्+यत्=यम्यम्।

इस सन्दर्भ में वार्तिक आया है—'चरेराङि चागुरौ' अर्थात् आङ् पूर्वक चर् धातु से गुरु से भिन्न अर्थ में भी यत् होता है। यथा आचर्यो देशः।

गुरु अर्थ रहने पर तो 'ऋहलोर्ण्यत्' से ण्यत् होकर आचार्यः पद बनता है।

यम् धातु के पवर्गान्त होने के कारण 'पोरदुपधात्' से ही यत् प्रत्यय की सिद्धि होने पर भी इस सूत्र में सोपसर्गक यम् धातु से—'सोपसर्गान्मा भूत्' इस नियम के लिये यम् धातु का पाठ है। अतः 'प्रयाम्यम्' में इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होने से ण्यत् प्रत्यय ही होता है किन्तु 'तेन तत्र भवेद् विनियम्यम्' इस वार्तिक प्रयोग के कारण नियम रहने पर भी नि पूर्वक यम् धातु से यह 'यत्' प्रत्यय हो ही जाता है। इसलिये 'त्वया नियम्या ननु दिव्यचक्षुषा' यह कवि का प्रयोग है।

२८५४। वदः सुपि क्यप् च ३।१।१०६।

कृदन्त के कृत्यप्रकरण में यह सूत्र क्यप् विधायक है। यहाँ 'धातोः' का अधिकार आता है। 'गदमदचरयमश्चानुपसर्गे' सूत्र से 'अनुपसर्गे' की अनुवृत्ति होती है। 'भवो भावे' यह उत्तर का सूत्र है। अतः उससे 'भावे' पद का अपकर्षण यहाँ होता है। अतः सूत्र की वृत्ति में यहाँ कहा गया है—

वदेर्भावे क्यप् स्यात् चाद्यत् अनुपसर्गे सुप्युपपदे।

अर्थात् वद् धातु से भाव में क्यप् प्रत्यय होता है सूत्र में 'च' पढे जाने के कारण यत् प्रत्यय भी होता है। उपसर्ग भिन्न सुबन्त उपपद में रहने पर ये दोनों प्रत्यय विहित हैं।

सूत्र में 'सुपि' यह सप्तम्यन्त पद है। इसलिये 'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्' सूत्र के अनुसार सुप् उपपद रहने पर यह अर्थ निकलता है। इसका उदाहरण है—ब्रह्मोद्यम्।

ब्रह्मणः वदनम् इस विग्रह में ब्रह्म उपपद वद् धातु से 'वदः सुपि क्यप् च' सूत्र से क्यप् प्रत्यय होने पर 'वचिस्वपि यजादीनां किति' सूत्र से 'व' का सम्प्रसारण 'उ' होने पर आद्गुणः से गुण होने पर ब्रह्मोद्य शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा कर सु विभक्ति में ब्रह्मोद्यम् पद सिद्ध होता है।

पक्ष में ब्रह्म उपपद वद धातु से इसी सूत्र से यत् प्रत्यय का विधान होने पर प्रातिपदिकादि कार्य होने पर ब्रह्मवद्यम् प्रयोग बनता है।

सूत्र में 'अनुपसर्गे' की अनुवृत्ति है। अतः अनुपसर्ग की स्थिति में ही क्यप् एवं यत् प्रत्यय वद् धातु से होते हैं। उपसर्ग रहने पर तो वद् धातु के हलन्त होने के कारण 'ऋहलोर्ण्यत्' से ण्यत् ही होता है। अतः अनु पूर्वक वद् धातु से ण्यत् होने पर अनुवाद्यम् तथा अप पूर्वक वद् धातु से ण्यत् होने पर अपवाद्यम् प्रयोग सिद्ध होते हैं।

२८५८। ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् ६।१।७१।

व्याख्येय सूत्र कृत्प्रकरण के कृत्य भाग में 'तुक्' विधान के लिये पढा गया है। कृत्य प्रत्यय पर में रहने पर यह सूत्र 'तुक्' के आगम का विधान करता है। 'धातोः' का अधिकार यहाँ आता है। इस सूत्र का अर्थ है कि धातु के अधिकार में पकार इत्संज्ञक कृत्य प्रत्यय पर में रहने से तुक् का आगम होता है। उसके उदाहरण हैं—

इत्यः, स्तुत्यः, वृत्यः, आदृत्यः आदि।

'इण् गतौ' धातु से 'एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्' सूत्र से 'क्यप्' प्रत्यय होने पर पकार के इत्संज्ञक होने के कारण 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' सूत्र से 'तुक्' का आगम होने पर अनुबन्ध ('उ' एवं 'क्') लोप के बाद इत्य शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा कर सु विभक्ति में इत्यः पद बनता है।

इसी प्रकार 'ष्टुञ् स्तुतौ' धातु से कर्म अर्थ में 'एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्' सूत्र से क्यप् प्रत्यय होने से पकार के इत्संज्ञक होने के कारण 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' सूत्र से 'तुक्' का आगम होने पर अनुबन्ध लोप के बाद स्तुत्य शब्द के प्रातिपदिकादि कार्य होने से स्तुत्यः पद बनता है। इसका अर्थ है—स्तुति के योग्य।

'वृञ् वरणे' धातु से कर्म अर्थ में 'एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्' सूत्र से 'क्यप्' तथा 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' से 'तुक्' होने पर प्रातिपदिकादि कार्य के बाद सु विभक्ति में वृत्यः पद सिद्ध होता है। इसका अर्थ है—वरण करने योग्य।

२८६३। चजोः कुघिण्यतोः ७।३।५२।

यह सूत्र कृदन्त के कृत्य प्रकरण में कुत्व का विधान करता है। यहाँ 'धातोः' का अधिकार आता है। अतः सूत्र की वृत्ति में कहा गया है—

चस्य जस्य च कुत्वं स्याद्घिति ण्यति च प्रत्यये परे।

अर्थात् धातु के चकार और जकार का कुत्व होता है घित् एवं ण्यत् प्रत्यय के परे रहने पर। यथा-मार्ग्यः।

'मृजु शुद्धौ' धातु से कर्म अर्थ में 'ऋहलोर्ण्यत्' सूत्र से ण्यत् प्रत्यय होने पर 'ण्' तथा 'त्' की इत्संज्ञा एवं लोप होने पर 'मृजेर्वृद्धिः' सूत्र से वृद्धि एवं रपरत्व के बाद मार्ज्य की स्थिति में 'चजोः कुघिण्यतोः' सूत्र से 'ज्' का कुत्व 'ग्' होने पर मार्ग्य शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा सु विभक्ति होने पर रुत्व एवं विसर्ग के बाद मार्ग्यः पद बनता है।

घित् का उदाहरण है—पाकः।

यहाँ पच् धातु से 'भावे' सूत्र से 'घञ्' प्रत्यय होने पर 'लशक्वतद्धिते' से घ् की इत्संज्ञा होने पर घित् के कारण 'चजोः कुघिण्यतोः' सूत्र से कुत्व 'च्' का 'क्' होने से 'अत उपधायाः' से वृद्धि के बाद पाक शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा होने से सु विभक्ति में रुत्व तथा विसर्ग होने पर पाकः पद बनता है।

इस सूत्र के सन्दर्भ में एक वार्तिक आया है—

निष्ठायामनिट् इति वक्तव्यम्।

अर्थात् निष्ठा में जो अनिट् धातु हो उसी में कुत्व होना चाहिये। इसलिये गर्ज् धातु से 'ऋहलोर्ण्यत्' से ण्यत् प्रत्यय होने पर 'चजोः कुघिण्यतोः' से कुत्व नहीं होता है क्योंकि गर्ज धातु सेट् है। अतः प्रातिपदिकादि कार्य होने पर गर्ज्यम् प्रयोग होता है। गर्ज धातु से क्त प्रत्यय करने से गर्जितः प्रयोग बनता है। तथा गर्ज धातु से क्तवतु करने पर गर्जितवान् पद सिद्ध होता है। अतः यह सेट् धातु है।

२८७०। पदास्वैरिबाह्यापक्ष्येषु च ३।१।११९।

कृदन्त प्रकरण की कृत्य-प्रक्रिया में क्यप् विधायक यह सूत्र है। यहाँ 'धातोः' का अधिकार आता है। इस सूत्र में 'वदः सुपि क्यप् च' से 'क्यप्' की तथा 'प्रत्यपिभ्यां ग्रहेः' से 'ग्रहेः' की अनुवृत्ति होती है। अतः इस सूत्र का अर्थ है कि पद, अस्वैरी, बाह्य एवम् अपक्ष्य अर्थ में भी ग्रह धातु से क्यप् प्रत्यय होता है। यह सूत्र 'ऋहलोर्ण्यत्' का अपवाद है। ग्रह् धातु हलन्त है। अतः 'ऋहलोर्ण्यत्' से ण्यत् की प्राप्ति होने पर उसका बाध इस सूत्र से हो जाता है।

पद का उदाहरण—प्रगृह्यम्। यहाँ प्र पूर्वक ग्रह् धातु से कर्म अर्थ में 'ऋहलोर्ण्यत्' से ण्यत् प्राप्त होने पर पद अर्थ रहने के कारण 'पदास्वैरिबाह्यापक्ष्येषु च' सूत्र से क्यप् प्रत्यय होने पर 'वचिस्वपि यजादीनां किति' सूत्र से 'र्' का सम्प्रसारण 'ऋ' होने पर प्रातिपदिकादि कार्य के बाद प्रगृह्यम् पद सिद्ध होता है। 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' इस सूत्र से हरी एतौ आदि पदों में पद की प्रगृह्यसंज्ञा होती है जिसका फल होता है—'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' से प्रकृति भाव।

अस्वैरी का उदाहरण—गृह्यकाः शुकाः।

यहाँ पिञ्जरा में बन्द रहने के कारण परतन्त्र शुक के लिये 'गृह्यकाः' प्रयोग ग्रह् धातु से क्यप् के निपातन तथा सम्प्रसारण एवं 'क' प्रत्यय करने के बाद बना है।

बाह्य का उदाहरण है—ग्रामगृह्या सेना।

ग्राम से बाहर—इस अर्थ में 'पदास्वैरिबाह्यापक्ष्येषु च' सूत्र से क्यप् प्रत्यय का निपातन ग्रह् धातु से होने पर सम्प्रसारण के बाद बाह्य अर्थ में स्त्रीलिङ्ग में टाप् होने पर ग्रामगृह्या सेना प्रयोग होता है।

सूत्र में बाह्या यह स्त्रीलिङ्ग निर्देश है। अतः पुंल्लिङ्ग एवं नपुंसक में इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है।

इसी तरह अर्थ में पक्षे भवः इस अर्थ में आर्य पूर्वक ग्रह् धातु से क्यप् प्रत्यय का निपातन प्रकृत सूत्र से होने पर सम्प्रसारण के बाद प्रातिपदिकसंज्ञा होने पर सु विभक्ति में रुत्व तथा विसर्ग होने पर आर्यगृह्यः प्रयोग सिद्ध होता है। सज्जनों द्वारा गृहीत पक्ष को आर्यगृह्य कहते हैं।

२८७२। ऋहलोर्ण्यत् ३।१।१२४।

प्रकृत सूत्र कृदन्त-कृत्य प्रकरण में धातु से ण्यत् प्रत्यय का विधान करता है। यहाँ 'धातोः' सूत्र का अधिकार आता है। 'धातोः' के विशेषण हैं—'ऋहलोः'। इसलिये 'येन विधिस्तदन्तस्य' इस परिभाषा सूत्र के अनुसार वे ऋवर्णान्त एवं हलन्त (व्यञ्जनान्त) के बोधक हैं। अतः इस सूत्र की वृत्ति में कहा गया है—

ऋवर्णान्ताद्धलन्ताच्च धातोर्ण्यत् स्यात्।

अर्थात् जिस धातु के अन्त में ऋ हो अथवा जिस धातु के अन्त में हल् (व्यञ्जन) हो वैसे धातु से ण्यत् प्रत्यय होता है।

ण्यत् प्रत्यय कृत्य प्रत्यय के अन्तर्गत पठित है। इसलिये 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' सूत्र के अनुसार भाव एवं कर्म अर्थ में ण्यत् प्रत्यय होता है।

इसके उदाहरण हैं—कार्यम्, वर्ष्यम् आदि।

कृ धातु से कर्म अर्थ में, धातु के ऋवर्णान्त होने से, 'ऋहलोर्ण्यत्' सूत्र से ण्यत् प्रत्यय होने पर णित् के कारण 'अचोञ्णिति' से वृद्धि एवं रपरत्व तथा प्रातिपदिकादि विधान होने से कार्यम् पद बनता है। अतः 'तेन तपः कार्यम्' आदि प्रयोग होते हैं।

हलन्त वृष् सेचने धातु से 'ऋहलोर्ण्यत्' सूत्र से ण्यत् होने पर गुण तथा रपरत्व एवं प्रातिपदिक कार्य होने पर वर्ष्यम् प्रयोग बनता है जिसका अर्थ है—सींचने योग्य।

प्रकृत सूत्र में पञ्चमी के अर्थ में 'ऋहलोः' इस षष्ठी का निर्देश किया गया है।

२८७३। युग्यं च पत्रे ३।१।१२१।

प्रकृत सूत्र कृत्यप्रकरण के कृत्य भाग में निपातन के लिये है। इस सूत्र से वाहन अर्थ में 'युग्यम्' का निपातन होता है। इस सूत्र का अर्थ है कि पत्र (वाहन) अर्थ में युज् धातु से क्यप् एवं कुत्व का निपातन कर युग्य शब्द बनता है। वाहन में जोतने योग्य बैल को युग्य कहते हैं। पतन्ति गच्छन्ति अनेन इस अर्थ में वाहनार्थक पत्र शब्द है। युज् धातु के हलन्त होने के कारण कर्म अर्थ में 'ऋहलोर्ण्यत्' से 'ण्यत्' प्रत्यय की प्राप्ति थी तथा गुण होने पर योग्यम् पद बनता, किन्तु वाहन (पत्र) अर्थ रहने पर 'युग्यं च पत्रे' सूत्र से क्यप् प्रत्यय तथा कुत्व का निपातन होने पर युग्यम् पद की सिद्धि की गयी है।

क्यप् प्रत्यय होने से वह कित् है। इसलिये 'ग्क्ङिति च' सूत्र से, गुण का निषेध हो जाता है। क्यप् प्रत्यय होने पर 'चजोः कुघिण्यतोः' से कुत्व की सिद्धि नहीं होती। अतः कुत्व निपातन भी इस सूत्र से किया गया है। इसलिये वाहन अर्थ में 'युग्यः गौः' ऐसा प्रयोग देखा जाता है। गौः का विशेषण होने से 'युग्यः' यह पुंल्लिङ्ग प्रयोग है।

युज् धातु से क्यप् और कुत्व का निपातन वाहन अर्थ में ही होता है। अन्य अर्थ रहने पर युज् धातु से ण्यत् प्रत्यय होकर योग्यम् पद बनता है।

२८७७। भुजन्युब्जौ पाण्युपतापयोः ७।३।६१।

यह सूत्र कृदन्त-कृत्य प्रकरण में निपातन करने वाला है। भुज धातु से 'घञ्' प्रत्यय होने पर 'चजोः कुघिण्यतोः' सूत्र से प्राप्त कुत्व के विरुद्ध उसके अभाव का निपातन यह सूत्र करता है। उस सूत्र (चजोः कुघिण्यतोः) से सम्बद्ध होने के कारण इस सूत्र की वृत्ति में कहा है—

एतयोरेतौ निपात्यौ।

अर्थात् पाणि अर्थ में 'भुजः' तथा उपताप अर्थ में 'न्युब्जः' यह निपातन होता है। भुज्यतेऽनेन इस विग्रह में भुज धातु से 'हलश्च' सूत्र से घञ् प्रत्यय होने पर 'चजोः कुघिण्यतोः' से कुत्व की प्राप्ति थी, किन्तु पाणि अर्थ में कुत्व के अभाव का निपातन 'भुजन्युब्जौ पाण्युपतापयोः' सूत्र से होने पर पाणि के लिये भुजः प्रयुक्त होता है।

इसी तरह उपताप अर्थ में न्युब्जः में भी कुत्व नहीं होता है। न्युब्जन्त्यस्मिन् इस विग्रह में नि पूर्वक उब्ज् धातु से 'हलश्च' सूत्र से घञ् प्रत्यय करने पर 'चजोः कुघिण्यतोः' से कुत्व की प्राप्ति होने पर उपताप अर्थ में 'भुजन्युब्जौ पाण्युपतापयोः' सूत्र से कुत्व का अभाव निपातन होने से यण् सन्धि तथा प्रातिपदिकादि कार्य के बाद न्युब्जः प्रयोग सिद्ध होता है।

दूसरे अर्थ में तो 'चजोः कुघिण्यतोः' सूत्र से कुत्व होने पर भुज् धातु से घञ् प्रत्यय होने पर भोगः तथा सम्+उत् उपसर्ग पूर्वक उब्ज धातु से घञ् होने पर कुत्व के बाद समुद्गः प्रयोग बनता है।

२८८६। ओरावश्यके ३।१।१२५।

प्रकृत सूत्र कृदन्त के कृत्य प्रकरण में ण्यत् प्रत्यय का विधायक है। यहाँ 'धातोः' सूत्र से 'धातोः' का तथा 'कृत्याः' से कृत्य का अधिकार आता है। इसलिये 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' सूत्र से भाव एवं कर्म में हो यह प्रत्यय होता है। 'अचो यत्' से अजन्त धातुओं से भाव एवं कर्म अर्थ में यत् प्रत्यय का विधान किया गया है। उसका यह अपवाद सूत्र है—ओरावश्यके। यहाँ 'ऋहलोर्ण्यत्' से ण्यत् की अनुवृत्ति होती है। अतः इस सूत्र की वृत्ति में कहा गया है—

उवर्णान्ताद् धातोर्ण्यत् स्यादवश्यम्भावे द्योत्ये।

अर्थात् अवश्यम्भावी अर्थ द्योतित होने पर उवर्णान्त धातुओं से ण्यत् प्रत्यय होता है। यथा—

लाव्यम्, पाव्यम्।

यहाँ अवश्य छेदनीय अर्थ रहने से 'लुञ् छेदने' धातु से 'ओरावश्यके' सूत्र से ण्यत् प्रत्यय होता है। 'ण्यत्' के 'ण्' और 'त्' की इत्संज्ञा होने से णित् के कारण 'अचो ञ्णिति' सूत्र से 'उ' की वृद्धि 'औ' होती है तथा 'वान्तो यि प्रत्यये' सूत्र से आवादेश होने पर लाव्यम् प्रयोग सिद्ध होता है।

इसी प्रकार 'पुञ् पवने' धातु से प्रकृत सूत्र से ण्यत् होने पर णित् के कारण वृद्धि होने पर 'पौ य' की स्थिति में 'वान्तो यि प्रत्यये' सूत्र से आवादेश करने पर प्रातिपदिकसंज्ञा के बाद सु विभक्ति में अमादेश तथा पूर्वरूप होकर पाव्यम् प्रयोग बनता है।

अवश्य छेदनीय अर्थ नहीं रहने पर तो भाव एवं कर्म अर्थ में अजन्त धातुओं से यत् प्रत्यय ही होता है। अतः लुञ् + यत् = लव्यम् और पुञ् + यत् = पव्यम् प्रयोग होता है।

२८८८। आनाय्योऽनित्ये ३।१।१२७।

व्याख्येय सूत्र कृदन्त-कृत्य प्रकरण में निपातन करता है। यहाँ 'धातोः' का अधिकार आता है। 'ऋहलोर्ण्यत्' से 'ण्यत्' की अनुवृत्ति होती है। अतः इस सूत्र की वृत्ति में कहा गया है—

आङ्पूर्वान्नयतेर्ण्यदायादेशश्च निपात्यते।

अर्थात् आङ् पूर्वक नी धातु से ण्यत् प्रत्यय होता है एवम् 'आय्' आदेश निपातन से सिद्ध होता है, अनित्य अर्थ रहने पर। आङ् पूर्वक नी धातु के अजन्त होने के कारण 'अचो यत्' से 'यत्' की प्राप्ति होने पर 'आनाय्योऽनित्ये' सूत्र से ण्यत् प्रत्यय एवं 'आय्' आदेश का निपातन होने से प्रातिपदिकादि कार्य के बाद आनाय्यः प्रयोग सिद्ध होता है।

यह प्रयोग दक्षिणाग्नि विशेष में ही होता है। क्योंकि कार्य वश गार्हपत्याग्नि से आनीत होने के कारण अविच्छिन्न प्रकार से अप्रज्वलित होने से वह अनित्य है। जहाँ गार्हपत्याग्नि से आनयन नहीं होता है वहाँ वैश्यकुल से लाने योग्य अग्नि या घर के लिये तो आनेयः रूप होता है। यहाँ आङ् पूर्वक नी धातु से कर्म अर्थ में 'अचो यत्' से यत् होने पर गुण के बाद प्रातिपदिकसंज्ञा होने पर सु विभक्ति में पुंलिग में रुत्व तथा विसर्ग होने पर आनेयः पद सिद्ध होता है।

लोक में भी आङ् पूर्वक नी धातु से यत् करने पर आनेयम् पुस्तकम् आदि प्रयोग देखे जाते हैं।

इति डॉ० रामविलास चौधरी-विरचितायां सिद्धान्तकौमुदीव्याख्यायां ध्रुवविलासिन्यां कृत्यप्रकरणे व्याख्यातसूत्राणां सूची परिपूर्णा।

कृदन्तप्रकरण के महत्त्वपूर्ण सूत्रों की व्याख्या

२८९५। ण्वुल्तृचौ ३।१।१३३।

व्याख्येय सूत्र कृत् प्रकरण में ण्वुल् एवं तृच् प्रत्यय का विधान करता है। यहाँ 'धातोः' २८२९ का अधिकार आता है। अतः इस सूत्र की वृत्ति में कहते हैं—

धातेरेतौ प्रत्ययौ स्तः।

अर्थात् धातु से ये प्रत्यय होते हैं। 'कर्तरि कृत्' २८३२ के अनुसार ये प्रत्यय कर्ता अर्थ में विहित हैं।

यथा—कृ धातु से कर्ता अर्थ में 'ण्वुल्तृचौ' २८९५ से 'ण्वुल्' प्रत्यय होने पर अनुबन्धलोप के बाद 'युवोरनाकौ' १२४९ से 'वु' का 'अक' आदेश होने पर 'अचो ञ्णिति' २५४ से वृद्धि तथा रपरत्व के बाद प्रातिपदिकसंज्ञा होने पर सु विभक्ति में कारकः पद बनता है।

इसी प्रकार कृ धातु से 'तृच्' प्रत्यय होने पर गुण तथा रपरत्व होने पर कर्तृ शब्द की 'कृत्तद्धितसमासाश्च' १७९ से प्रातिपदिकसंज्ञा होने पर सु विभक्ति में कर्ता पद बनता है जिसका अर्थ है—काम करने वाला।

कृ धातु से 'ण्वुल्' प्रत्यय होने पर स्त्रीत्वविवक्षा में टाप् होता है तथा 'प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः' ४६४ से इकार होने पर कारिका रूप होता है।

कृ धातु से तृच् प्रत्यय में स्त्रीलिङ्ग में कर्तृ शब्द से 'ङीप्' प्रत्यय 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' ३०६ से होता है तथा यण् होने पर कर्त्री शब्द बनता है और प्रातिपदिकसंज्ञा करके सु विभक्ति में कर्त्री पद बनता है।

इसी प्रकार कुट् धातु से 'तृच्' होने पर कुटिता तथा 'ण्वुल्' होने से कोटकः पद बनता है। दा धातु से 'ण्वुल्' करने पर दायकः एवं 'तृच्' करने पर दाता पद सिद्ध होता है।

२८९६। नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः ३।१।१३४।

प्रकृत सूत्र कृदन्त प्रकरण में कृत्प्रत्ययों का विधान करता है। यहाँ 'धातोः' २८२९ का अधिकार आता है तथा धातुओं के साथ प्रत्ययों का यथासंख्य अन्वय होता है। अतः इस सूत्र की वृत्ति में कहा गया है—

नन्द्यादेर्ल्युर्ग्रह्यादेर्णिनिः पचादेरच् स्यात्।

अर्थात् नन्द आदि धातु से ल्यु प्रत्यय, ग्रह् आदि से णिनि प्रत्यय तथा पच् आदि धातुओं से अच् प्रत्यय होते हैं। 'कर्तरि कृत्' २८३२ के अनुसार ये प्रत्यय कर्ता अर्थ में होते हैं। इस सूत्र के उदाहरण हैं—नन्दनः, जनार्दनः, ग्राही, मन्त्री, पचः आदि।

'टुनदि समृद्धौ' ६९ धातु से नन्दयति इस विग्रह में प्रकृत सूत्र से 'ल्यु' प्रत्यय होने पर 'युवोरनाकौ' १२४९ से 'यु' का 'अन' आदेश होने पर नन्दनः प्रयोग बनता है ।

गृह्णाति इस विग्रह में ग्रह् धातु से 'णिनि' प्रत्यय करने पर 'णित्' के कारण वृद्धि होने पर ग्राहिन् शब्द से सु विभक्ति में ग्राही पद सिद्ध होता है ।

पचति इस विग्रह में पच् धातु से 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' २८९६ से 'अच्' प्रत्यय होने पर पचः प्रयोग बनता है ।

'शिवसमरिष्टस्य करे' ३४८९ एवम् 'कर्मणि घटोऽठच्' १८३६—इन सूत्रों से 'कृ' एवं 'घट' से 'अच्' प्रत्यय आता है । इससे सिद्ध होता है कि पचादि आकृतिगण है ।

२८९७ । इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः ३।१।१३५ ।

प्रकृत सूत्र कृदन्त प्रकरण में 'क' प्रत्यय का विधायक है । 'क' प्रत्यय कृत्संज्ञक है । अतः 'कर्तरि कृत्' २८३२ से कर्ता अर्थ में यह प्रत्यय होता है । यहाँ 'धातोः' २८२९ का अधिकार आता है । अतः इसकी वृत्ति में कहा गया है—

एभ्यः कः स्यात् ।

अर्थात् इक् (इ, उ, ऋ, ऌ) जिनकी उपधा में हो ऐसे धातुओं से तथा ज्ञा, प्री एवं कॄ धातुओं से कर्ता अर्थ में 'क' प्रत्यय होता है । यथा—

बुध् + कः = बुधः
कृश् + कः = कृशः
क्षिप् + कः = क्षिपः

इसी प्रकार ज्ञा धातु से 'क' प्रत्यय में=ज्ञः,
प्री धातु से 'क' प्रत्यय में–प्रियः,
कॄ या किर् धातु से 'क' प्रत्यय में किरः आदि प्रयोग होते हैं ।

'क' प्रत्यय में 'क्' की इत्संज्ञा होती है और 'अ' बचता है । इसलिये इस प्रत्यय के कित् होने के कारण बुधः, कृशः आदि प्रयोगों में 'पुगन्तलघूपधस्य च' २१८९ से प्राप्त गुण का 'क्ङिति च' २२१७ से निषेध हो जाता है ।

यह 'क' प्रत्यय 'ण्वुल्' एवं 'तृच्' का अस्वरूप प्रत्यय है । इसलिये अपवाद होने पर भी 'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्' २८३० के अनुसार विकल्प से ही उनका बाधक होता है । अतः बुध धातु से 'ण्वुल्' होने पर बोधकः एवम् 'तृच्' होने पर बोद्धा रूप बनता है ।

इसी प्रकार क्षिप धातु से 'ण्वुल्' एवं 'तृच्' प्रत्यय होने पर क्रमशः क्षेपकः और क्षेप्ता पद बनते हैं ।

२८९८ । आतश्चोपसर्गे ३।१।१३६ ।

व्याख्येय सूत्र कृदन्तप्रकरण में 'क' प्रत्यय का विधान करता है । यहाँ 'धातोः' २८२९ का अधिकार आता है तथा 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' २८९७ से 'कः' की अनुवृत्ति होती है ।

अतः इस सूत्र का अर्थ होता है कि उपसर्ग के उपपद रहने पर आकारान्त धातु से 'क' प्रत्यय होता है। 'क' प्रत्यय कृत्संज्ञक है। अतः 'कर्तरि कृत्' २८३२ से कर्ता अर्थ में यह प्रत्यय होता है। इसका उदाहरण है—सुग्लः,प्रज्ञः आदि।

सुष्ठु ग्लायति इस विग्रह में 'सु' उपसर्ग पूर्वक ग्ला धातु से कर्ता अर्थ में प्रकृत सूत्र से 'क' प्रत्यय होने पर 'आतो लोपः' से 'आ' का लोप होने पर सुग्ल शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा करके सु विभक्ति में रुत्व एवं विसर्ग के बाद सुग्लः पद सिद्ध होता है।

इसी प्रकार प्रकर्षेण जानाति—इस विग्रह में 'प्र' पूर्वक ज्ञा धातु से कर्ता अर्थ में प्रकृत सूत्र से 'क' प्रत्यय होने पर प्रज्ञः बनता है।

प्रकृत सूत्र 'श्याद्व्यधास्रुसंस्रतोण—' २९०३ से प्राप्त 'ण' प्रत्यय का अपवाद है।

२९१३। कर्मण्यण् ३।२।१।

व्याख्येय सूत्र कृत्प्रकरण में 'अण्' प्रत्यय का विधायक है। यहाँ 'धातोः' २८२९ की अनुवृत्ति होती है। सूत्र में 'कर्मणि' सप्तम्यन्त है। इसलिये 'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्' ७८२ से उपपद का बोध होता है। अतः इस सूत्र की वृत्ति में पढा गया है—

कर्मण्युपपदे धातोरण् प्रत्ययः स्यात्।

अर्थात् कर्म उपपद रहने पर धातु से अण् प्रत्यय होता है। 'अण्' प्रत्यय कृत्संज्ञक है। अतः 'कर्तरि कृत्' २८३२ के अनुसार कर्ता अर्थ में होता है। इसका उदाहरण है—कुम्भकारः।

कुम्भं करोति इस विग्रह में कर्मभूत कुम्भ उपपद रहने के कारण कृ धातु से 'अण्' प्रत्यय होता है। ऋ की वृद्धि एवं रपरत्व होकर कार शब्द बनता है। इसलिये कुम्भ ङस् कार सु इस अलौकिक विग्रह में 'उपपदमतिङ्' ७८३ से समास करने पर कुम्भकारः पद सिद्ध होता है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि कुम्भम् करोति इति कुम्भकारः की भाँति आदित्यम् पश्यतीति आदित्यदर्शः तथा हिमवन्तं शृणोतीति हिमवच्छ्रावः आदि रूप क्यों नहीं होते हैं? इसके उत्तर में कहते हैं—

आदित्यं पश्यतीत्यादावनभिधानान्न।

अर्थात् ऐसा प्रामाणिक प्रयोग नहीं मिलने के कारण नहीं होता है।

इस सूत्र के सन्दर्भ में एक वार्तिक आता है—

शीलिकामिभक्ष्याचरिभ्यो णः।

अर्थात् शीलि, कामि, भक्षि एवम् आचरि धातु से 'ण' प्रत्यय होता है। यह 'ण' प्रत्यय 'अण्' का अपवाद है। 'अण्' प्रत्यय होने पर 'टिड्ढाणञ्—' ४७१ से ङीप् हो जाता, किन्तु 'ण्' प्रत्यय होने पर ङीप् नहीं होने से मांसं शीलयते—इस विग्रह में मांसशीला प्रयोग बनता है।

२९१५ । आतोऽनुपसर्गे कः ३।२।३ ।

प्रकृत सूत्र कृदन्तप्रकरण में 'क' प्रत्यय का विधायक है। यहाँ 'कर्मण्यण्' २९१३ से 'कर्मणि' की अनुवृत्ति होती है तथा 'धातोः' २८२९ का अधिकार आता है। सूत्र में प्रयुक्त 'आतः' पद 'धातोः' २८२९ का विशेषण है। इसलिये 'येन विधिस्तदन्तस्य' २६ इस परिभाषा के अनुसार 'आत्' से आदन्त का बोध होता है। सूत्र में प्रयुक्त 'अनुपसर्गे' पद 'कर्मणि' का विशेषण है। 'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्' ७८२ के अनुसार 'कर्मणि उपपदे' ऐसा अर्थ होता है। अतः सूत्र की वृत्ति में कहा गया है—

आदन्ताद् धातोरनुपसर्गात् कर्मण्युपपदे कः स्यात्।

अर्थात् आदन्त (आकारान्त) धातु से उपसर्ग भिन्न कर्म उपपद रहने पर 'क' प्रत्यय होता है। वहाँ 'कर्मण्यण्' से 'अण्' प्रत्यय नहीं होता है। उदाहरण है—गोदः।

यहाँ गाम् ददाति—इस विग्रह में 'गो' कर्म के उपपद में रहने पर आकारान्त दा धातु से 'क' प्रत्यय 'आतोऽनुपसर्गे कः' २९१५ इससे होने पर 'आतो लोपः' २३७२ से 'आ' का लोप होकर गोदः प्रयोग होता है।

सूत्र में 'अनुपसर्गे' पढा गया है। इसलिये गां सम् ददाति—इस विग्रह में आकारान्त दा धातु से पूर्व में 'सम्' उपसर्ग रहने के कारण प्रकृत सूत्र से 'क' प्रत्यय नहीं होता है, वल्कि 'अण्' प्रत्यय होने पर 'युक्' करके गोसन्दायः प्रयोग होता है।

२९४० । फलेग्रहिरात्मम्भरिश्च ३।२।२६ ।

व्याख्येय सूत्र कृदन्तप्रकरण में 'इन्' प्रत्यय का निपातन करने वाला है। यहाँ 'धातोः' २८२९ का अधिकार आता है तथा 'स्तम्बशकृतोरिन्' २९३८ से 'इन्' की अनुवृत्ति होती है। अतः सूत्र का अर्थ है कि 'इन्' आदि के निपातन से फलेग्रहिः एवम् आत्मम्भरिः प्रयोग सिद्ध होते हैं।

फलानि गृह्णाति— इस विग्रह में फल पूर्वक ग्रह् धातु से एदन्त एवम् 'इन्' प्रत्यय का निपातन प्रकृत सूत्र से होने पर फलेग्रहिः प्रयोग सिद्ध होता है।

इसी प्रकार आत्मानं बिभर्ति इस विग्रह में आत्मन् उपपद भृ धातु से 'मुम्' का आगम तथा 'इन्' प्रत्यय के निपातन प्रकृत सूत्र से होने पर आत्मम्भरिः प्रयोग सिद्ध होता है।

सूत्र में 'च' के ग्रहण के कारण इन दोनों के अतिरिक्त कुछ और प्रयोग भी इसी तरह बनते हैं। जैसे—कुक्षिम् बिभर्ति इस विग्रह में कुक्षिम्भरिः प्रयोग भी उसी प्रकार निपातन से सिद्ध होता है।

चान्द्र व्याकरण वाले तो 'आत्मोदरकुक्षिषु'—इस तरह कुक्षि का भी सूत्र में ही निर्देश कर पाठ करते हैं।

२९५१ । असूर्यललाटयोर्दृशितपोः ३।२।३६ ।

कृदन्त प्रकरण में 'खश्' प्रत्यय का विधान यह सूत्र करता है। यहाँ 'धातोः' २८२९ का अधिकार आता है तथा 'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्' ७८२ से 'उपपदम्' एवम् 'एजेः खश्' २९४१ से 'खश्' की अनुवृत्ति होने पर इस सूत्र का अर्थ है कि असूर्य उपपद दृश् धातु से तथा ललाट उपपद तप धातु से 'खश' प्रत्यय इस सूत्र से होता है। यहाँ न सूर्यः = असूर्यः इस विग्रह में नञ् के साथ सूर्य का असमर्थ समास है क्योंकि 'नञ्' का दृश् धातु से सम्बन्ध है, सूर्य के साथ सम्बन्ध नहीं है। 'समर्थः पदविधिः' ६४८ इस परिभाषा के रहने पर भी सूत्र में निर्देश के कारण असमर्थ समास हुआ है।

सूर्यं न पश्यन्ति इस विग्रह में असूर्य उपपद दृश् धातु से प्रकृत सूत्र से 'खश्' प्रत्यय होता है। 'खश्' के शित् होने के कारण 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' ३१६३ से सार्वधातुकसंज्ञा होने के कारण 'प्राघ्राध्मास्था—'२३६० से 'दृश्' का 'पश्य' आदेश हो जाता है और 'खश्' प्रत्यय के खित् होने के कारण 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' २९४२ से 'मुम्' का आगम होने पर स्त्रीलिङ्ग में 'असूर्यम्पश्या' रूप बनता है।

इसी तरह ललाटं तपति— इस विग्रह में प्रकृत सूत्र से 'खश्' प्रत्यय होने पर 'मुम्' के आगम तथा परसवर्ण के बाद 'ललाटन्तप' शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा कर सु विभक्ति के आने पर रुत्व एवं विसर्ग के बाद ललटन्तपः प्रयोग बनता है।

२९५३ । प्रियवशे वदः खच् ३।२।३८ ।

प्रकृत सूत्र सिद्धान्त कौमुदी के कृत्प्रकरण में खच्-प्रत्यय-विधायक है। यहाँ 'धातोः' २८२९ का अधिकार आता है तथा 'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्' ७८२ से 'उपपदम्' की अनुवृत्ति होती है। अतः इस सूत्र का अर्थ है कि प्रिय एवं वश उपपद रहने पर वद् धातु से खच् प्रत्यय होता है। 'कर्तरि कृत्' २८३२ के अनुसार 'खच्' प्रत्यय कृत्प्रत्यय है और कर्ता अर्थ में होता है। यथा—प्रियम्वदः, वशम्वदः।

प्रियम् वदति इस विग्रह में प्रिय उपपद वद् धातु से 'खच्' प्रत्यय 'प्रियवशे वदः खच्' २९५३ से होता है। इसमें 'ख्' एवं 'च्' की इत्संज्ञा होने के कारण खित् मानकर 'खित्यनव्ययस्य' २९४३ एवम् 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' २९४२ से 'मुम्' का आगम होने पर 'उ' तथा 'म्' की इत्संज्ञा एवं लोप होने पर प्रियम्वद शब्द से सु विभक्ति में प्रियम्वदः पद बनता है। इस सन्दर्भ में एक वार्तिक है—

गमेः सुपि वाच्यः।

इसका अर्थ है कि सुप् उपपद रहने पर गम् धातु से खच् प्रत्यय होता है। यथा—मितं गच्छति इस विग्रह में 'मितम्' इस सुबन्त पद के उपपद में रहने के कारण गम् धातु से खच् प्रत्यय होने पर खित् के होने कारण 'मुम्' का आगम होने से मितङ्गमः प्रयोग बनता है।

दूसरा वार्तिक है—

'विहायसो विह इति वाच्यम् ।'

'खच् च डिद्वा वाच्यः ।'

अर्थात् 'विहायस्' के स्थान में 'विह' आदेश होता है एवम् गम् से विहित खच् डित् विकल्प से होता है।

इसका उदाहरण है—विहङ्गः, विहङ्गमः । भुजङ्गः, भुजङ्गमः ।

२९६९ । लक्षणे जायापत्योष्टक् ३।२।५२ ।

व्याख्येय सूत्र सिद्धान्त कौमुदी के कृदन्त प्रकरण में 'टक्' प्रत्यय का विधानकर्ता है । यहाँ 'धातोः' २८२९ का अधिकार आता है तथा 'आशिषि हनः' २९६६ से 'हनः' की अनुवृत्ति होती है । अतः सूत्र की वृत्ति इस प्रकार है—

हन्तेष्टक् स्याल्लक्षणवति कर्तरि ।

अर्थात् जाया एवं पति उपपद हन् धातु से 'टक्' प्रत्यय होता है यदि लक्षण वाले कर्ता को बताने वाला शब्द हो । 'टक्' प्रत्यय कृत्प्रकरण में है । इसलिये 'कर्तरि कृत्' २८२९ से कर्ता अर्थ में होता है । यथा—जायाघ्नः ।

जायां हन्ति इस विग्रह में जाया उपपद हन् धातु से 'टक्' प्रत्यय 'लक्षणे जाया-पत्योष्टक्' २९६९ से होता है । यहाँ पुरुष का लक्षण बताया गया है कि यह पुरुष जाया का हनन करने वाला है । इसलिये यहाँ टक् प्रत्यय हुआ और अनुबन्ध लोप के बाद 'जाया हन् अ' की स्थिति में हकार के 'अ' का लोप हुआ है तथा 'होहन्तेर्ञ्णिन्नेषु' ३५८ से न के परे रहने से हकार का घकार होकर जायाघ्नः प्रयोग सिद्ध होता है ।

इसी तरह पतिं हन्ति इस विग्रह में पति उपपद हन् धातु से 'टक्' प्रत्यय 'लक्षणे जायापत्योष्टक्' से होता है । फलतः टित् होने के कारण 'टिड्ढाणञ् द्वयसज्—' ४७१ सूत्र से स्त्रीत्व विवक्षा में 'ङीप्' प्रत्यय होने पर पतिघ्नी प्रयोग होता है ।

४३३ । स्पृशोऽनुदके क्विन् ३।२।५८ ।

प्रकृत सूत्र कृदन्त प्रकरण में 'क्विन्' प्रत्यय का विधान करता है । यहाँ धातोः २८२९ का अधिकार आता है तथा 'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्' ७८२ का सम्बन्ध है एवम् 'सुपिस्थः' २९१६ से 'सुपि' की अनुवृत्ति आती है । अतः सूत्र की वृत्ति में कहा गया है—

अनुदके सुप्युपपदे स्पृशेः क्विन् स्यात् ।

अर्थात् उदक से भिन्न सुप् उपपद रहने पर स्पृश् धातु से क्विन् प्रत्यय होता है ।

यथा—घृतस्पृक् ।

यहाँ घृतं स्पृशति इस विग्रह में घृत उपपद स्पृश् धातु से क्विन् प्रत्यय कर्ता अर्थ में 'स्पृशोनुदके क्विन्' से होता है । फलतः 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' ३७७ से 'स्पृश् के 'श्' का 'क्' आदेश हो जाता है । अतः घृतस्पृक् शब्द बनता है । 'झलां जशोऽन्ते' ८४ से जश्त्व होने पर घृतस्पृग् सिद्ध होता है ।

सूत्र में 'अनुदके' पाठ है। इसलिये उदकं स्पृशति इस विग्रह में उदक उपपद रहने के कारण स्पृश् धातु से क्विन् प्रत्यय नहीं होता है, किन्तु 'क्विप् च' २९८३ से 'क्विप्' प्रत्यय होता है। चूँकि, 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' में क्विन् प्रत्ययो यस्मात्— इस प्रकार बहुव्रीहि समास के आश्रय से क्विप् करने पर भी कुत्व हो जाता है। अतः उदकस्पृक् रूप वहाँ भी होता है।

२९८३। क्विप् च ३।२।७६।

प्रकृत सूत्र कृदन्तप्रकरण में 'क्विप्' प्रत्यय का विधायक है। कृत्प्रत्यय 'कर्तरि कृत्' २८३२ से कर्ता अर्थ में होता है। इसलिये क्विप् प्रत्यय भी कर्ता अर्थ में विहित है। यहाँ 'धातोः' २८२९ का अधिकार आता है। 'विजुपे छन्दसि' के अधिकार में पठित "आतो मनिन् क्वनिब्वनिपश्च' ३४१८ से प्रकृत सूत्र का सम्बन्ध है तथा 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' २९८० से 'अन्येभ्योऽपि' की अनुवृत्ति होती है। अतः इस सूत्र का अर्थ है कि आकारान्त धातुओं से भिन्न धातुओं से क्विप् प्रत्यय भी होता है। यथा—उखास्रत्, पर्णध्वत् आदि।

यहाँ उखायाः स्रंसते इस विग्रह में उखा उपपद स्रंस् धातु से क्विप् प्रत्यय 'क्विप् च' से कर्ता अर्थ में होता है 'अनिदिताम्' से न लोप हो जाता है तथा 'वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः' से 'स्' के स्थान में 'द' होने पर चर्त्व के बाद उखास्रत् प्रयोग होता है।

इसी प्रकार पर्णाद् ध्वंसते इस विग्रह में पर्ण उपपद ध्वंस् धातु से क्विप् प्रत्यय प्रकृत सूत्र से होने पर नकार का लोप एवं 'स्' का द् तथा उसका चर्त्व होने पर पर्णध्वत् रूप बनता है।

वाहाद् भ्रंश्यति इस विग्रह में क्विप् प्रत्यय होने पर वाहभ्रट् रूप होता है।

२९८८। सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये ३।२।७८।

यह सूत्र कृदन्त प्रकरण का है। यह 'णिनि' प्रत्यय का विधायक है। 'धातोः' २८२० का अधिकार यहाँ आता है। 'सुपिस्थः' से 'सुपि' की अनुवृत्ति करने पर काम चल जाने पर भी इस सूत्र में 'सुपि' ग्रहण किया गया है जिसके फलस्वरूप उपसर्ग के उपपद रहने पर भी 'आतोऽनुपसर्गे कः' २९१५ से 'अनुपसर्गे' की अनुवृत्ति होने लगती जिसके वारण हेतु सूत्र में 'सुपि' ग्रहण है। 'णिनि' प्रत्यय कृत्प्रकरण का है। अतः 'कर्तरि कृत्' २८२९ से कर्ता अर्थ में होता है। अतः इस सूत्र की वृत्ति में कहा है—

अजात्यर्थे सुपि धातोर्णिनिः स्यात्ताच्छील्ये द्योत्ये।

अर्थात् जाति से भिन्न अर्थ वाले सुप् के उपपद रहने पर धातु से णिनि प्रत्यय होता है यदि उससे ताच्छील्य अर्थ द्योतित होता हो। इसका उदाहरण है—उष्णभोजी।

उष्णं भोक्तुं शीलमस्य—इस विग्रह में उष्ण उपपद भुज् धातु से 'णिनि' प्रत्यय प्रकृत सूत्र से होने पर उष्णभोजी प्रयोग होता है।

सूत्र में 'अजातौ' पाठ होने के कारण ब्राह्मणानाम् आमन्त्रयिता— इस प्रयोग में

जात्यर्थक सुप् उपपद रहने के कारण णिनि प्रत्यय नहीं हुआ। सूत्र में 'ताच्छील्ये' पाठ नहीं रहने पर 'उष्णं भुङ्क्ते कदाचित्' में भी णिनि प्रत्यय होता।

इस सूत्र पर वृत्तिकार ने उपसर्ग से भिन्न सुप् उपपद रहने पर 'णिनि' प्रत्यय होता है—ऐसी व्याख्या करके उत्, प्रति, आङ् पूर्वक सृ धातु से 'णिनि' प्रत्यय होता है—ऐसा कहा है। हरदत्त, माधव आदि ने भी उसी का अनुसरण किया है। किन्तु भाष्य विरुद्ध होने के कारण उनका मत मान्य नहीं है। भाष्य में उपसर्ग या अनुपसर्ग सुबन्त के उपपद रहने पर 'णिनि' का प्रतिपादन किया गया है। कालिदास ने भी ऐसा प्रयोग किया है—'स बभूवोपजीविनामनुयायिवर्गः'। माघ का पद्य है—'पतत्यधो धाम विसारि सर्वतः'।

३०४८। लुभो विमोहने ७।२।५४।

प्रकृत सूत्र कृदन्तप्रकरण में 'क्त्वा' और 'निष्ठा' प्रत्यय परे रहने पर विमोहन या व्याकुलीकरण अर्थ वाले लुभ धातु से इट् प्रत्यय का विधान करता है।

यहाँ 'धातोः' २८२९ का अधिकार आता है तथा 'क्लिशः क्त्वानिष्ठयोः' ३०४९ से 'क्त्वानिष्ठयोः' की अनुवृत्ति होती है तथा 'वसतिक्षुधोरिट्' ३०४६ से 'इट्' की अनुवृत्ति होती है। अतः इस सूत्र की वृत्ति इस प्रकार है—

लुभः क्त्वानिष्ठयोर्नित्यमिट् स्यान्न तु गार्ध्ये।

अर्थात् आकुलीकरण अर्थ वाले 'लुभ विमोहने' १३८९ धातु से क्त्वा और निष्ठा (क्त और क्तवतु) प्रत्ययों के परे रहने पर नित्य ही इट् का आगम होता है, किन्तु गार्ध्य या लालच अर्थ वाले 'लुभ गार्ध्ये' १३१८ धातु से इट् प्रत्यय नहीं होता है।

विमोहन अर्थ में लुभ् धातु से क्त प्रत्यय करने पर प्रकृत सूत्र से इट् आने पर लुभितः प्रयोग होता है। लोभी अर्थ में 'लुभ गार्ध्ये' धातु से 'क्त' प्रत्यय में 'इट्' नहीं होने के कारण लुब्धः प्रयोग होता है।

३०५३। आदि कर्मणि क्तः कर्तरि च ३।४।७१।

यह सूत्र आदि कर्म में 'क्त' प्रत्यय का विधान करता है। यहाँ 'धातोः' २८२९ की अनुवृत्ति होती है। 'भूते क्तः' के अनुसार भूतकाल में ही 'क्त' प्रत्यय विहित है, किन्तु भूतकाल उस धातु से पूर्व में हुई क्रिया से ही सम्बन्ध रखता है। इस सूत्र से क्रिया के प्रारम्भ के कर्मों को ही भूत मानकर 'क्त' प्रत्यय का विधान किया जाता है। अतः सूत्र की वृत्ति में कहा गया है—

आदि कर्मणि यः क्तः स कर्तरि स्यात्।

अर्थात् क्रिया के आदि क्षण के कर्मों को बताने के लिये धातु से 'क्त' प्रत्यय होता है और वह कर्ता अर्थ में होता है। सूत्र में 'च' पढ़ा गया है। इसलिये वह 'क्त' प्रत्यय भाव एवं कर्म अर्थ में भी होता है। इसका उदाहरण है—

प्रस्वेदितश्चैत्रः।

अर्थात् प्रारम्यमान प्रस्वेदन क्रिया से युक्त चैत्र। यहाँ आदि कर्म में कर्ता अर्थ में 'क्त' प्रत्यय है। भाव में प्रत्यय होने पर 'प्रस्वेदितं तेन' उदाहरण है।

३०९०। नपुंसके भावे क्तः ३।३।११४।

प्रकृत सूत्र कृदन्त प्रकरण में 'क्त' प्रत्यय का विधानकर्त्ता है। इस प्रत्यय का विधान भूत के अधिकार में किया गया है। उससे भूत में 'क्त' प्रत्यय होता है। यह सूत्र काल सामान्य में 'क्त' का निर्देश करता है। यहाँ 'धातोः' २८२९ का अधिकार आता है। इस सूत्र की वृत्ति में कहा है—

क्लीबत्वविशिष्टे भावे कालसामान्ये क्तः स्यात्।

अर्थात् नपुंसकलिङ्ग से युक्त भाव अर्थ में कालसामान्य में क्त प्रत्यय होता है। इसके उदाहरण हैं—जल्पितम्, शयितम्, हसितम् आदि।

'क्तक्तवतू निष्ठा' से 'क्त' प्रत्यय भाव और कर्म में होता है। 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' २८३३ से भाव और कर्म में 'क्त' प्रत्यय का विधान है। इस सूत्र से भाव में ही 'क्त' प्रत्यय बताया गया है।

जल्प धातु से 'नपुंसके भावे क्तः' ३०९० से 'क्त' प्रत्यय होने पर 'आर्धधातुकस्येड् बलादेः' २१८४ से इट् का आगम होने पर नुपुंसकलिङ्ग में जल्पितम् प्रयोग बनता है।

इसी प्रकार शीङ् धातु से क्त प्रत्यय में शयितम् प्रयोग भाव में होता है।

तव्यत्तव्यानीयरः ३।१।९६।

व्याख्येय सूत्र कृदन्त-कृत्य प्रकरण से संकलित है। इस सूत्र में 'धातोः' २८२९ का अधिकार आता है तथा 'प्रत्ययः परश्च' का अधिकार है। अतः इस सूत्र की वृत्ति में कहा है—

धातोरेते प्रत्ययाः स्युः। तकाररेफौ स्वरार्थौ।

अर्थात् धातु से पर में तव्यत्, तव्य और अनीयर् प्रत्यय होते हैं। 'तव्यत्' में 'त्' और 'अनीयर्' में 'र्' ये दोनों स्वर-विधान के लिये दिये गये हैं। 'त्' की इत्संज्ञा होने से 'तित्स्वरितम्' से स्वरित स्वर हो जाता है और 'र्' की इत्संज्ञा होने के कारण 'उपोत्तमं रिति' से मध्योदात्त स्वर होता है। निरनुबन्धक 'तव्य' प्रत्यय में आद्युदात्त होता है। 'तव्यत्' और 'तव्य' के रूप समान होते हैं।

'कृत्याः' के अधिकार में ये प्रत्यय पढे गये हैं इसलिये ये कृत्यप्रत्यय कहलाते हैं। 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' के अनुसार कृत्य प्रत्यय क्त प्रत्यय तथा खलर्थ प्रत्यय भाव एवं कर्म में ही होते हैं। इसलिये सकर्मक धातु से ये प्रत्यय कर्म में तथा अकर्मक धातु से भाव में होते हैं।

एध धातु अकर्मक है। इसलिये उससे भाव में 'तव्यत्' या 'तव्य' होने पर आर्धधातुकं शेषः' से 'तव्यत्' की आर्धधातुकसंज्ञा होने पर 'आर्धधातुकस्येड् बलादेः २१८४ से 'इट्' प्रत्यय होने पर एधितव्य शब्द को प्रातिपदिकसंज्ञा के बाद सु विभक्ति के आने पर अमादेश कर एधितव्यम् प्रयोग होता है।

यहाँ भाव में प्रत्यय है। 'भावे औत्सर्गिकमेकवचनं क्लीबत्वञ्च' इस वचन के अनुसार भाव नित्य नपुंसक तथा एकवचन होता है। इसलिये 'त्वया एधितव्यम्' यह प्रयोग होता है।

सकर्मक चि धातु से 'तव्यत्' प्रत्यय होने पर चेतव्यः प्रयोग होता है। यहाँ कर्म में प्रत्यय हुआ है। इसलिये कर्म के अनुसार लिङ्ग वचन आदि होते हैं। अतः वाक्य है—चेतव्यः धर्मस्त्वया। इसी तरह 'अनीयर्' प्रत्यय में 'चयनीयः ग्रन्थः' आदि प्रयोग होते हैं।

३०९७। भाषायां सदवसश्रुवः ३।२।१०८।

यह सूत्र भाषा में लिट् के स्थान में 'क्वसु' प्रत्यय का विधानकर्ता है। यहाँ 'धातोः' २८२९ का अधिकार आता है तथा छन्दसि के अधिकार में पठित 'लिटः कानज्वा' ३०९४ एवम् 'क्वसुश्च' ३०९५ से प्रकृत सूत्र का सम्बन्ध है। अतः इस सूत्र की वृत्ति इस प्रकार है—

सदादिभ्यो भूतसामान्ये भाषायां लिड् वा स्यात् तस्य च नित्यं क्वसुः।

अर्थात् भाषा में सद्, वस् एवं श्रु धातुओं से सामान्य भूत में लिट् लकार विकल्प से होता है तथा लिट् के स्थान में क्वसु प्रत्यय नित्य होता है। इसके उदाहरण हैं—

निषेदुषीम्, अध्यूषुषः आदि।

यहाँ नि पूर्वक सद् धातु से सामान्य भूत में लिट् लकार प्रकृत सूत्र से हुआ है। लिट् होने पर 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' २१७७ से द्वित्व होता है और एत्व तथा अभ्यासलोप के बाद 'निसेद' की स्थिति में 'भाषायां सदवसश्रुवः' ३०९७ से लिट् के स्थान में क्वसु प्रत्यय होने पर 'वसोः सम्प्रसारणम्' ४३६ से 'व' का 'उ' सम्प्रसारण होने पर षत्व के बाद प्रातिपदिकादि कार्य होने पर स्त्रीलिङ्ग में निषेदुषीम् प्रयोग बनता है।

इसी प्रकार अधि पूर्वक वस् धातु से लिट् एवं क्वसु तथा तत्सम्बन्धी सम्प्रसारण आदि कार्य होने पर अध्यूषुषः रूप होता है।

इसी तरह श्रु धातु से लिट् एवं क्वसु प्रत्यय होने पर द्वित्व आदि कार्य होने के बाद शुश्रुवान् प्रयोग सिद्ध होता है।

३०९९। विभाषा गमहनविदविशाम् ७।२।६८।

व्याख्येय सूत्र कृदन्त प्रकरण में विकल्प से 'इट्' प्रत्यय का विधान करता है। यहाँ 'धातोः' २८२९ का अधिकार आता है तथा 'गमेरिट् परस्मैपदेषु' २४०१ से 'इट्' की अनुवृत्ति होती है एवम् 'वस्वेकाजाद्घसाम्' ३०९६ से 'वसु' का सम्बन्ध होता है। अतः इस सूत्र की वृत्ति में कहा गया है—

एभ्यो वसोरिड् वा।

अर्थात् गम्, हन्, विद् एवं विश् धातुओं से वसु के विकल्प से इट् का आगम होता है। जैसे गम् धातु से जग्मिवान् और इट् नहीं होने पर जगन्वान् रूप होते हैं।

गम् धातु से 'वसु' प्रत्यय करने पर द्वित्व आदि कार्य के बाद 'विभाषा गमहनविद-विशाम्' ३०९९ से विकल्प से इट् का आगम होने पर जग्मिवान् और पक्ष में जगन्वान् प्रयोग होता है।

हन् धातु से वसु प्रत्यय करने पर द्वित्व आदि कार्य होने पर 'विभाषा गमहन-विदविशाम्' ३०९९ से इट् का आगम होने पर जघ्निवान् प्रयोग होता है। पक्ष में इट् का आगम नहीं होने पर जघन्वान् पद बनता है।

इसी प्रकार विद् धातु से विविदिवान् और विविद्वान् दोनों रूप होते हैं।

३१०३। लक्षणहेत्वोः क्रियायाः ३।२।१२६।

यह सूत्र कृदन्त प्रकरण में 'शतृ' एवं 'शानच्' प्रत्यय का विधान करने वाला है। यहाँ 'लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे' ३१०० की अनुवृत्ति होती है। 'धातोः' २८२९ का अधिकार आता है। अतः इस सूत्र की वृत्ति में कहा गया है—

क्रियायाः परिचायके हेतौ चार्थे वर्तमानाद् धातोर्लटः शतृशानचौ स्तः।

अर्थात् क्रिया के लक्षण एवं हेतु अर्थ में वर्तमान धातु से लट् के स्थान में 'शतृ' एवं 'शानच्' प्रत्यय होते हैं। यथा—'शयाना भुञ्जते यवनाः।' यहाँ सोते हुए भोजन करना यवनों का लक्षण है। लक्षण अर्थ में शीङ् धातु से लट् के स्थान में 'शानच्' प्रत्यय 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' से होता है। 'श्' एवं 'च्' की इत्संज्ञा एवं लोप के बाद शयान शब्द से प्रातिपदिकादि कार्य के बाद शयानाः पद सिद्ध होता है।

इसका दूसरा उदाहरण है—अर्जयन् वसति।

वसने का हेतु यहाँ अर्जन है। इसलिये अर्ज धातु से लट् के स्थान में 'शतृ' प्रत्यय प्रकृत सूत्र से होने पर अर्जयन् प्रयोग होता है।

यहाँ सूत्र में 'हेतु' शब्द फल एवं कारण—दोनों का वाचक है। वसने का फल अर्जन है। इसलिये वह हेतु है। इसी तरह कारण का उदाहरण है—प्रपीयमाणः सोमः।

यहाँ प्र उपसर्ग पूर्वक पा धातु से कर्म में प्रत्यय होने पर प्रपीय बनता है। प्रकृत सूत्र के द्वारा प्रपीय से शानच् होने पर प्रपीयमाणः पद बना है।

यहाँ यज्ञ का कारण सोम है जो पिया जा रहा है। अतः हेतु मानकर इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है।

३१४८। सनाशंसभिक्ष उः ३।२।१६८।

व्याख्येय सूत्र कृदन्त प्रकरण में 'उ' प्रत्यय का विधान करता है। यहाँ 'धातोः' २८२९ का अधिकार आता है। 'कर्तरि कृत्' २८३२ के अनुसार 'उ' प्रत्यय कर्ता अर्थ में होता है। इसलिये सूत्रार्थ है कि सन् प्रत्ययान्त एवम् आङ् पूर्वक शंस् तथा भिक्ष धातुओं से कर्ता अर्थ में 'उ' प्रत्यय होता है। यथा—चिकीर्षुः।

यहाँ कर्तुमिच्छति इस विग्रह में कृ धातु से 'सन्' प्रत्यय होने पर बने चिकीर्ष से कर्ता अर्थ में 'सनाशंसभिक्ष उः' ३१४८ से 'उ' प्रत्यय होने पर चिकीर्षुः पद बनता है।

इसी प्रकार आङ् उपसर्ग पूर्वक शंस् धातु से प्रकृत सूत्र से 'उ' प्रत्यय होने पर आशंसुः प्रयोग बनता है।

भिक्ष धातु का उदाहरण है—भिक्षुः। यहाँ भिक्षते इस विग्रह में भिक्ष धातु से 'उ' प्रत्यय कर्ता अर्थ में प्रकृत सूत्र से होने पर भिक्षुः रूप बनता है।

३१५८। अन्येभ्योऽपि दृश्यते ३।२।२७८।

प्रकृत सूत्र कृदन्त प्रकरण में क्विप् प्रत्यय का विधायक है। इस सूत्र में 'भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जिपॄजुग्रावस्तुवः क्विप्' ३१५७ की अनुवृत्ति होती है तथा 'आक्वेस्तच्छील-तद्धर्मतत्साधुकारिषु' का ग्रहण होता है। अतः प्रकृत सूत्र का अर्थ है कि 'भ्राजभास—' ३१५७ में पढे गये धातुओं से भिन्न धातुओं से भी तच्छील, तद्धर्म एवं तत्साधुकारि अर्थ में क्विप् प्रत्यय होता है। यथा—छिद्, भिद् आदि।

छिद् धातु से 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' ३१५८ से क्विप् प्रत्यय होने पर क्विप् लोप के बाद छित् एवं भिद् धातु से क्विप् प्रत्यय होने पर भिद् शब्द बनता है। 'कर्तरि कृत्' २८३२ से क्विप् प्रत्यय कर्ता अर्थ में होता है अतः छित् का अर्थ है—छेदन करने वाला तथा भिद् का अर्थ है भेदन करने वाला।

इस सूत्र में दृश् धातु का ग्रहण अन्य विधियों के उपसंग्रह के लिये किया गया है। इसलिये कहीं दीर्घ, कहीं सम्प्रसारण का अभाव, कहीं द्वित्व और कहीं ह्रस्व भी होते हैं। वार्तिककार ने कहा है—

क्विब्वचिप्रच्छ्यायतस्तुकटप्रुजुश्रीणां दीर्घोऽसम्प्रसारणं च।

यथा—वच् धातु से वक्ति—इस अर्थ में क्विप् प्रत्यय करने पर दीर्घ होकर वाक् प्रयोग बनता है। पृच्छतीति प्राट् तथा श्रयति हरिम् इति श्रीः आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं।

'द्युतिगमिजुहोतीनां द्वे च' यह वार्तिक यहाँ पढा गया है। 'दृशि' ग्रहण के कारण अभ्यास संज्ञा होने पर द्वित्व एवं सम्प्रसारण आदि के बाद दिद्युत् प्रयोग बनता है।

गच्छतीति विग्रह में गम् धातु से क्विप् प्रत्यय होने पर द्वित्व आदि के बाद जगत् प्रयोग सिद्ध होता है।

इति डॉ० रामविलास चौधरी-विरचितायां सिद्धान्तकौमुदीव्याख्यायां ध्रुवविलासिन्यां कृदन्तप्रकरणस्य महत्त्वपूर्ण सूत्राणां व्याख्या परिपूर्णा।

सिद्धान्तकौमुद्याः

(आत्मनेपद-परस्मैपद-कृदन्तकृत्यप्रक्रियान्तर्गतानाम्)

अकारादिक्रमसूत्राणां सूची

क्रमाङ्क	सूत्र	सूत्राङ्क
४९	कर्तरि कृत्	२८३२
५०	कर्तृस्थे चाशरीरे	२७१०
५१	कृत्यचः	२८३५
५२	कृत्यल्युटो बहुलम्	२८४१
५३	कृत्याः	२८३१
५४	क्रतौ कुण्ड	२८९१
५५	क्रीडोऽनुसम्	२६८७
५६	गदमदचरश्चा	२८४८
५७	गन्धनावक्षेपण	२७०५
५८	गृधि वञ्च्योः	२७३९
५९	चजोः कुघिण्यतोः	२८६३
६०	चित्याग्निचित्ये	२८९३
६१	ज्ञाश्रुस्मृदृशां	२७३१
६२	णेरणौ यत्कर्म	२७३८
६३	णेर्विभाषा	२८३६
६४	ण्य आवश्यके	२८८१
६५	तयोरेव कृत्यक्त	२८३३
६६	तव्यत्तव्यानीयरः	२८३४
६७	दाणश्च सा	२७२८
६८	धातोः	२८२९
६९	न क्वादेः	२८७५
७०	न गतिहिंसार्थे	२६८१
७१	न पादम्याङ्	२७५५
७२	न भाभूपूक	२८४०
७३	नानोर्ज्ञः	२७३२
७४	निगरणचलन	२७५३
७५	निसमुपवि	२७०३
७६	नेर्विशः	२६८३
७७	न्यङ्क्वादीनां	२८६४
७८	पदास्वैरिबाह्या	२८७०
७९	परिव्यवेभ्यः	२६८४

क्रमाङ्क	सूत्र	सूत्राङ्क
८०	परेर्मृषः	२७४८
८१	पाय्यासान्ना	२८९०
८२	पुष्यसिद्ध्यौ	२८६७
८३	पूर्ववत्सनः	२७३४
८४	पोरदुपधात्	२८[illegible]
८५	प्रकाशनस्थेय	२६९०
८६	प्रणाय्योऽसं	२८८९
८७	प्रत्यपिभ्यां	२८६९
८८	प्रत्याङ्भ्यां	२७३३
८९	प्रवाजानुया	२८७८
९०	प्रयोज्यनियोज्यौ	२८५४
९१	प्राद्वहः	२७४७
९२	प्रोपाभ्याम् युजे	२७३५
९३	प्रोपाभ्यां स	२७१५
९४	बुधयुधनश	२७५२
९५	भव्यगेयप्रव	२८९४
९६	भावकर्मणोः	२६७९
९७	भासनोपसम्भाषा	२७२०
९८	भिद्योद्ध्यौ	२८६६
९९	भुजन्युब्जौ पा	२८७७
१००	भुजोऽनवने	२७३७
१०१	भुवो भावे	२८५५
१०२	भृञोऽसंज्ञायाम्	२८६१
१०३	भोज्यं भक्ष्ये	२८८५
१०४	मिथ्योपपदात्	२७४०
१०५	मृजेर्विभाषा	२८६२
१०६	यजयाचरुच	२८८२
१०७	यमो गन्धने	२६९८
१०८	युग्यं च पत्रे	२८७३
१०९	राजसूयसूर्य	२८६५
११०	वचोऽशब्द संज्ञा	२८८३

आत्मनेपद प्रयोग सूची

परस्मैपद प्रयोग सूची

⁂

कृदन्ते कृत्यप्रकरण प्रयोग सूची

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली वाराणसी पटना बंगलौर मद्रास कलकत्ता

मूल्य: रु० ४८